







# BIBLIOTHECA INDICA;

## COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED UNDER THE SUPERINTENDENCE OF THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

Nos. 30, 33, 38, 39 and 41.

---

### THE KÁVYÁDARŚA OF ŚRÍ DANDIN,

EDITED, WITH A COMMENTARY, BY

PANDITA PREMACHANDRA TARKABĀGI'SĀ.

*Professor of Rhetoric in the Sanskrit College, Calcutta.*

FASCICULUS V.

CALCUTTA:

PRINTED BY C. B. LEWIS, AT THE BAPTIST MISSION PRESS.

1863.



# काव्यादर्शः ।

महाकवि श्रीदत्ताचार्यविरचितः ।

आसियाटिक्सोसाइटीसभाख्यसभासमादेशेन

गवर्नमेण्टकलिकातासंस्कृतविद्यामन्दिराभृताराधापक

श्रीप्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्यविरचित

माजिन्यप्रोमोशनीसमक्टीकाषड्हितः ।

कलिकाता राजधान्यां

मिष्ठम् प्रेषयन्ते मुद्रितः ॥

ज्ञानालयः १०८५ ॥ श्रीहास्त्रः १८६८ ॥



## भूमिका ।

—♦♦♦—

काश्चादर्शस्यास्य रचयिता किं च विकुलवर्थः श्रीदरशाचार्यः  
कस्मिन् देशे कस्मिन् काले वा जाते इति निष्ठेतुं न शक्ते किञ्च  
प्रबन्धेऽस्मिन् वैदर्भमार्गस्य नितरां प्रशंसनेन तमार्गानुसारि-  
गुणालङ्घारोदाहरणप्रदर्शनेन च दक्षिणालो विदर्भं देशोऽयमिति  
सम्भाचते 'जाते जगति वाल्मीकी' विवित्यभिधाभवत् । कवी इति  
ततोष्यासे कवयस्त्वयि दक्षिणि' इति प्राचीनपद्येन प्राचीनतरः कवि-  
वरस्यायमिति नाच सन्देहः ।

अथव कलापरिष्कृदक्षदोविचितिप्रभृतीत् सुवद्धन् प्रबन्धान् वि-  
वरन्ध, तेषु चायं काश्चादर्शा दश्कुमारचरित्यस्य गद्यकालं देशे-  
ऽस्मिन् परं प्रचरति ।

इह खलु दिविधमेवालङ्घारिकप्रस्थानभीक्ष्यते, तच्चैकं मुनिभिरप-  
दिष्टं प्राचीनं येन भोजराजप्रभृतयः समचरन्त, अन्यदभिग्रह-  
गुमादिभिरङ्घावितमभिनवं येन च ममटभद्रप्रभृतयः प्रतिष्ठिरे ।

अथ तु प्राचीनमेव प्रस्थानमास्याय यग्नस्ता गुणालङ्घारादय-  
स्तथा निरूपिताः यथास्मिन्प्रधनीनानां नवीनपदवी चर्हमदुर्गमेव  
प्रतिभाति ।

प्राचीनतरस्यास्य यस्य सुपरिशुद्धपूलकं प्रायेव दुष्प्रापमा-  
सीदिति कलिकातासंस्कृतविद्यामन्दिराधक्षेवाधक्षीकृतसंस्कृतशास्त्र-  
कलाप्रेन श्रीमता काश्चादेलसाहेबेन वाराणस्यादिदेशतः कृतिचित्  
पुस्तकान्वानाय मे दक्षानि, मया च तानि समाक्षोष्य सम्यग्विविष्य  
च यथामति परिशेषितोऽयं प्रबन्धो मन्ये मुदमाध्यास्यति सहदयाना-  
मिति ।

श्रीप्रेमचन्द्र इर्मा ।



## काव्यादर्श

प्रथमपरिच्छेदस्य निर्धन्पत्रम्।

	इष्टाङ्कः	सोकाङ्कः
महाकाव्यरागम् .. . . . .	१	१
वाक्सामान्यस्य प्रशंसा .. . . .	३	३
काथस्य प्रशंसा .. . . . .	५	५
दुष्काथस्य निष्ठा .. . . . .	६	६
काथमीमांसाशास्त्रज्ञानस्यावध्यकात्मम् .. . . .	८	८
काथस्य प्रजात्युत्तिः प्रयोगनम् .. . . .	८	८
काथलक्षणम् .. . . . .	१०	
काथभेदाः .. . . . .	११	११
महाकाथलक्षणम् .. . . . .	१४	१४
मध्यकाथभेदाः .. . . . .	२३	२३
मिश्रकाथभेदाः .. . . . .	२५	२५
काथस्य संस्कृतादिभेदान्तराणि .. . . .	३०	३०
कथावृहत्पठयोर्भाषाविवेकः .. . . .	३५	३५
रीतिषु वैदर्भीगौच्याविवेकः .. . . .	३७	४०
स्त्रिवादिगुणाः .. . . . .	३८	४१
स्त्रीघर्णस्य लक्षणम् .. . . . .	३९	४३
प्रसादगुणस्य लक्षणम् .. . . . .	४२	४५
समतागुणस्य लक्षणम् .. . . . .	४	४७
माधुर्यगुणस्य लक्षणम् .. . . . .	४८	५१
प्रसङ्गादनुप्रासनिरूपणम् .. . . . .	५२	५५
यमकलक्षणम् .. . . . .	५६	५६
यामात्वस्य माधुर्यप्रतिबन्धकात्मम् .. . . .	५८	६१

	प्रकाशः	साकाशः
सौकुमार्यगुणस्य लक्षणम् .. .. ..	६६	६६
अर्थशक्तिगुणस्य लक्षणम् .. .. ..	७८	७१
उदारत्वगुणस्य लक्षणम् .. .. ..	७२	७५
ओजोगुणस्य लक्षणम् .. .. ..	७४	८०
कान्तिगुणस्य लक्षणम् .. .. ..	७८	८५
समाधिगुणस्य लक्षणम् .. .. ..	८१	८६
काश्यम् कारणानि .. .. .. ..	८१	१०३
प्रथमपरिच्छेदसमाप्तिः .. .. .. ..	८४	—

### द्वितीयपरिच्छेदस्य निर्धारपत्रम्।

द्वितीयपरिच्छेदारम्; अलङ्कारसामान्यलक्षणम्	८६	१
अर्थालङ्कारविभागः .. .. .. ..	१००	८
खभावांकिः .. .. .. ..	१०१	८
उपमासामान्यलक्षणम् .. .. .. ..	१०५	१४
धर्मोपमा .. .. .. .. ..	१०७	१५
वक्तृपमा .. .. .. .. ..	११०	१६
विपर्यासोपमा .. .. .. .. ..	११०	१७
अन्योन्योपमा .. .. .. .. ..	११३	१८
नियमोपमा .. .. .. .. ..	११९	१८
अनियमोपमा .. .. .. .. ..	११२	२०
समुच्चयोपमा .. .. .. .. ..	११५	२१
अतिशयोपमा .. .. .. .. ..	१११	२२
उत्तेक्ष्णितोपमा .. .. .. .. ..	११४	२३
अद्वृतोपमा .. .. .. .. ..	११०	२४
मोहोपमा .. .. .. .. ..	११५	२५
संशयोपमा .. .. .. .. ..	११५	२६
निर्णयोपमा .. .. .. .. ..	११६	२७

		इष्टाङ्कः	शाकाङ्कः
स्त्रीप्रोपमा	.. .. .. .. .. ..	११६	४८
समानोपमा	.. .. .. .. .. ..	११७	४८
गिर्वायपमा	.. .. .. .. .. ..	११८	५०
प्रश्नोपमा	.. .. .. .. .. ..	११९	५१
आचिख्यासोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२०	५२
विरोधोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२१	५३
प्रतिविधोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२२	५४
चटूपमा	.. .. .. .. .. ..	१२०	५५
तन्त्राख्यानोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२०	५६
असाधारणोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२०	५७
अभूतोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२१	५८
असम्भावितोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२२	५९
बहूपमा	.. .. .. .. .. ..	१२२	६०
विकियोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२२	६१
मालोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२३	६२
वाक्यार्थोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२४	६३
प्रतिवल्लयपमा	.. .. .. .. .. ..	१२५	६४
तुल्ययोगोपमा	.. .. .. .. .. ..	१२७	६५
इतूपमा	.. .. .. .. .. ..	१२७	६८
उपमादोषविचारः	.. .. .. .. .. ..	१२८	६०
उपमाबोधकशब्दाः	.. .. .. .. .. ..	१२९	६१
रूपकसामान्यलक्षणम्, समक्षरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१२५	६६
व्यक्तरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१२६	६७
समक्षव्यक्तरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१२०	६८
सक्षरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१८०	६०
अवयवरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१८१	६२
अवयविरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१८२	६३
एकाङ्गादिरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१८३	६४
युक्तरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१८३	६७
अयुक्तरूपकम्	.. .. .. .. .. ..	१८४	६८

		रुपालः	साकाशः
विषमरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१८८	७५
सविशेषरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१९५	८१
विहङ्गरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१८५	८१
हेतुरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१८६	८१
शिष्टरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१८७	८०
उपमारूपकम् विरकरूपके ..	.. .. .. .. ..	१८०	८४
आचेपरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१८८	८१
समाधानरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१८६	८२
रूपकरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१८८	८१
तत्त्वापकवरूपकम् ..	.. .. .. .. ..	१५०	६४
दीपकम् .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१५२	६०
मालादीपकम् .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१५८	१००
विहङ्गार्थदीपकम् .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१५८	१०८
रक्षार्थदीपकम् .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१६०	१११
शिष्यार्थदीपकम् .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१६१	१११
आदत्तिस्तद्देवाः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१६२	११६
आचेपक्षद्देवाः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१६४	१२०
धर्माचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१६८	१२०
धर्माचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१६८	१२८
कारणाचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१६०	१११
कार्याचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१७१	११४
अनुज्ञाचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१७१	११५
प्रभुत्वाचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१७१	११०
स्वानदराचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१७१	११६
आशीर्वचनाचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१०४	१०१
पदधाचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१०५	१०५
साचिवाचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१०५	१०५
यत्राचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१०६	१००
परवशाचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१०७	१०८
उपायाचेपः .. .. .. .. ..	.. .. .. .. ..	१०८	१०३

		इष्टाङ्कः	स्रोकाङ्कः
रोधाचेपः	.. .. .. .. .. ..	१७८	१५६
मृच्छाचेपः	.. .. .. .. .. ..	१७९	१५५
अनुकोशाचेपः	.. .. .. .. .. ..	१७९	१५७
शिथाचेपः	.. .. .. .. .. ..	१८०	१५८
अनुशयाचेपः	.. .. .. .. .. ..	१८१	१६१
संशयाचेपः	.. .. .. .. .. ..	१८२	१६३
अर्थान्तराचेपः	.. .. .. .. .. ..	१८२	१६५
हृत्वाचेपः	.. .. .. .. .. ..	१८२	१६७
अर्थान्तरन्यासः	.. .. .. .. .. ..	१८३	१६८
अर्थान्तरन्यासभेदाः	.. .. .. .. .. ..	१८५	१७०
व्यतिरेकः	.. .. .. .. .. ..	१८६	१८०
ग्रक्षय्यतिरेकः	.. .. .. .. .. ..	१८०	१८१
उभयय्यतिरेकः	.. .. .. .. .. ..	१८१	१८३
सञ्चेषय्यतिरेकः	.. .. .. .. .. ..	१८३	१८५
सांक्षेपसंचतुर्यतिरेकी	.. .. .. .. .. ..	१८२	१८६
प्रतीयमानसाहश्यय्यतिरेकः	.. .. .. .. .. ..	१८३	१८८
सदृश्यतिरेकभेदान्तराणि	.. .. .. .. .. ..	१८४	१८२
विभावना	.. .. .. .. .. ..	१८८	१८८
समासाक्षिः	.. .. .. .. .. ..	२०३	२०५
समासाक्षिभेदाः	.. .. .. .. .. ..	२०६	२०८
अपूर्वसमासाक्षिः	.. .. .. .. .. ..	२०६	२१२
अतिशयोक्तिः	.. .. .. .. .. ..	२१०	२१४
अतिशयोक्तिप्रशंसा	.. .. .. .. .. ..	२१०	२२०
उत्पादा	.. .. .. .. .. ..	२१४	२२१
उत्प्रेक्षायज्ञकश्वदा:	.. .. .. .. .. ..	२२४	२३४
हतुक्तद्वेदाः	.. .. .. .. .. ..	२२५	२३५
स्त्रियः	.. .. .. .. .. ..	२३६	२६०
लेशः	.. .. .. .. .. ..	२४२	२६५
क्रमः	.. .. .. .. .. ..	२४६	२७३
प्रेयोरसवदूर्जखिनां लक्षणानि	.. .. .. .. .. ..	२४७	२७५

		प्रष्टाङ्गः	आकाङ्क्षः
पर्यायोक्तम् ..	.. .. .. .. ..	२६७	१६५
समाहितम् ..	.. .. .. .. ..	२६८	२६८
उदाचम् ..	.. .. .. .. ..	२७१	३००
अपहुतिः ..	.. .. .. .. ..	२७३	६०४
सेषः ..	.. .. .. .. ..	२७७	३१०
श्वेषभेदाः ..	.. .. .. .. ..	२८८	३१४
विशेषाक्तिः ..	.. .. .. .. ..	२८७	३२३
तुल्ययोगिता ..	.. .. .. .. ..	२८२	३२०
विरोधः ..	.. .. .. .. ..	२८४	३३३
अप्रस्तुतप्रशंसा ..	.. .. .. .. ..	२८८	३४०
आजस्तुतिः ..	.. .. .. .. ..	३००	३१३
निर्दर्शनम् ..	.. .. .. .. ..	३०१	३१८
सहोक्तिः परिवर्तित्वा ..	.. .. .. .. ..	३०५	३५१
चांशीः ..	.. .. .. .. ..	३०६	३५७
सङ्कीर्णम् ..	.. .. .. .. ..	३११	३५८
सङ्कीर्णभेदा ..	.. .. .. .. ..	३१३	३६०
भाविकम् ..	.. .. .. .. ..	३१५	३६१
भाविकभेदाः ..	.. .. .. .. ..	३१५	३६५
हितीयपरिच्छेदसमाप्तिः ..	.. .. .. .. ..	३१८	—

### हितीयपरिच्छेदस्य निर्घण्टपत्रम्।

हितीयपरिच्छेदारम्भः; यमकं, तङ्गेदाः, .. ..	३२०	१
गोमूत्रिकाः .. .. .. .. ..	३७५	७८
चर्जन्ममः, सर्वतोभद्रस्थ, .. .. .. .. ..	३७७	८०
खरस्यानवसुनियमाः .. .. .. .. ..	३८०	८३
प्रहेलिकाः .. .. .. .. ..	३८८	८६
प्रहेलिकास्यानानि .. .. .. .. ..	३९०	८७
समागता प्रहेलिका, वस्त्रिता प्रहेलिका .. ..	३९०	८८
चुत्कान्ता, प्रमुखिता .. .. .. .. ..	३९१	८८

		प्रष्ठांकः		आकाङ्क्षः
समानरूपा, परवा .. .. .. ..		३६२	..	१००
सङ्ग्राता, प्रकल्पिता .. .. .. ..		३६२	..	१०१
नामान्तरिता, निभृता .. .. .. ..		३६३	..	१०२
समानशब्दा, संमृद्धा .. .. .. ..		३६३	..	१०३
परिहारिका, एकचक्रवा .. .. .. ..		३६४	..	१०४
उभयचक्रवा, सङ्कोरीया .. .. .. ..		३६४	..	१०५
दोषविभागः .. .. .. ..		४०६	..	१२५
अपार्थत्वम् .. .. .. ..		४०६	..	१२८
व्यर्थत्वम् .. .. .. ..		४१०	..	१३१
एकार्थत्वम् .. .. .. ..		४१३	..	१३५
संसंशयत्वम् .. .. .. ..		४१६	..	१३६
अपक्रमः .. .. .. ..		४१६	..	१४४
ग्रन्थहीनत्वम् .. .. .. ..		४२१	..	१४८
यतिभ्रंशः .. .. .. ..		४२५	..	१५२
वृत्तभङ्गः .. .. .. ..		४२८	..	१५६
विसन्धित्वम् .. .. .. ..		४३०	..	१५८
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधाः ..		४३२	..	१६२
देशविरोधोदाहरणम् .. .. .. ..		४३४४३५	..	१६५११६६
कालविरोधोदाहरणम् .. .. .. ..		४३५	..	१६७१६८
कलाविरोधोदाहरणम् .. .. .. ..		४३७	..	१७० —
लोकविरोधोदाहरणम् .. .. .. ..		४३८	..	१७२ —
न्यायविरोधोदाहरणम् .. .. .. ..		४४०	..	१७४१७५
आगमविरोधोदाहरणम् .. .. .. ..		४४१	..	१७७१७८
देशविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .. ..		४४२	..	१८० —
कालविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .. ..		४४३	..	१८१ —
कलाविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .. ..		४४३	..	१८२ —
लोकविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .. ..		४४४	..	१८३ —
न्यायविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .. ..		४४४	..	१८४ —
आगमविरोधस्य गुणत्वम् .. .. .. ..		४४५	..	१८५ —
यन्त्रसमाप्तिः .. .. .. ..		४४६	..	—



श्रीगणेशाय नमः ।

## काव्यादर्थः ।

—/४०—

चतुर्मुखम् खामो जवन हं सबधूमम् ।  
मानसे रमता नियं सर्वजुका सरस्तो ॥ १ ॥

सर्वानर्थान् सुने कामपि सहस्रैव निर्वति तनुते ।  
वाग्देवो, तां सन्तः स्वादरवन्तः सदा भजत ॥ १ ॥  
सगुणा सालङ्कारा समदयलो पदे पदे धनिभिः ।  
सत्कविभण्ठिः सरमा कस्य न वा मानसं हरति ॥ २ ॥  
दिजश्रीप्रेमचन्द्रस्य व्याख्यानप्रोञ्चनास्ति ।  
काव्यादर्थे सुदर्शनस्त्रियः सन्तः सन्तु समुद्घुखाः ॥ ३ ॥

निखिलशास्त्रपारावारपारीणः सहदयधुरोणः कविनि-  
वहवर्यः श्रीदण्डाचार्यः केनापि काव्यरहस्यं बुभुत्सुना दृप-  
तितनयेन भृयोभृयः अविमयमनुरूधमानः, किमनया पर-  
प्रबन्धाधायनया स्वरचितमेवाभिनवमलङ्कारप्रबन्धमिममधा-  
पयेयमिति मन्यमानः काव्यादर्थनामकं काव्यालङ्कारादिनि-  
ष्टपणप्रबन्धमिमं निर्माय तमधाययामासेति किंवदन्तो ।

तच तावत् सदाचारपरिपालनमनुव्यानः सरस्तथा  
मनमलस्त्रयं मङ्गलमाचरति । चतुर्मुखेति । सरस्तो वाक्-

स्वरूपा भगवतो विष्णोर्मूर्च्छिर्मम मानसे चित्ते अथ च सरो  
 विशेषे नित्यं सर्वदा रमतां विहरतु, मम मानस-  
 ज्ञानविषयीभूता सती विलसित्यर्थः । ननु भगवत्यदोपा  
 सदोषा चानुभूयते तत्र सदोषाया मानसस्विहितलप्रार्थन-  
 मनुचितमिति विशेषणाभ्यां तां विग्रहेण, चतुर्मुखो ब्रह्मा  
 तस्य मुखान्येत्र अस्मोजानि तेषां वनं ममूः, दृक्षादिसमष्टा-  
 वेत्र वनशब्दस्य रुठलात् तदवच्छिन्नप्रदेशे तु साक्षणिकवात्,  
 तत्र हंसवधूर्हंसोव, ब्रह्ममुखास्मोजनिहारिणी वेदादिरूपा  
 सरस्वतो यथा परिशुद्धा तादृक् सरस्वती मे मानसस्विहिता  
 भवतु न तु हालिकादिमुखदमतिः सदोषति भावः । अतएव  
 सर्वगुक्रा सर्वतः स्वरूपतोऽर्थतस्य गुक्रा निर्मला निर्दोषे-  
 त्यर्थः पदपदंशवाक्यार्थरसगतदापरविहितेति यावत्, अथ च  
 धवला, एतेन काव्यरूपा सरस्वतीत्यायातं भवात् सदोषाया  
 विशुद्धकाव्यवानङ्गीकारात्, काव्यरूपायाः सरस्वत्या भगवत्मू-  
 र्चित्वं । यथा विष्णुपुराणं, काव्यालापाश ये केचिदगीतकान्य-  
 खिलानि च । शब्दमूर्च्छिधरस्येते विष्णारंशा महाकामः ॥ इति ।  
 युज्यते च तदुपासनारूपं मङ्गलाचरणं यस्यादौ, उपासना  
 चात्मनः अवणमननगिदधामनरूपा, मानसे रमतामित्यमेत ।  
 च तत्त्वितयरूपायुपासना कृतेति प्रतोयते मानसवापारविशेष-  
 रूपलवाचास्याः । अत्र सरस्वत्यां हंसवधूचारोपं प्रति चतुर्मुख-  
 मुखं अस्मोजवनलारोपस्य इत्युत्तात् परम्परितरूपकर्मस्विष्ट-  
 शब्दनिष्ठव्यमम्, अस्मोजवनलारोपणैव तदुपपन्नौ मानसे मा-

नमारोपकरणनु न हचिरं सरः प्रतोतिमु व्यञ्जनयेति युक्त-  
मुत्यग्यामः एकान्ततदायहे तु शिष्टाच्चिएश्वदनिष्ठवन्धनयोज्ञयोः  
सङ्करः । अन्यापि इसबधूः सर्वज्ञका अस्त्रोजवने विहरति  
मानससरसि च रमते । नित्यमित्यच दीर्घमिति क्वचित्  
पाठः दीर्घं सुचिरं प्रारिप्तिथन्यमास्त्रिं यावदिति तदर्थः ।  
सरस्तो वाग्धिष्ठाची देवतेति केचित्, तस्माते तस्या ब्रह्ममुख-  
समन्वोऽधिष्ठेयाधिष्ठाचोरभेदाङ्गीकारात्, सर्वज्ञकेति च सति  
वाधे सङ्कोचस्यादरणीयत्वेन सर्वपदस्य करचरणतलाधर-  
नयनादिभिन्नाङ्गपरत्वादुपपन्नमिति ष्ठेयम् । मम सरस्तो  
मानसे शिष्याणां ह्यदि रमतामिति योजयन्त्यन्ये ॥ १ ॥

पूर्वगास्त्राणि संहत्य प्रयोगानुपलभ्य च ।  
यथासामर्थमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ॥ २ ॥

ननु कोइश्वरोयं काव्यरूपा सरस्तो यस्या उपासनायाति-  
महार्घत्वमाविष्कृतमित्यनुयज्यमान इव तङ्कत्तरं तावत् प्रति-  
जानोते । पूर्वेति । पूर्वेषां भरतादीनां शास्त्राणि काव्यनिष्ठ-  
पण्यन्यान् संहत्य संक्षिप्त अतिविस्तृतानामेतेषामत्यन्तानुपा-  
देयांश्चपरित्यागेनोपादेयांशान् संग्रहेत्यर्थः, तथा प्रयोगान्  
महाकविप्रणीतान् काव्यप्रबन्धानुपलभ्य च सम्बगालोक्य च,  
उपलक्ष्य चेति क्वचित् पाठः, एतेन प्राचीनप्रणीतमपि शास्त्रं  
प्रयोगविहृद्द्वचेदनुपादेयमेवेति न केवलं पूर्वज्ञास्त्रानुसारेण

किन्तु प्रयोगानुषारेण चास्माभिरेतत् इवत् इति एचितम् ।  
अस्माभिर्यथासामर्थं चथाशकि, श्रीदृढवारणायेतत् । का-  
व्यस्य, लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनति, लक्षणसिनरभेदानुगापकोऽ-  
साधारणो धर्मं इत्यर्थः, कियते इष्टाऽप्यच्छिका पदाव-  
लीति वक्ष्यमाणवाक्येन प्रतिपाद्यते । एतेभाभिधेयं दर्शितं  
काव्यं हि यन्त्रस्यास्य प्रतिपाद्यं प्रयोजनञ्चानन्तरमेव वक्ष्यते  
सम्बन्धस्तु चथायथं स्खयमूहनोयः । एतेषां यन्त्रादावश्यक-  
वक्तव्यत्वं यथा, ज्ञातार्थं ज्ञातमस्मबन्धं आतुं आता प्रवर्त्तते ।  
यन्दाै तेन यक्तयः सम्बन्धः सप्रयोजन इति । निष्पत्यच्छ-  
माणानां गुणादीनान् उपेहातमङ्गल्युशापित्त्वात् काव्यमि-  
क्षपणप्रतिज्ञायैव प्रतिज्ञाततया न पृथक् प्रतिशो हता ॥ २ ॥

इह गिष्ठानुशिष्ठानां गिष्ठानामपि सर्वथा ।  
दाचामेव प्रसादेन लोकयाद्वा प्रवर्त्तते ॥ ३ ॥

इत्यं प्रतिज्ञया वाग्विष्टेष्टपस्य काव्यं यन्दाै याद्यन-  
मुक्ता प्रजायुत्यन्तिरूपं इत्यप्रयोजनं वक्तुं प्रथम् वत् अक-  
द्वयेन वाक्मासाम्यस्यापादैयवमात् । ० इतेति । इह मंसारे  
गिष्ठैः स्थिरवृत्तिभिः, न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः । १  
न च वागङ्गन्त्रपल इति गिष्ठस्य लक्षणमिति महाभारतःक-  
ल्पत्राणवद्विभेद्यन्त्रचन्द्रपाणिनिवरहृदिप्रमृतिभिरनुशिष्ठानां  
प्रकृतिप्रत्ययविभागाद्वारा व्युत्पादितानां मंस्तानां प्राकृता-  
नाश्चर्ययः, तद्वितयस्त्रैरात्मामनसम्भवादिति भावः । तथा

शिष्टानामपि एतद्वयावशिष्टानां देशीनामित्यर्थः, तासामनु-  
ज्ञामनाभावादिति भावः । शिष्टानां स्वतः शिष्टानां संज्ञा-  
रूपाणामिति केचित् । इत्यं चिविधानां वाचामेव प्रसादेन  
सार्चिदेन सर्वथा सर्वेण प्रकारेण सोकागां देवादिपाम-  
राज्ञानां याचा व्यवहारः प्रवर्त्तते प्रकर्षणं भवति । तच्चेत्त-  
मानां संख्यतया मध्यानां प्राकृतया नीचानां देशा वाचा  
व्यवहारः ॥ ३ ॥

इदमन्यं तमः कृत्वा जायेत भुवननवयम् ।  
यदि शब्दाङ्कयं ज्योतिरारुंसारं न दीप्यते ॥ ४ ॥

अन्वयेन वाचां व्यवहारोपयोगित्वमुक्ता व्यतिरेकेण तदेव  
इदं वर्तति । इदमिति । शब्दाङ्कयं वागाख्यं ज्योतिः, प्रकाशक-  
त्वात्तेज इव मंसरत्यनेनेति मंसारः स्मर्यित्यर्थः आमसारं  
स्मर्यिकालमारभ्य, यदा मंसरत्यस्मिन्निविति मंसारो जगत् आ-  
मसारं जगद्भव्याय यदि न दीप्यते न स्फुरेत् तदा इदं  
कृत्वा सर्वे जगत् तद्वत्सोकजातमित्यर्थः, तमो गोदान्य-  
कारगच्छ सत् अन्यं चक्षुर्दिक्कलमिव ज्ञानशृण्यं जायेत, अन्यं  
• तमो गाढध्वान्याप्नमिति वा, ध्वान्ते गाढेऽन्यतमसमित्यमरः ।  
यदा इदमिद्विवासन्निकृष्टं कृत्वा जगत् अन्यं तमो गाढन्य-  
कारकवस्तिमिवाज्ञातं जायेत, यदा ज्योतिषि सुर्योऽदीप्य-  
माने जगदन्यकारमयं सदज्ञातं भवति तथा शब्दाभावे इत्य-  
र्थः, वेदाप्नवाक्यैव सर्वेषां ज्ञानसम्भवादिति भावः ॥ ४ ॥

आदिराजयगोविम्बमादर्थं प्राप्य वाक्यम् ।  
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यते ॥ ५ ॥

इत्यं वाक्मामान्यस्य व्यवहारमूलत्वेनोपादेयत्वं प्रदर्श्य  
तस्यैव गुणालङ्घारादिभिरुपस्तुततया काव्यस्तपतामापन्नम्यो-  
पादेयत्वमाह । आदिराजेति । आदिकालीना ये राजान्  
इच्छाकुप्रभृतयस्तेषां यगोऽहं पिं विम्बं प्रतिष्ठिष्ठं छायेत्यर्थः, वा-  
क्ययं कविगणकृतकाव्यप्रबन्धस्तपमादर्थं दर्पणं प्राप्य इदानों  
तेषां राजामसन्निधानेऽपि न नश्यति न विच्छिन्नते इति स्वयं  
पश्य विचारय, क्षप्रामाण्यस्यात्यन्तपरिहारार्थ्येतत् अतएवाच  
न गर्वितत्वं दोषः । अन्यस्मिन्नादर्थं हि मन्त्रिहितानामेव विम्बं  
पतति अत्र त्वमन्त्रिहितानामपीति अतिरिक्तः । एतनातीतानां  
यगाख्यापनं काव्यम् प्रयोजनमुक्तं, एतस्मापलवलं काव्य-  
कर्त्तुमङ्गेहुश्च यगःप्रभृतीनपि प्रयोजनान्तराण ज्ञेयानि,  
यदुक्तं, प्रकाशकृता, काव्यं यश्मेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर-  
चतये । मद्यःपरनिर्वृतये कान्तामस्मिततयापदेशयुजेः इति ।  
सर्वे च पुरुषार्था एतस्माज्ञायन्ते, यदुक्तं, धर्माद्वाममोक्षेषु  
वैचक्षण्यं कलासु च । करोति कीर्त्तिं प्रोतिष्ठ मधुकाव्यनि-  
षेवणमिति ॥ ५ ॥

गौगाः कामदुधा सम्प्रक्ष प्रयुक्ता स्मर्यते वेधैः ।  
दुष्ट्युक्ता पुनर्गौत्वं प्रयोक्तुः सेव गंसति ॥ ६ ॥

काव्यस्योपादेयत्वमुक्ता तस्य गुणालङ्घारादिभिरुपस्तुते

निर्दीषतायाच्च यतनीयमित्याह । गौरिति । गोवाणो सम्यक्  
प्रयुक्ता दोषाभावेन गुणालङ्घारादिमङ्गावेन च कविशा शोभमं  
निबङ्गा सतो कामदुचा सर्वकामप्रणूरिका गौर्धनुरिव बुधैः  
शामाजिकैः स्मर्यते सुप्रयुक्ता वाणी कामधेनुवत् सर्वकाम-  
पूरिका भवतोति ज्ञायते । तथा च श्रुतिः । एकः शब्दः सु-  
प्रयुक्तः सम्यक् ज्ञातः स्वर्गे स्तोके च कामधुग्भवतोति । वैप-  
रीक्ये दोषमाह । सेव गौः पुनर्दुप्रयुक्ता सदोषतया रचिता  
सती प्रयोक्तुः कर्दगीतं दृष्टभलं मूर्खत्वनित्यर्थः, शंसति सूच-  
यति, एतेन दोषाभावे गुणालङ्घारादिमङ्गावे च सर्वया  
यतनीयमित्येव प्रतिपादितं न तु सदोषस्थाकावलमिति धे-  
यम् ॥ ६ ॥

तदन्यमपि नोपेत्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।

स्थादपुः सुन्दरमपि श्विचैषेनकेन दुर्भगम् ॥ ७ ॥

तदिति । तत्स्थात् प्रयोक्तुरविज्ञताख्यापकत्वादित्यर्थः  
काव्ये अन्यमपि पदपदांश्चमात्रगतमपि दुष्टं दोषः कथनच्च  
नोपेत्यं सर्वथा तत्परित्यागे यतनीयं । ननु गुणालङ्घारादि-  
ना सुन्दरतरं तस्मिन् तिष्ठतु नामान्योयान् दोषः किं वि-  
हन्येत तेजेत्यत्राह । सुन्दरमपि स्तावण्डाराङ्गदादिना रम-  
णीयमपि वपुः एकेन केवलेन एकावयवस्थितेन वा शिवेष  
कुषभेदेन दुर्भगं निन्दितं स्थान् । एतेन दोषाः काव्यस्थाप-  
कर्षमाचजनका न तु काव्यत्वविद्यातका रति सूचितं दुष्टम्भे

च महाकविप्रयोगेषु केषुचित्ते ते दोषा इति एतदिष्टा-  
यनार्थमेव प्राचां तददोषै अब्दार्थाविति अदोषं गुणवत्  
काव्यमित्यादि काव्यलक्षणेषु दोषपदोपादानं न तु सति तत्त्वा-  
काव्यताप्रतिपादनार्थमिति रहस्यम् । उक्तस्तान्यत्र कोटातु-  
विद्वरक्षादिसाधारणेन काव्यता । दुष्टेष्वपि मता यत्र रसा-  
द्यनुगमः स्फुट इति ॥ ७ ॥

गुणदोग्रानश्चास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः ।

किमन्वस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलक्ष्यपु ॥ ८ ॥

इत्यस्त्र काव्ये दोषाणां हेयत्वोक्त्या गुणानामुपादेयत्वम-  
र्थाद्यकं भवति हेयपादेयानास्त्र धर्माणां परिज्ञानस्य शा-  
स्त्रोपदेशमापेक्षतया तत्र स्वकियमाणश्चास्त्रस्योपयोगितां दर्श-  
न्नाह । गुणेति । अश्चास्त्रज्ञः काव्यमीमांसाश्चास्त्रनभिज्ञः जनः,  
गुणः उपादेयधर्मां वक्ष्यमाणाः स्त्रेषुप्रसादादयः अनुप्राप्ते-  
पमाचलक्षारास्त्र अलक्षाराणां काव्यशेभाजनकत्वेनापादेय-  
त्वात्, दोषाः श्रुतिकर्त्तुवादयश्च, तान् कथं विभज विशेषण  
भजते विभक्ततया जानानोत्यर्थः, भजतिरत्र ज्ञानार्थः ।  
हैचित्यदैरस्त्रजनकत्वेन गुणदोपाणां किञ्चित्परिज्ञानस्य स्त्रः  
सम्भवेष्वपि विशेषपरिज्ञानं शास्त्रादेव जायते शास्त्रकर्त्तव्यां  
निष्पाणाभिनिवेशादिना तत्तदिशेषोऽस्त्रावनादिति विपदोपा-  
दानं । दृष्टास्त्रमेदं इठयति रूपाणि इव्यगुणविशेषा-  
स्त्रेषां भेद उक्तस्त्रलापक्षणस्त्रहपः शेतत्वपीतत्वादिरूपे वा

विशेषसंस्थापनभिषु प्रत्यचेषु अन्वय चक्रविकल्प किमधि-  
कारो योग्यतान्ति नास्त्वेत्यर्थः, तस्माच्चास्तोपदेशेनैव जना-  
हेयोपादेयज्ञानवन्तो भवन्ति तदर्थं एव ममायमारम् इति  
भावः ॥ ८ ॥

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः ।

वाचा विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ॥ ९ ॥

अत इति । अतः गुणदोषविभागादेः शास्त्रसापेचत्वादि-  
त्यर्थः, सूरयः पण्डिता भरतादयः प्रजानां स्तोकानां व्युत्पत्तिं  
वाग्यवद्वारनैपुण्यमभिसन्धाय उद्दिष्ट, विचित्रा बङ्गविधा  
वैदर्भगोडादिरूपा मार्गा रीतयो यासां तादृशोर्णा वाचां  
काव्यवाक्यानां क्रियायै करणाय, उपलब्धेऽस्तेतत् ज्ञाना-  
यापीत्यर्थः, करणवज्ञानस्यापि यज्ञःप्रभृतिजनकत्वात्, विधि-  
विधानं धर्मिधर्माविभागादिना निरूपणमित्यर्थः, तं निबबन्धुः  
निबन्धेन प्रोक्तुः । एतेन तद्गतानुगतिकतया ममापि प्रजा-  
व्युत्पत्त्यर्थमेवायमुद्यमेन्ततु प्रतिष्ठार्थमिति सूचितम्, तस्माद्  
यन्यस्याय प्रजाव्युत्पत्तिः प्रयोजनं यन्याभिधेयस्य काव्यस्य  
प्रयोजनन्तु यथायथं कविबोद्धुगतं यज्ञःप्रभृतिकं पूर्वमुक्तं  
ज्ञायम् ॥ १० ॥

तैः शरोत्त्वं काव्यानामलङ्घारात्म दर्शिताः ।

शरोरं तावदिष्टार्थव्यवक्षित्वा पदावन्ती ॥ १० ॥

अथ धर्मिणि ज्ञाते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायते धर्मे

चास्य शरीरं तदेव प्रथमं निष्पत्यन्नाह । तेरिति । तैः पूर्व-  
सुरभिः काव्यानां शरीरस्य आत्मभूतस्य रमादिव्यक्तस्य  
देहभूत आश्रयस्य तथा अलङ्कारास्य दर्शिताः । चहयमु-  
भयप्राधान्यद्योतकम् । काव्यानामिति वज्ज्वचनं मुक्तकादिभे-  
देन काव्यस्य वज्ज्विधत्वसृचनाय । अलङ्कारपदस्य अलं कियते  
प्रकृष्टोक्तियतेऽनेन्ति बुत्पत्त्या द्वेषप्रसादादिगुणानामनुप्राप्तो-  
पमाद्यालङ्काराणास्य प्रतिपादकं गुणानामपि काव्यशाभा-  
जनकतया तैर्दर्शितवात् । भेदशानयोरये दर्शयिथते । यदा  
शरीरस्येति चकारोभिन्नकम् तैस्त्वर्थः । अलङ्कारस्येति च-  
कारोऽनुक्रमसुच्यार्थः, तेन च गुणानां दोषाणास्य परियहः  
तद्वितयानामपि निष्पितवादित्यवग्न्यम् । दर्शिता इत्यत्र  
वज्ज्वचनं पुस्तस्य अलङ्कारा इति परप्रयुक्तपितया, क्वचिच्चि-  
क्ष्विभवत्त्वोरित्यनुगामनाद् । इत्यं प्राचां मंवादं प्रदर्श्य तन्मता-  
नुभारणेत्र स्वयं लक्षणरूपं काव्यशरीरं निष्पत्यति । शरीरं  
तावदिति । तावदिति वाक्यालङ्कारं । इष्टाः सदयह्या-  
स्यमत्कारभूमय इत्यर्थः, येऽर्थाः तैर्यवच्छिन्ना लक्षणीकृता  
पदावली पदमसृहः काव्यस्य शरीरमित्यत्वयः । अचेष्टत्वं चम-  
त्कारभूमित्वं, चमत्कारस्य लोकोक्तराङ्कादः तद्विमस्तज्ज्ञानकः,  
लोकोक्तरत्वस्त्राङ्कादगतं सुखत्वव्याप्ताऽनुभवसमितिका जाति-  
विशेषः रिपुस्ते स्वतः पुच्छे जात इत्यादिवाक्यार्थज्ञानज्ञाना-  
ङ्कादस्य न सोकोक्तरत्वमिति न तत्र काव्यत्वप्रसक्तिः । साकृ-  
शाङ्कादं प्रत्यर्थानां कारणतात्र व्यञ्जयेत्विष्णवं दोषासमाधि-

करणगुणालङ्कारमङ्गावसम्यादितचाहत्वेन च ममवति, ममवति  
च तेन काव्यस्य भेदव्ययं, तथाहि व्यञ्जितिश्चजन्मा चमलति-  
र्यच वाच्यचमलतेरत्यधिका तत्र अनिरिति व्यवहारः यत्र च  
व्यञ्ज्यचमलतिर्वाच्यचमलतेः कुचिनिलोना तत्र गुणोभूतव्यञ्ज-  
मिति व्यवहारः, यत्र च व्यञ्ज्यचमलतिर्वाच्यव वाच्यचमलति-  
र्वेव परं वरोवर्त्ति तत्र चित्रमिति व्यवहारः, इत्यं चित्रिधं  
काव्यमन्वैकमनुभव्ययं, यदि च वाच्यव्यञ्ज्यचमलतिरिपेतः  
शब्दोऽपि गुणालङ्कारोपकृतश्चमलकारं जनयति तस्मापि  
काव्यलमन्वैरङ्गीकरं, यथा, सुपर्णं तिङ्गाञ्च बुद्धिं वाचां वा-  
च्यक्षयलङ्कृतिम् । तदेतदाङ्गः मौशब्दं नार्थकुत्पत्तिरोड्गीति,  
तदा इष्टेति पृथक् पदं पदावलोविशेषणं मन्त्रयं, विजितुविशे-  
षणवाच्य रूपो घटोऽनित्यं इत्यदौ रूपघटयोरनित्यतपतो-  
तिवदर्थपदर्थाद्यर्थोऽपीष्टवप्रतीतिः ततश्च शब्दचित्रमर्थच-  
त्वस्ति चित्रस्य भेददयम् । उक्तञ्च प्रकागक्ता शब्दचित्रं  
वाच्यचित्रमव्यञ्ज्यं तत्वं स्मृतमिति, चित्रमिति गुणालङ्कार-  
मावयुक्तम् । एतेन लक्षणेऽनुद्यानां गुणालङ्कारदीपाणां  
कथमयं निरूपणं कृतमिति चाद्यस्य नावकाशः इष्टपदेन तेषा-  
मुदेशादिति ध्येयम् । अत्रार्थो वाच्यलक्ष्यव्यञ्जृतया चित्रिधः  
तत्राभिधयोपम्याणा वाच्यः स्वत्वाया स्वत्वः व्यञ्जनया व्यञ्ज-  
इति व्यञ्जकतात्र शब्दानां सर्वेषामर्थानाम्भूतः, तेषां व्यञ्जोऽ-  
पि वस्तुलङ्काररत्यादिभेदाच्चित्रिधः, तत्र वस्तुलङ्काररू-  
पव्यञ्ज्यजन्म्यचमलकारः संस्कृतकमः रत्यादिव्यञ्जन्म्यचम-

स्कारो रसादिपदव्यपदेष्टोऽसंख्यकम् इति अन्यत्र विस्तर इति नैतत् सर्वे निरूपयित्वते । पदानि अभमासाङ्गसुप्तिउभानि तस्मिन्नानि च, प्राह्णतादिपदानानु भंकुतस्यानीयतया तदन्तास्येव । निराकाङ्क्षपदानां काव्यतावहारात् साकाङ्क्षेति पदावलीविशेषणं देयं तेन पदावली वाक्यमित्रेवार्थः । इत्यस्म अर्थापकृतं वाक्यमेव काव्यशरीरं न तु वाक्यमर्थस्व द्वाविति, काव्यताया उभयपर्याप्तिं काव्यमुच्चः पर्यते काव्यादर्थोऽवगम्यते काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञात इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारविरोधात् लक्षणाभ्युपगमम्य चान्यायत्वात् प्रत्येकपर्याप्तिं च एकस्मिन् पदे काव्यदयव्यवहारापत्तेः तस्मादाक्यमात्रस्येव शरीरत्वमिति सुषृक्तम् । शरीरमित्रुक्ते शरीरो चापेत्यन्ते शरीरो चात्र चित्रकाव्यं गुणालहारापकृता वाच्यार्थं एव भवनिगुणीभूतव्यञ्जयोऽस्मु वस्त्रमहाररसादिष्ठेयो व्यञ्जार्थः । उक्तस्म भवनिकृता । अर्थः महदयदायः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानास्यो तस्य भेदावुभौ सः नाविति, न च रसस्यैवाङ्गिलमन्त्येहकमादरणोयं नोरमानानप वस्त्रमहारव्यञ्जकानां गुणालहारमात्रापस्कृतावाच्च काव्यतया अकलालहारिकैरङ्गीकृतानामकाव्यतापत्तेः न च तत्रापि कथचित् परम्यरथा रसस्याऽप्तोति वाच्यं एवं विधरमस्त्रम्भेगौः श्रेते शुगोधारनीश्चादीनामपि काव्यतापत्तेः पदार्थमात्रापि विभावानुभावव्यभिचारिभावान्यतस्मत्वात्, न च रसानाम्भावे विनियानामुक्तुम्भीकारासम्भवः काव्यक्ष प्रस्तावनं

हि वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमतीनां रसाखादसुखपि-  
ण्डदानदारा हत्याकृत्यप्रतिस्तिनिहन्त्युपदेश इति वाच्यं चम-  
त्कारजगत्कवाच्चार्थादिनापि तत्मस्वादिति दिक् ॥ १० ॥

पद्यं गद्यच्च मिश्रच्च तत्रिधैश्च व्यवस्थितम् ।

पद्यं चतुष्पदो तत्त्वं वृत्तं जातिरिति दिधा ॥ ११ ॥

काव्यस्य शरीरमुक्ता तद्देशान् कर्मणाह । पद्यमिति ।  
तत् काच्यं पद्यं गद्यं मिश्रच्चति त्रिधैश्च विप्रकारमेव व्यवस्थितं  
प्राचोन्नीर्नस्त्रिपितम् । एवकाराच्चातुर्विष्यादिकमस्य नास्तोति  
सूचितं । तत्र पद्यलक्षणमाह । पद्यमिति । चतुष्पदानां  
समाहारश्चतुष्पदो पादचतुष्टयात्मकं पद्यं स्यात् दिपद्यादि-  
कन्तु वेदादिक्षेव नियतमिति लौकिकशास्त्रेषु तदभावाच्चतु-  
ष्पदोल्युकं, वस्तुतस्य छन्दोनियतं वाक्यमेव पद्यं, महा-  
काव्यादो प्रायेण पादचतुष्टयात्मकानामेव निवेशनोयचाच-  
तुष्पदोल्युकं । यदाङ्गः । छन्दोनियमवदाक्षं पद्यमित्यभि-  
धीयत इति छन्दो बद्यपदं पद्यमित्यादिच्च । तत्त्वं पद्यं वृत्तं  
जातिर्श्वर्ति दिधा । तत्राचरमङ्गातं वृत्तमुक्त्यातुर्विष्यादिकं  
मात्रामङ्गाता जातिरार्थादिः ॥ ११ ॥

छन्दोविचित्या सकलस्तनप्रपञ्चोनिदर्गितः ।

सा विद्या नैस्तिर्पूणा गम्भीरं काव्यसागरम् ॥ १२ ॥

छन्द इति । छन्दांशि विचोयने विरुद्धयन्ते उचेति  
छन्दोविचित्यतः शेषादिहतच्छन्दोविचित्यः छन्दोविचित्यामकः

खलतस्तद्वायन्तो वा तस्यां यक्षः तयोर्यज्ञात्योः प्रपञ्चो  
विस्तारो निर्दर्शितः समार्द्धमविषमत्वेन उक्तात्युक्तादिना  
च वृक्षभेदाः आर्यागोत्तुङ्गोत्तुङ्गादिना जातिभेदाय निक-  
पिता इत्यर्थः । अतः सैवानुश्रीनोया गतावाङ्गम्बिभिर्या-  
तत् सर्वमत्र नोक्तिभिर्यात् । कर्त्तोनां इन्द्राजामसावद्य-  
कत्वमाह । सा विद्या कर्त्ताजामं कर्त्ताविचित्रितिद्या वा  
गम्भोरं विविधस्तद्वानिवद्गुवाक्यवर्णनीयरमभावादिभिर्निषि-  
डम्, अथचागाधं काव्यमत्र मागरं तितोष्टुणां कर्त्तोन  
ज्ञानेन च तत्पारं जिगमिष्टाम् अथव लिखहर्षिष्टुणां नौः  
पितत्वपा । तितोष्टुणामित्यव विविन्दुणामिति कर्त्तव्य-पाठः,  
मागरं प्रवेष्टुमिच्छृङ्गां यथा नानावस्तुष्टुणां नौरूपयागाय भ-  
वति तथा काव्यं वर्षयितुमनुशोलयितुं वा कृतयज्ञानां कर्त्ता-  
विचित्रितिविद्यत्वर्थः ॥ १२ ॥

मुक्तकं कुलकं कोऽप्तः संघात इति तादृशः ।

सर्गवस्थाङ्गस्तप्त्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥ १३ ॥

एवं चिविधेषु काव्येषु पद्यमयस्यान्तेनज्ञानामवास्तवभेदा-  
नां प्रदर्शनमनतिप्रयोजनमिति इदपेन प्रधानप्रभदं महा-  
काव्यं प्रदर्शयितुमुपकमते । मुक्तकमिति । इतिशब्द एवमर्त्तं  
मुक्तकं कुलकं काव्यः सहातश्च इत्यव तादृशमन्तमज्ञातोर्थो-  
परव्य युग्मकादिरित्यर्थः, एवंक्षपः पद्यविस्तरः अन्यदक्षः  
पद्यमयकाव्यभेदमसृष्टः सर्गवद्गुप्तकपत्वात् निक्षयिष्यमाण-

महाकाव्यरूपप्रधानभेदैकदेशस्त्रूपत्वादनुकः यन्यवाङ्मयभि-  
या अप्रदर्शितः यन्यान्तरेषु विदितव्य इति शेषः, एतेन प्र-  
तिपंधनज्ञा कथं तत्पुरुष इति चोद्यस्त्रूपत्वादनुकः अध्याहतस्य  
यन्यान्तरेषु विदितव्यत्वस्य विधेयत्वेन तस्य पुर्युदामत्वात्, अन्ये तु  
सादृश्यार्थकपर्युदामनज्ञा अनुक उक्तप्राय एवेत्यर्थ इत्याङ्गः ।  
तत्र मुक्तकं आकान्तरमन्वयं परित्यक्तमेकपद्मात्मकं, तथा  
चाभ्येण । मुक्तकः शोक एवेकश्चमल्कारक्तमः सतामिति । कु-  
लकं पञ्चान्त्रयाकात्मकम् । उक्तञ्चान्यत्र, “द्वाभ्यान्तु युग्मकं  
मन्दानितकं त्रिभिरिष्यते । कलापकं चतुर्भिर्षु पञ्चभिः  
कुलकं मतम्” । इति । अपरे तु पञ्चात्मकस्य वाणावलीति  
मंज्ञामाङ्गः । यथा, “एकः अःको मुक्तकं स्नात् द्वाभ्यां  
युग्मलकं स्वतम । त्रिभिर्गुणवतो प्रोक्ता चतुर्भिस्तु प्रभद्रकम् ।  
वाणावली पञ्चभिः स्नात् षड्डिस्तु करहाटकः” । इति ।  
कोषः परस्परनिरपेक्षः शोकसमूहः । यदुक्त, “कोषः शोक-  
समूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः । ब्रज्याकमेण कथितः स  
एवातिमनोरमः” । इति । ब्रज्या च सज्जातोयसमूहः । यत्र  
प्रत्येकं परिममापार्थीः पश्येः कथा समाप्तते स संघातः ।  
यदुक्तः । यत्र कविरेकमर्थे वृक्षेनैकेन वर्णयति काव्ये । सं-  
घातः स निगदितो वृन्दावनमेष्टदृतादिरिति । इत्यमुक्तल-  
क्षणा मुक्तकादयो महाकाव्यैकदेशस्त्रूपत्वात् पृथग्लक्षिताः,  
कोषसंघातावपि महाकाव्येषु तत्तदुच्चावच्चर्षने सम्भवत एवे-  
त्यनुमन्त्रेष्यम् ॥ १३ ॥

सर्गबन्धे महाकाव्यमुच्चते तस्य लक्षणम् ।  
 आशीर्निर्मल्लिका वसुनिर्देशो वापि तनुखम् ॥ १५ ॥  
 इतिहासकथोदभूतमितरदा सदाश्रयम् ।  
 चतुर्वर्गफलेऽपेतं चतुरोदात्तनायकम् ॥ १५ ॥  
 नगरार्थवशैलर्भूर्ब्रह्माक्रोद्यवर्मनः ।  
 उद्यानसन्निलक्रोडामधुपानरतोद्दसवैः ॥ १६ ॥  
 विप्रलभ्यैर्विवाहैश्च कुमारोद्यवर्मनः ।  
 मन्त्रदूतप्रयाणा जिनायकाभ्युदयेरपि ॥ १७ ॥  
 अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनरक्तरम् ।  
 सर्गेनतिविस्तीर्णः श्रव्यवृत्तेः सुसन्धिभिः ॥ १८ ॥  
 सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तरूपेतं लोकरञ्जकम् ।  
 काव्यं कन्यान्तरस्तायि जायेत सदनङ्कुति ॥ १९ ॥

कोऽसौ सर्गबन्धः यदङ्कुषपत्वाद्युक्तकादयो न पश्यन्ति च-  
 चिता इत्याकाङ्क्षायामाह । सर्गबन्ध इति । महायं सर्ग-  
 बन्धः तस्य सर्गिनिर्विधमानवात् । तदपि किञ्चकुषपमिति  
 तत्त्वज्ञानं तावत् प्रतिजानीत । उच्चान्तं इति । तस्य महा-  
 काव्यस्य लक्षणं स्वरूपमुच्चते अमम्ररम्भव निरूप्ते । आशो-  
 गित्यादि आशीरिष्टजनस्य गुभाषामर्म, नमस्कृया स्वापकर्ष-  
 वोधानकृत्यापारविशेषः सच प्रकृते वाग्विद्यात्मकः  
 तस्य वाचिककायिकमानमिकत्वेन चैविद्यात् । तथा वस्ति  
 प्रस्तुवृत्तान्ताऽस्मिन्निति वसु प्रष्ठनायकः अपरो वा तत्-

समन्वी, तथा निर्देश उपन्यासः, वाष्णवोविकर्षे, मुखमा-  
दिभागः, आश्रोःप्रभूतीकामन्यतमं तस्मादिभाग इत्यर्थः ।  
तचाश्रोः कीचकवधादौ, अमस्तिक्षया रघुवंशादौ, वसुनिर्देशः  
शिष्ठुपालवधादौ ॥ १४ ॥

इति हास्येति । इति हासा रामायणमहाभारतादयः से-  
षामन्यतमस्य कथया रामयुधिष्ठिरादिहत्तान्तेन उद्भूतं  
निबद्धम् । इतरदा एतस्मादन्यदा, सन् सत्यभूतोवृत्तान्त  
आश्रीयत इत्याश्रयो वर्णनीयो यत्र तत् । सदाश्रयमित्यनेन  
कल्पितहत्तान्तस्य महाकाव्ये वर्णनं प्रतिषिद्धं । तथा चतुर्णैः  
धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गश्चतुर्वर्गः तद्रूपेण फलेन प्रयोजने-  
नोपेतम्, एकत्र चतुर्णैः फलत्वामस्यवात् सर्वे पुनर्वर्णनीयाः  
परन्तु अन्यतममेव फलमिति मन्त्रयम् । उक्तम्, चलारसाच  
वर्णाः स्युक्तेष्वेष्व फलं भवेदिति । तथा चतुरो व्यवहार-  
कुशल उदान्तोधीरोदान्तो नायकः कथाव्यापो प्रधानपूर्षो  
यत्र तत् । यद्यपि त्यागी हृतो कुलोनः सुश्रोक्तोरुपयौवनो-  
त्याहो । दक्षोऽनुरक्तलोकसेजोवैद्यध्यग्नीस्त्रवान्नेतेति नायक-  
स्त्रवणे दक्षवैद्यध्यपदेयापादानेन चतुरत्वस्य सत्तणघटकतया प्रा-  
प्तवात् पृथक् चतुरेति नायकविद्येष्यमफलमित्यस्मोषसदा  
चतुरोदान्तपदस्य धीरोदान्त इत्येवार्थः कर्त्तव्यः चतुरधो-  
रपदयोः पर्यायत्वात् । धीरोदान्तस्त्रवणं यथा । “अविक-  
त्यनः चमावामतिगम्भीरोमहासन्नः । अयोध्यागृहमानो-  
धीरोदान्तोदृढव्रतः कथित” इति । अयम् नायकः कवि-

देकोदेवः, कचिदेकः सदंहजः चक्षियः, कचिदा एकवंशजा  
वहवः चक्षियाः, यदुकं । तच्चेकानायकः सुरः । “सदंहजः  
चक्षियोवापि धीरोदात्तगुणाच्चितः । एकवंशभवा भूयः  
कुलजा वहवोऽपि वा” इति । तचाम्ब्रयोदाहरणे रघु-  
वंशः ॥ १५ ॥

महाकाव्ये नायकवृत्ताम्बवर्णनमात्रं न कवीर्या पुर-  
वार्थः इतिहासादिभिरेव तत्परिज्ञानमिद्धे: किञ्चु प्राम-  
द्ग्निकतन्त्रदुष्कावचवर्णनया काव्यशामस्यादनमिति वर्णनो-  
यान् विषयान् निर्दिशति नगरेत्यादि दार्थाः । द्रस्तीया-  
न्तजातस्यालङ्कृतमित्यनेनाच्यः । चन्द्रार्कादयेति चन्द्रार्का-  
समनोपलक्षणम् । क्रोदेति उद्यानमलिखयोर्दयोरप्यन्वन्ति ।  
रतोत्सवः सम्भागश्टङ्गारः स च विप्रस्तम्भवर्णनात् परमेव  
वर्णनोयः । उक्तज्ञ न विना विप्रस्तम्भेन सम्भागः पुष्टिमश्चुते  
इति । विप्रस्तम्भेरिति बड्डवचनेन तस्य पूर्वरागमानप्रवाम-  
करुणात्मकतया चतुर्विधिं सुचितम् । कुमारोदयः पुचो-  
त्यन्तः । मन्त्रोविपच्छजयाद्यर्थं मन्त्रणा । द्रुगः कार्यप्रेयः  
स च निष्ठृष्टार्थमितार्थमन्देशहारकत्वेन त्रिविधः । प्रथाणं  
युद्धाद्यर्थयाचा । आजिर्युद्धम् । नायकस्याभ्युदयोरिपुजया-  
दिः । मन्त्रादिपञ्चकं क्रमिकं, तथा हि प्रथमं मन्त्रणा ततो  
दूतप्रेषणं ततः प्रथाणं ततो युद्धं ततस्य रिपुजयादिरूपा-  
भ्युदयः । द्वेषं स्पष्टम् । एतानि अपिना चान्यानि च षाङ्कोपा-  
ञ्चानि महाकाव्ये वर्णनोयानीत्यर्थः । यदुकं, “सम्भासूर्येन्दु-

जनोप्रदोषधानवासराः । प्रातर्मधाक्षुगयाप्रीत्यन्तुवनसा-  
गराः । स्मोगविप्रलभ्वा च मुनिस्खर्गं पुराध्वराः । रणप्रया-  
शोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः । वर्णनीया यथाचोगं साङ्घोपाङ्गा  
चमी इह” । इति ॥ १६ ॥ १७ ॥

असङ्गितं पक्षवित्तृत्तान्तं, महाकाव्ये हि यन्त्रवाङ्मत्त्वं  
शब्दया सङ्गेषण वस्तुवर्णनं न चमत्कारं पुण्याति, तद्यथा,  
“रामोदयरथाज्ञातः प्राप्तविद्यम् कौशिकात् । मिथिसाथां  
धनुर्भंडा मैथिलों परिणीतवान्” इति । रसाः इङ्गारार-  
दयः, भावाः प्राधान्येनाभिव्यक्ता अभिचारिणः उदुद्ध-  
मात्राः स्थायिनः देवादिविषया रतिश्च, तैर्निरन्तरमभि-  
व्याप्तं, तत्र इङ्गारवीरशान्तानामन्यतमोऽङ्गित्वेन अन्ये त  
रसा भावा वा अङ्गित्वेन, यदुक्तमन्यतः इङ्गारवीरशा-  
न्तानामेकोऽङ्गीरस इव्यते इति । सर्वेरिति उपेतमित्यने-  
नाचेति, सर्वोऽवान्तरवृत्तान्तसमाप्तेनाम, बङ्गवचनमष्टान्तू-  
नलचिंशदनधिकत्वयोर्बोधकं, अष्टसर्गावत् न्यूनं चिंशत्स-  
र्गाच्च नाधिकम् । महाकाव्यं प्रयोक्तव्यं महापुरुषकीर्ति-  
युगितीशानसंहितोऽसः । वस्तुतस्य प्रायिकमेतत् वैपरीत्यस्ता-  
०५पि दर्शनात् । अनतिविस्तोर्णेरिति चिंशदन्तूनधिशत्यनधिक-  
पद्यात्मकैरित्यर्थः । यदुक्तमोशानसंहितायाम् । नात्यन्त-  
विस्तरः सर्वस्तिंशतोवा नचोनता । द्विषत्यानाधिकं कार्य-  
मेतत् पद्यस्य खल्चणमिति । अवृत्तैरिति इतवृत्ततादि-  
दोषपरित्यागेन माधुर्यादिगुणसङ्घावेन च वैरस्यानावह-

युतिसुखदहन्तेरित्यर्थः । यदुक्तं । अस्मिन् चुते च विजय  
 देवस्त्रं, य च इष्टमा । साति वस्त्रीयि वस्त्रायि प्रविहि-  
 प्रस्तुतायि चेति । हन्तपदव्य एवमर्त अस्मिदायादेवपि  
 दर्शनात् । सुषम्बिभिः सुषिद्वयन्वानेः भाविष्यत्यापेदैति-  
 त्यर्थः । यदुक्तं, सर्गाङ्के भाविष्यत्य कथाकाः स्त्रिय-  
 भवेदिति । यदा सम्ययो नाटकस्त्रियोऽका मुखप्रतिमुख-  
 गर्भविमर्शनिर्बहुमास्याः पश्च । उक्तस्त्र छर्वे नाटकसम्भय  
 इति । तेषां सुग्रिष्टवस्त्रं याङ्गानामेतेषां यथाकलं विनि-  
 वेशः, अङ्गानि चापचेपादीनि इष्टस्त्रपकादावुकानि ज्ञेयानि ।  
 भिन्नवृत्तान्तैः पृथक् पृथगवान्तरकथाप्रकाशकैः, यदा भिन्नं हन्तं  
 पृथक् कृन्दानिवद्धुः स्त्रोकोऽन्तेऽवसाने येषां तैः, एकेन हन्तसा  
 सर्गं निर्णाय इन्द्रोऽन्तरेण समापयेदित्यर्थः, उक्तस्त्र, एकहृ-  
 त्तमयैः पश्चैरवसानेऽन्यवृत्तकैरिति । एकद्वात्मयत्वस्त्रं सर्गाङ्कां  
 प्रायकं नानावृत्तमयस्यापि कस्यचिद्गर्णनात् । उक्तस्त्र, नामा-  
 वृत्तमयः कापि सर्गः कस्यन् दृश्यतद्विति । यथा । गिरुपाल-  
 बधे चतुर्थः सर्गः । सदस्त्रहृतोति सत्यः इष्टार्थः, भाजनन-  
 दारा रसोपकारिका अलहृतयो यमकोपमादयो यत् तत् ।  
 इत्थं सच्चणमुक्ता प्रशंसति स्त्रोकरस्त्रकमिति, एवं सच्चणमयस्यां  
 काव्यं स्त्रोकरस्त्रकं सामाजिकगण्डविनोदकं, सत् कस्यान्तरस्यायि  
 प्रस्त्रयकालावधिस्यायि जायेत तदिनोदस्त्रोऽनुपैर्यवत्सोरस्त्रोय-  
 लादितिभावः । अनान्तरशब्दोऽन्तावर्थर्थः । एतेनानपायिको-  
 च्चिप्रत्याश्या कविभिरत्र यत्नोघमिति योतितम् ॥ १८ ॥ १८ ॥

न्यूनमप्यत्र यैः कैसिद्वैः काव्यं न दुष्टति ।

यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ॥ २० ॥

इत्यं सच्चण्डपतयोक्तार्था धर्मार्थां केषास्त्रित् खण्डकाचादा सम्बवेनातिथ्याप्तिकादारणाय समुदायस्य सच्चण्डवाभ्युपगमे कुञ्चिदापतन्त्रोभव्याप्तिं वारयति । न्यूनमिति । अत एषु गिरक्षेष्वद्वैषु मध्ये यैः कैसिक्षक्षणघटकैरड्डैर्न्यूनं हीनमपि काव्यं न दुष्टति सच्चण्डास्त्रितवास्त्रिन्दितं न भवति । यदि उपात्तेषु थथा सामं वर्णितेषु सम्पत्तिः रसपरिपोषस्तद्विदः काव्यज्ञान् आराधयति सम्बोधयति । एतदेवोक्तं भेजराजेन, नावर्णं नगर्यादेदीर्णाय, विदुषां मनः । यदि शैलर्जुराश्चादेवंनेत्रैव तुष्टतीति । यद्युपात्तार्थसम्पत्तिरिति पाठे उपात्तानामर्थानां सम्पत्तिः सम्भृद्विराराधयति चमत्कारमुग्धान् करोति । एतेन समत्कारविशेषजनकत्वमेव महाकाव्यसच्चण्डमिति फलितं नगरादिवर्णंघटितलक्ष्मु परिचायकमात्रं, समत्कारस्य महाकाव्यखण्डकाव्ययोर्विभिन्न इति नाव्यास्त्रितव्याप्तिश्चेति थेयम् ॥ २० ॥

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं, तेन विद्विषाम् ।

निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥ २१ ॥

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।

तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनच्च धिनोति नः ॥ २२ ॥

नायकप्रतिनायकयोहत्कर्षापकर्षैः काव्यस्य प्रतिपाद्या, तद-

र्णने प्रकारदद्यमाह । गुणत इति । गुणतेऽगुणवस्त्रेन प्राक् प्रथमं नायकमुपन्यस्य वर्णयिता तेज गुणवता नायकेन, विद्विषन्ति साधूनिति विद्विषः अन्याय्यपथवर्त्तिः प्रतिनायकस्त्रेषां, बज्जवचनमनुगाभिप्रायेण, निराकरणं पराजयः, इत्येष मार्गोरीतिः प्रकृतिसुन्दरः स्वभावतोरम्यः प्रायेलैवं बज्जुभिर्वर्णत इत्यर्थः, अयमर्थः नायकस्त्रावत् सच्चरितया प्रतिनायकस्त्रासच्चरितया वर्णनोद्यौ, तथाविधयोश्च तयोर्जयपराजयौ सर्वेषां शुश्रूषणीयौ भवत इति । यथा रामचरिते पित्राङ्गापरिपालनादिसत्कर्मवता रामेण परस्त्वीहरणाद्यसत्कर्मवतोरावणस्य पराजय इति । गुणत इति नायकस्य सामान्यगुणास्त्वागादयः पूर्वमुक्ताः, विशेषाः पैरुषगुणास्त्वा शोभादयः, यथा, “शोभाविलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसो । सत्तितोदार्थमित्यष्टौ सत्त्वजाः पैरुषा गुणः” इति ॥ २९ ॥

वंशेति । रिपोरपि वंशः सत्कुलता, वीर्यं बलं, श्रुतं विद्या, आदिना दानादिपरिग्रहः । एतानि वर्णयिता तज्जटात् तथा भूतरिपुकर्मकपराजयात् नायकोत्कर्षवर्णनञ्च, च त्वर्य, नोऽस्मान् धिजोति प्रीणयति । यथा हययोवबधे हययोवस्य स्वर्गविजयादिवर्णनं । न इत्यनेनास्मिन्नेव कल्पे स्वस्याभिरूचिः सूचिता, न च धीरोद्भूतः पापकारी व्यस्तो प्रतिनायक इति प्रतिनायकस्त्रेष्विद्वद्भूमेतदिति वाच्यं परपीडनादिदोषसामानाधिकरणेनैव तेषां गुणवर्णनस्त्रौचित्यात् एकान्नगुणवतो-

धार्मिकस्य पराजयेन च नायकस्तोत्रासम्भवात् प्रत्युत निन्द-  
नीयत्वप्रसङ्गादिति षेषम् ॥ २२ ॥

अपादः पदसन्नानोगद्यमाख्यायिका कथा ।

इति तस्य प्रभेदौ हौ, तयोराख्यायिका किञ्च ॥ २३ ॥

नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।

स्वगुणाविश्लियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥ २४ ॥

उद्देशकमप्राप्तं गद्यं निरूपयति । अपाद इति । मात्रा-  
क्षरप्रतिनियतत्वरूपः परिच्छेदः पादः तच्छून्यः पदसन्नानो  
गद्यम् । अस्ति च तादृशः पादः पदे, यथा गः ओः, गौ  
खीयादिः, लक्ष्मैतत्प्रसगणा इत्यादिश्च । अस्य च चूर्णका-  
दयेभेदा मुक्कादीनां महाकाव्य इत्र आख्यायिकादा-  
वल्लभावात् पृथग् लक्षिताः, ते च यथा, चूर्णकोत्कलिका-  
प्राये आविद्वं वृत्तगम्भि चेति । आविद्वस्याने मुक्कमिति  
विश्वनाथः पठति, तत्र, चूर्णकमन्यसमाप्तं दीर्घसमाप्तमुत्कलि-  
काप्रायम् । समाप्तरहितमाविद्वं वृत्तभागान्वितं वृत्तगम्भी-  
ति । प्राचीनमतमनुसूरन् गद्यस्य प्रधानभेदद्वयं दर्शयति ।  
आख्यायिकेति । आख्यायिका कथा चेति तस्य गद्यस्य हौ  
प्रभेदौ । एतयोर्लक्षणमन्देहकं यथा । “कथायां सरम् वस्तु  
पद्येरेव विनिर्मितं । कचिदत्र भवेदार्था कचिदङ्गापवक्षके ।  
आदौ पद्यमस्कारः खस्तार्देवत्तकोर्त्तव्यमिति” । यथा, का-  
दमर्थादि । “आख्यायिका कथावत्यात् कर्वैश्चादिकीर्त्तन् ।

चक्रामन्यकवीनास्त् चूर्णं गर्वं कचित् कचित् । कर्त्तव्याभावं  
व्यवच्छेद आशास इति वधते । आर्यावाचायवाचार्या इव्वद्वा  
येन केनचित् । अन्यापदेवेनाशासमुखे भावर्थसुचनमिति' ।  
यथा इर्षचरितादिः । एतलक्षणद्योकपरत्वरभेदकधर्मां-  
णां प्राचीनप्रबन्धेषु व्यभिचारभाकस्य तत्राशहानोवकृ-  
वैखच्छालतोऽनयोर्भेद इति मतं दूषयितुमुत्यापयति । तथे-  
रिति । तयोः कथाख्यायिकयोर्भेदे आख्यायिका किञ्च नाय-  
केनैव वाच्या नायक एवाख्यायिकायामितिवृत्तवक्त्वादिर्थः ।  
यदुकं वृत्तमाख्यायते यस्मां नायकेन स्वर्चेष्टिमित्यादि ।  
एवकारेण वन्नन्तरव्यवच्छेदिः । अन्या कथा पुनर्नायकेनेतरेण  
वा वाच्या, अत्र वाशवद्वार्ये कचिन्नायकस्य कचित्तदितरस्य  
च वकृतमित्यर्थः । दृश्यते च कादम्बर्यां चन्द्रापोडस्य नायकस्य  
महाश्वेताम्बलापादौ वकृत्वम् । अन्यथा नायकवाच्यायां कथा-  
यामःख्यायिकात्मप्रसक्त्या दुरपनेयातिव्याप्तिः स्वादिति वि-  
भावनीयम् । जन्माख्यायिकायां नायकवकृत्वनियमे तत्रात्म-  
गुणकथनस्यापि सम्भवेन नायकस्थादात्तत्वव्याख्या इत्याश-  
क्ष्याइ । स्वगुणेनि । अत्र नायकवकृत्वक्षेत्रे, भूतार्थज्ञमित्रः सत्या-  
र्थवादिनो नायकस्य स्वगुणाविक्षिया निजगुणोत्कर्षख्यापग-  
देष्वो न भवति, असत्यभूतानाकाङ्क्षितस्वगुणकथनस्वैव दोष-  
लात् ॥ २३ ॥ २४ ॥

अपि त्वनियमोदृष्टस्त्रायन्यैरुदीरणात् ।

अन्योवक्ता स्वयम्बेति कीदम्बा भेदलक्षणम् ॥ २५ ॥

इत्यं प्राचीनमतमनुद्य दूषयति । अपित्विति । अपि तु किन्तु तत्र आख्यायिकात्वे प्रसिद्धे प्रवन्धे अन्यैरण्डुदीर-  
शात् नायकभिन्नवकृकलस्यापि दर्शनात् अनियमोनायकमात्र  
वकृकलनियमव्यभिचारोदृष्टः, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोष इति  
नैवं भेदकरणमादरणोयमिति भावः । ननु यत्र नायकभि-  
न्नवकृत्वं तस्य कथात्मेवासु आख्यायिकात्वप्रसिद्धिरबोध-  
मूलेत्यचाह । अन्य इति अन्योनायकभिन्नः, स्वयं नायको वा  
वक्तेति भेदकरणं कीदृक् न किमपि, स्वरूपगतवैलक्षण्यस्यैव  
भेदकत्वात् वकृवैलक्षण्यकृतभेदोऽकिञ्चित्कर इत्यर्थः ॥ २५ ॥

वक्त्रच्चापरवक्त्रच्च सोच्छासत्त्वं भेदकम् ।  
चिङ्गमाख्यायिकायाश्वेत्, प्रसङ्गेन कथास्त्वपि ॥ २६ ॥  
आर्यादिवत् प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः ।  
भेदश्च दृष्टोलम्भादिरुच्छासेवास्तु किं ततः ॥ २७ ॥

इत्यं वकृवैलक्षण्यकृतभेदं निरस्य प्रकारान्तरेण स्वजुधियां  
भेदकरणं दूषयितुमुत्यापयति । वक्त्रस्तेति । वक्त्रापवक्त्रे छ-  
न्दोविशेषौ । वक्त्रं नायकान्तसौ स्वातामभ्येऽनुषुभिख्यातमिति  
वक्त्रलक्षणं । अयुजि ननरलागुहः समे तदपरवक्त्रमिदं नज्जी-  
जरावित्यपरवक्त्रलक्षणम् । वैतालीयं पुर्वितायाच्च च्छन्यपर-  
वक्त्रकमिति च । उच्छ्रासः कथांश्चव्यवच्छेदस्य मंजा, कचि  
दाश्वास इति इत्यते । तस्महितवस्त्र । भेदकं कथातो-  
भेदसाधकमेतत्त्वयमाख्यायिकायाच्चिङ्गमसाधारणोधर्षः, कथा-

यान् नैतस्यमसीति चेदित्यन्तं अभिधीया मतम् । तत्र  
वज्ञापवज्ञातभेदं दूषयति, प्रसङ्गेभेदंति । सत्यानुपेक्षणे-  
यत्वं प्रसङ्गः, अयमात्रयः यदि कथायामार्थाकरणे प्रवृत्तः  
कविर्वज्ञमपरवज्ञमा सात्ता निवेदयति तत् किं कमपि दोष-  
मुक्षासयत् तस्याः कथात् विद्यातयेत् अपि तु वै तदभाव-  
घटितकथालक्षणस्य केनाण्यनुकृत्वान् प्रत्युत तत्रिवेदाभ्यनुज्ञान-  
स्यापि कुचिदित्यनात्, यदकं कथालक्षणमधिकृत्य । आर्या-  
वज्ञापवक्त्राणां कन्दमा येन केनचिदिति । तस्मादविचारवि-  
ज्ञमितोऽयं भेदकरणप्रयात् इति । सोऽन्धासत्यस्य भेदकवं  
दूषयति । भेददर्शति । सम्भः कथापरिच्छेदस्य संज्ञा, आदिना  
उज्जासादीनां यहणं, भेदोभिन्नः, वाश्वदश्वार्थः, सम्भादिह-  
क्षामस्येति विभिन्ननामा कथाख्यायिकयोः परिच्छेदोऽद्योऽसु  
ततः किं, संज्ञाया विभिन्नत्वात् किमपि, न हि घटकलमेति  
संज्ञादयेन संज्ञिनोघटस्य भेदः शक्यते वक्तु, स्वरूपैलक्षण्य-  
स्यैव भेदकत्वात् यथा घटपटयोरिति, दृष्टे इति कुचिदि-  
तिशेषः कादम्बर्यादौ सम्भकस्याण्यनिवेशात् ॥ २६ ॥ २७ ॥

तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञादयाद्विता ।

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषास्याख्यानजातयः ॥ २८ ॥

अत्र स्वमतमाह । तदिति । एका जातिरेकजातीया गद्यम-  
यत्वलक्षणेकधर्मवच्चादेकैवेत्यर्थः । संज्ञादयाद्वितेति घटकलम-  
संज्ञादयत् कथाख्यायिकासंज्ञाभ्यामेक एवार्थः प्रतिपृष्ठत

इत्यर्थः । इत्यं प्रधानभेदयोरभेदं प्रतिपाद्य इतरभेदानामय-  
स्त्रीहकानां तत्तद्वेदकधर्ममपयोजकं मन्यमानस्तान् सामाज्य-  
स्त्रीप एवान्तर्भावयति । अत्रैवेति । पुंप्रधानवर्णमाख्यामम्,  
आख्यानजातयः आख्यानत्वरूपसामान्यधर्मवत्तः खण्डकथा-  
र्थः । अत्र अत्रैवान्तर्भविष्यन्तीतिभाविप्रयोगात् प्रौढिवादेना-  
भेदप्रतिपादनं यन्यक्तो न तु वस्तुतः, प्रामाणिकतमैर्मुनि-  
भिरपि तत्तद्वेदाभ्युपगमात् । यथा आश्रेये । “आख्यिका  
कथा खण्डकथा परिकथा तथा । कथालिकेति मन्यन्ते गद्य-  
काव्यस्त्री पञ्चधा” इति । एवं कथाख्यायिकयोरप्यभिन्नतप्रति-  
पादनमेतन्मूलकमेवेति मन्यम् ॥ २८ ॥

कन्याहरणसंग्रामविप्रलभ्योदयादयः ।

सर्गवन्धसमा एव नैते वैशिष्ठिका गुणाः ॥ २९ ॥

वर्णनोयभेदेन कथाख्यायिकयोर्भेदं त्रुवतामपि मतं दूष-  
यति । कन्येति । कन्या अजातोपयमा पुरुषान्तरे प्रतिपाद-  
नाय कृतनिश्चया तस्या द्वरणं युद्धादिना यहणं रात्रसविवाह  
इत्यर्थः । रात्रसोयुद्धहरणादिति स्तेतः । विप्रलभ्यः पूर्व-  
रागमानप्रवासकरणात्मकतया चतुर्विधः, स च सम्भोग-  
स्तोपलचकः, विप्रलभ्यानन्तरं सम्भोगवर्णनस्यावस्थकत्वात् ।  
उदयः सूर्याचन्द्रमसोः नायकस्याभ्युदयो वा, आदिना पुर-  
पर्वतकाननादयः । एते आख्यायिकाद्या विशेषधर्माः परैक-  
च्चन्ते । यथाख्यायिकामुपकस्याह भामहः । कन्याहरणसंग्राम-

विप्रलक्षोदयाच्छितेष्यादि । सर्गदम्भेति । सर्गदम्भसमाः भरा-  
कायसाधारणा एव, का कथा कथायां, महाकाव्येण्टे  
वर्षन्ते तस्मात् वैशेषिका गुणाः अवच्छेदका धर्माः । गच्छ-  
खायिकायामेषां नियतलमन्यत्रानुष्ठ्रिकतमितीदमेव भेद-  
कमस्त्विति वाच्यं कथम्भिदपि साधारण्यवतां भेदकला-  
नज्ञीकारात् असाधारणानामेव तथात्माचित्यात् उक्तस्तु, अय-  
मेव हि भेदोभेदहेतुर्षां यद्विरुद्धधर्माध्याम इति ॥ २८ ॥

कविभावकृतं चिन्हमन्यत्रापि न दुष्टति ।  
मुखमिष्टार्थसंसिद्धौ किं चिन स्यात् कृतात्मनाम् ॥ ३० ॥

ननु कवेरभिप्रायकृतैरद्वन्नैरद्विता कथेति भास्महोक्ता  
कथायां किञ्चिच्चिक्कं निवेशनीयं तदेवानयोर्भेदकमिति भतं  
दूषयति । कवीति । कवेर्भावाऽभिप्रायस्तेज कृतं चिक्कं । यथा  
शिष्ठुपालवधे सर्गान्तस्त्रोकेषु श्रीशब्दः, किरात शुनीये च  
लक्ष्मीशब्दः । तदन्यत्रापि न दुष्टति आख्यायिकायामपि  
निवेशनीयं चिक्कं दुष्टं न भवति तस्य कवेरिच्छाधीनत्वेना-  
नियतलात् । एतदेवाह । मुखमिति । इष्टार्थसंसिद्धौ अभि-  
प्रेतार्थसम्यादने मङ्गलाद्यर्थमित्यर्थः कृतात्मनां कृतयन्नानां  
किं हि मुखं कः प्रारम्भो न स्यात् सर्वमेवेच्छया प्रारम्भणीयं  
भवेदित्यर्थः । मुखमित्यत्र सुखमिति पाठे सुखं सुखदमप्रति-  
वद्वमित्यर्थः ॥ ३० ॥

मिश्राणि नाटकादीनि, तेषामन्यत्र विस्तरः ।  
गद्यपद्यमयो काचिच्चम्भूरित्यभिधीयते ॥ ३१ ॥

कमप्राप्तं मिश्रकाव्यमाह । मिश्राणीति । नाटकादीनि  
दृश्यकाव्यानि मिश्राणि गद्यपद्याभयमिश्रितत्वान् मिश्रमंज-  
कानि योगार्थवलादेव स्तुत्याभः । आदिशब्दात् प्रकरण-  
दिरूपकाणां नाटिकाद्यपरूपकाणां च परिग्रहः । नाटका-  
दिलक्षणजिज्ञासुन् प्रत्याह । तेषामिति । तेषां नाटकादी-  
नामन्यत्र भरतादियन्येषु विस्तरः प्रपञ्चः, तस्मादसामित-  
वैफल्यभियात्र नोक्तानि तत्रैव ज्ञातव्यानोत्तर्यः । तानि च  
नामतो यथा । “नाटकमय प्रकरणं भाणव्यायोगसमवका-  
रडिमाः । ईहास्त्रगाङ्गवीष्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ।  
नाटिका चौटकं गोष्ठी सट्टकं नाव्यरासकं । प्रस्थानोऽक्षा-  
यकाव्यानि प्रेह्लनं रासकं तथा । संलापकं श्रीगदितं  
शिल्पिकम् विलासिका । दुर्घटिका प्रकरणो हस्तीशाभा-  
णिकेत्यपि । अष्टादश प्राङ्गरूपरूपकाणि मनोषिणः” इति ।  
दृश्यकाव्यस्य मिश्रत्वमुक्ता अव्यकाव्यस्यापि तदाह । गद्य-  
पद्यमयोति । अत्र गद्यपद्यलं पद्यमयलम्भाधिक्येन ज्ञेयम् । अ-  
न्यथा आख्यायिकादौ यत्किञ्चित् पद्यसङ्गावेन मिश्रत्वं प्रस-  
ज्जेत । काचिदिति न तु सर्वा तेन गद्यपद्यमया राजस्तुते  
र्विरुद्धसंज्ञान्यैका ज्ञातव्या । यथा । “गद्यपद्यमयो राजस्तु-  
तिर्विरुद्धमुच्यत इति ॥ ३१ ॥

तदेतदार्थं भूयः संस्कृतं प्राणतं तथा ।  
अपभंशस्य मिश्रचेत्याङ्गरार्थास्तुर्विधम् ॥ ४२ ॥

एवं गच्छादिभेदेन कायस्य चैविष्णवमुक्ता पुनरपि भाषा-  
विभेदेन चातुर्विधमाह तदेतदिति । वाऽप्यत्रं कायप्रबन्धः  
मंस्कृतं मंस्कृतभाषामयम्, एवमर्यादिपि, मिश्रं मंस्कृतादिनामाभा-  
षामयम् । एवं भाषार्था नामान्वात् कवयः संस्कृतादेन एक-  
या दाख्यां तिष्ठभिर्वड्डीभिर्वां भाषाभरितिवृत्तं वर्णयेद्यु-  
दाह भाग्नराजः । “संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राणतेनैव चापरः ।  
इकोवाचयितुं कश्चिदपभंशेन वा पुनः । पैश्चाच्चा शोरमेत्याच  
मागधान्योनिवस्थते । द्विचाभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि  
कद्यन्ति ॥ ४२ ॥

संस्कृतं नाम दैवो वागन्वास्याता महर्पिभिः ।  
तद्वक्षुत्समोदेशीत्यनेकः प्राणतक्रमः ॥ ४३ ॥

मंस्कृतादोनां लक्षणमाह । मंस्कृतमिति । दैवो दैवतम-  
स्कारसम्यक्ता देवैरच्चार्यमाणा वा वाक् महर्पिभिः पाणिन्या-  
दिभिः, नामेति प्रसिद्धौ, मंस्कारसम्यन्तत्वात् मंस्कृतमन्वा-  
स्याता मंस्कृतेत्याख्यया पश्चात्प्रवृत्ता, उद्देश्याधीनत्वात्  
स्त्रीत्वम् । अनुपदप्रयोगाच शब्दनिलतावादे स्त्रमः सूचितः,  
पाणिन्यादयो हि तत्त्वाकरणस्त्रैः प्रकृतिप्रत्ययादिविभा-  
गपरिकल्पनया नित्यायाः संस्कृतवाचः प्रतिपत्त्यर्थं जिञ्चा-

यां संखारोपायः प्रदर्शितः जतु वाक्सम्भादिता चिताया  
इवाचार्यानसभवात् । प्राहृतं निर्वक्ति । तद्व इति । प्रा-  
हृता नोचास्तसमन्वितात् प्राहृतम् । अवर्थवस्त्रादेव स्वच्छ-  
शाभः । संखृतरूपायाः प्रकृतेष्ट्यन्ततात् प्राहृतमिति कस्ति ।  
स्वच्छ क्रमोव्यवस्था संखृतोत्पन्नत्वेन संखृतसदृशत्वेन तत्तदेश-  
व्यवहतत्वेन सानेकोबज्जिधः, तत्र साचात् संखृतोत्पन्ना  
महाराष्ट्री भाषा, शैरसेन्यादयः संखृततुल्याः अपराश्च तत्त-  
देशविलमिताः, केचित्तु देशीनामपि संखृतसादृशात् द्वा-  
वेव भेदावाङ्गः । यथा, “अर्थात्यमार्षतुल्यम् द्विविधं प्राहृतं  
विदुः” इति । वस्तुतस्तु सर्वासामपि प्राहृतभाषाणां संखृ-  
तोत्पन्नतात् क्रियाकारकात्मयादिमत्त्वेन संखृतसादृशात् म-  
हाराष्ट्रादितत्तदेशव्यवहतत्वरत्वाचैकत्रैव संखृतभवत्वादि ध-  
र्मव्ययमस्तोति ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राहृतं विदुः ।

सागरः द्वित्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥ ३४ ॥

प्राहृतस्तोत्कर्षापकधौ दर्शयति । महाराष्ट्राश्रयामिति ।

\* महाराष्ट्रोदत्तिणापथवर्ती, देशविशेषः, तदाश्रयां पूर्वं तत्र-  
त्यजनव्यवहतां महाराष्ट्रीं भाषां प्रकृष्टमुच्चमं प्राहृतं विदुः  
पण्डिता जानन्ति, साचात् संखृतोत्पन्नत्वेन संखृतवच्छ्रोदृणां  
श्रुतिसुखजनकत्वात्, अतएव प्राक्तनाः कवयोऽन्याभाषया  
सुवङ्गन् चमत्कारकारिकाव्यप्रबन्धान् निर्षमुरित्याह । सागर-

इति । सूक्तयश्चमत्कारजनकवचनान्येव रद्वानि तेषां सागरः  
सागररुपोनिलयः सेतुबन्धः प्राकृतकाव्यविशेषः तदादि,  
आदिना दग्धमुखबधादिपरियहः, यन्मयः घया महाराष्ट्रा  
रचितः ॥ ३४ ॥

शौरसेनो च गौडो च लाटो चान्या च ताढशी ।  
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम् ॥ ३५ ॥

अन्यान्यपि प्राकृतानि दर्शयति । शौरसेनोति । शूरसे-  
नोमथुरासन्निहितदेशविशेषः, गौडः कीकटवङ्गयोरन्तराल-  
देशः, लाटो दचिणदेशविशेषः, एतदेशत्रयव्यवहृतपूर्वा भाषा,  
शौरसेनोप्रभृतिः तथा ताढशी तत्प्रजातीया तत्तदेशनामोप-  
लचिता अन्या आवन्नीमागधीप्रभृतिश्च, प्राकृतमित्येवं प्राकृ-  
तेति नान्या व्यवहारेषु नाटकादिवर्णनोयतत्तदेशोयजनोक्ति-  
प्रत्युक्तिपु सन्निधिं याति कविभिर्निवेश्यते, ताढशीत्यनेन  
देशनामोपलचिताः सर्वा एव भाषाः प्राकृतमंज्ञयोर्च्छन् इति  
सूचितम् । ताच्च प्राच्यावन्नीमागध्द्वमागधीद्राविद्वाही-  
कीप्रभृतयः । जात्यादिनामोपलचित्तानान्वपभंशलमित्यनन्त-  
रमेव वच्यते ॥ ३५ ॥

आभीरादिगिरः काव्येष्यपभंश इति सृताः ।  
शास्त्रेषु मंस्कृतादन्यदभंशतयोर्दितम् ॥ ३६ ॥

अपभंशं निरूपयति । आभीरादीति । काव्येषु नाटकादिषु  
आभीरादिगिरः आभीरीप्रभृतयो गोपचाण्डालशकारादीनी

व्यवहरणीया भाषा अपभंग इति सूताः अपभंशनाका भाषा  
निरूपकैर्निरूपिताः । काव्येवित्यस्य व्यादृच्चिं दर्शयति । आ-  
स्तेविति । शास्त्रेषु वेदादिशास्तोक्यज्ञादिषु । अतएवोक्तं,  
न लेखितव्यं अज्ञादाविति । संखृतादलदिति । तत्र प्राकृत-  
स्थायपभंशलभित्यर्थः । प्रसङ्गादिदमुक्तम् ॥ ३६ ॥

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादिकम् ।  
आसारादोन्यपभंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥ ३७ ॥

एवं संस्कृतप्राकृतापभंशान् स्त्रियित्वा यथोद्देशं स्त्रियो-  
स्य मिश्रस्य दोगशक्त्या नानाभाषामिश्रितलक्ष्यपलक्षणाभात्  
निरर्थकं तत्पर्दर्शनमिति तत्परित्यज्य संप्रति नियमाय सर्वेषां  
स्त्रियाणि प्रदर्शयति । संस्कृतमिति । सर्गबन्धः सर्गनामकैः  
परिच्छेदैर्बधमानः प्रबन्धोमहाकाव्यमित्यर्थः, आदिना देवसु-  
त्यादिखण्डकाव्यपरियहः, संस्कृतं संस्कृतभाषामयमेव । अत-  
एवाग्रेये । सर्गबन्धोमहाकाव्यमारभं संस्कृतेन यत् । तद्वां  
न विशेषत्र तत्समं नापि किञ्चनेति । इत्यस्य महाकाव्यस्य  
संस्कृतलनियमात् तत्र शौचानामपि संस्कृतप्रयोगो न दोषाय,  
भाषाणां वक्तृविशेषगतलनियमस्तु नाटकादिमिश्रकाव्य एवेति  
वक्त्यामः । प्राकृतमिति । स्कन्धकं छन्दोविशेषः आदिना  
गतिकादीनां यहषम् । उक्तस्य छन्दसा स्कन्धकेनैतत् क्वचिद्  
गतिकैरपीति । स्कन्धकादिच्छन्दोबहुं काव्यं प्राकृतमयमेव  
भवतीत्यर्थः । यथा सेतुबन्धादि । एतदुपस्थित्यम्, उपरू-

यकान्तर्गतसदृकस्यापि प्राणतमाचमयतं ज्ञेयं । यदाह ।  
 सदृकं प्राणताशेषपाचं स्वादप्रवेशकमिति । स्कन्धकादिकमि-  
 त्यत्र स्कन्धकादि यदिति क्षचित् पाठः । आसारादीनीति ।  
 आसारादीनि छन्दोविशेषाः तत्रिवद्दुं काचमपभंशमयमेव  
 कर्त्तव्यमित्यर्थः । तत्र परिच्छेदस्य कडवकसंज्ञा, यदुकम् ।  
 अपभंशनिषद्देश्मिन् सर्गाः कडवकाभिधाः । तथापभंश-  
 योग्यानि छन्दांश्च विविधानि चेति । यथा कर्णपराक्रमादि ।  
 नाटकादिलिति । तुरेवार्थे, नाटकाद्येवेत्यर्थः, आदिना प्रकर-  
 णादिरूपकाणां सदृकवर्जीं नाटिकाद्युपरूपकाणाऽन्त यहणं ।  
 तत्र रूपकाणि दश, उपरूपकाण्यष्टादश, यदुकं, नाटकमय  
 प्रकरणं भाष्यायोगसमवकारडिमाः । ईहास्त्रगाढ़वीयः  
 प्रह्लनमिति रूपकाणि दश । “नाटिका चोटकं गोष्ठी सदृकं  
 नाच्यरामकम् । प्रस्थानोऽन्तायकाच्यानि प्रेक्षणं रामकं तथा ।  
 संखापकं श्रीगदितं शिल्पिकम् विलासिका । दर्शकिका प्रक-  
 रणी हळीशा भाष्णिकेत्यपि । अष्टादश प्राङ्गरूपरूपका” ए मनो-  
 षिणः” इति । एषां सञ्चणानि दशरूपकादौ भातव्यानि ।  
 मित्रकमिति, नानाभाषात्मकलाशिश्वसंज्ञकमित्यर्थः । यथा  
 अभिज्ञानशकुन्तलमालतीमाधवादि । नानाभाषात्मकलम् ना-  
 टकादौ तत्तदकृणां तत्तद्वाषाभिरेवोक्तिप्रत्युक्तिनियमात् ।  
 यदुकं नाटकाद्यधिकत्य । “पुरुषाणामनीचानां संख्यां स्वात्  
 स्तात्मनाम् । शोरसेनो प्रयोक्तव्या तादृशीनाऽन्त योषिताम् ।  
 आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् । अबोका माङ्गधी

भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् । चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिना-  
ञ्चार्द्धमागधी । प्राच्या विद्वशकादीनां धूर्त्तानां खादवन्तिका ।  
योधनागरिकादीनां दाचिणात्याहिदीच्यताम् । शकाराणां  
शकादीनां शाकार्णे संग्रहोजयेत्” इत्यादि ॥ १७ ॥

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ।

भृतभाषामयों प्राङ्गरङ्गतार्थी वृहत्कथाम् ॥ ३८ ॥

मिश्रस्योदारणान्तरं दर्शयति । कथाहीति । कथा गद्य-  
काव्यविशेषः पूर्वोक्तः । हीति यस्मादर्थे, यतः कथा सर्वभा-  
षाभिर्बध्यते अतः सापि मिश्रमित्यर्थः । हीतात्र अपीति पाठे,  
कथापि मिश्रं यतः सा सर्वभाषाभिर्बध्यत इति हेतुहेतु-  
मङ्गवेनान्वयः । ननु कथालेन प्रसिद्धे कादम्बर्यादौ सर्व-  
भाषामयतं नास्तीत्यच्चाह । संस्कृतेन चेति । अयमाश्रयः,  
सर्वभाषामयतं केवलसंस्कृतमयत्वमेति कथायां प्रकारददृशं,  
तत्र पूर्वोक्तप्रकारे मिश्रलमिति । कथाप्रसङ्गेन वृहत्कथार्था  
लक्षयति । भृतभाषामयोमिति । भृतभाषा पैशाची भाषा,  
अहृतार्थामहृतरसव्यच्चिकाम् । पैशाच्यासापभंशरूपलादप-  
भंशकाव्यं वृहत्कथेति इत्यम्, यथा वृहत्कथासरित्प्रागरः ।  
वृहत्कथासरित्प्रागरसारस्तु संस्कृतेन तस्यानुवादरूपः ॥ ३८ ॥

लास्यच्छलितश्ल्यादि प्रेक्ष्यार्थमितरत्पुनः ।

अव्यमेवेति सैषापि द्वयो गतिरुदाहृता ॥ ३९ ॥

पुनरपि दृश्यश्वयत्वमेदेन काव्यस्य भेददृश्यमाह । खा-

स्तेति । स्त्रीजगहातं इष्टाररसप्रधानं नृत्यं साक्षं । तदाह ।  
 सासः स्त्रीपुंसयोर्भावसहस्रदईं तत्र साधु वा । साक्षं, मनसिजो-  
 सासकरं स्वद्वज्ञासाववत् । देवै देवोपदिष्टतात् प्रायः स्त्रीभिः  
 प्रयुज्यते हति । भरतश्च । “कोमलं मधुरं सासं इष्टाररस-  
 संयुतम् । गौतीतोषकरसापि स्त्रीनृत्यम् तदुच्चत” इति ।  
 कूलितं पुनृत्यं । तदाह । पुनृत्यं कूलितं प्राङ्गरिति । शन्या,  
 भाले इस्तं समावेशं नृत्यं शन्येति कीर्तिमित्युक्तस्तत्त्वा ।  
 शन्येत्यच साम्येति पाठे, साम्यं गोतवाद्यस्तयसमयनृत्यमन्त्येरा-  
 सकनाम्बा पठितम् । “आदिना ताण्डवहस्तीशरामानां यह-  
 एम्” । उक्तच्च । “तस्मासां ताण्डवस्तेति कूलितं शन्यथा मह ।  
 इस्त्रीशकम्भ रामच्च षट्प्रकारं प्रचक्षते” इति । ताण्डवमुद्गत-  
 पुनृत्यं, यथा, “वीररौद्ररसाधारमुद्गतं शङ्खरप्रियम् । पुह-  
 षेण समारभं नृत्यं ताण्डवमुच्यत” इति । अन्यच्च । “उद्गुतन्  
 महेशस्य शासनात्तण्डुनोदितम् । भरताय, ततः ख्यातं स्त्रोके  
 ताण्डवमंज्ञया” इति । इस्त्रीशं मण्डलाकारेण स्त्रीमभूहनृत्यं,  
 यथा, “मण्डलेन तु यत् स्त्रीणां नृत्यं इस्त्रीशकम् तत् । तत्र  
 नेता भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा इदिः” इति । इस्त्रीशमेव  
 तालुबन्धविशेषयुक्तं रासकम् । इत्यं साक्षादिसहितं काव्यं  
 प्रेक्ष्यार्थं प्रेक्ष्यः सामाजिकैर्दृश्यार्थः नटैरामाणवस्त्रामुकरणेन  
 प्रकाशमानं काव्यप्रतिपाद्यं यत्र तदिति व्युत्पत्त्या सक्षणसाभः  
 तत्त्वाभिनयप्रधानं नाटकादिकम् । अव्यमाह । इतरदिति ।  
 इतरत् प्रेक्ष्यार्थकाव्यादभिक्षं मुक्तकादिकं अव्यमेव अवण-

आचविषयतावत् । अवणमाचविषयतं अव्यस्तक्षणमित्यर्थः,  
तदाहु भोजराजः । अव्यं तस्काव्यमाङ्गर्यमेष्ट्यते नाभिधीयते ।  
ओचयोरेव सुखदं भवेत्तदपि षड्ब्रह्मिति । एतेज माट-  
कादौ दर्शनविषयत्वसामानाधिकरण्येन अवणविषयत्वात् अव्य-  
त्वप्रसक्तिः । केचिच्च अव्यमेवेत्येवकारेण गेयलादिना परह-  
तानां अव्यभेदानां निरासः कृतः तेषामस्मान्ते अव्यएवान्त-  
भावादिति वदन्ति । इति इत्यं सा प्रसिद्धा प्राचीनैरङ्गोक्तते-  
त्वर्थः, एषापि, अपि: पूर्वभेदसमुच्चये, दयो गतिः पन्था दिवि-  
धाभेद इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अस्यनेकोगिरा मार्गः स्त्रमभेदः परस्परम् ।  
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ष्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ ४० ॥

इत्यं सप्रभेदं काव्यशरीरं निरूप्य अलङ्कारात् दर्शिता  
इत्यनेन निरूपयितव्येषु गुणालङ्कारेषु प्रथमं तावद्गुणान्  
निरूपयितुं वाचां विचित्रमार्गाणामित्यनेनोऽङ्गितां रीति-  
माह । अस्यनेक इति । मार्गः पदविच्चासप्रणाली रीतिरि-  
त्वर्थः । अनेक इति । गौडी वैदर्भीं पाञ्चालीं चेति चिविध  
• इति वामनः । साटीमहितास्ता इति चतुर्विध इति विश-  
नाथप्रभृतयः । षड्ब्रह्म इति भोजराजप्रभृतयः । यथा “वैद-  
र्भीचाय पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा । साटीया मागधी  
चेति षोडा रीतिर्मिगद्यत” इति । अस्तीति प्राचां यन्देषु  
निरूपित इति चेषः । अस्ति चेत् भवतापि निरूप्यतामित्य-

त्राह । सुश्चेति । परस्परं सूक्ष्मः प्रणिधानगम्यः अत्यन्त इत्यर्थः भेदोयस्य सः । तथाहि पाञ्चाली, वैदर्भींगीचोरन्तरालवर्जनीति तदुभयरूपैव, एवं साटी वैदर्भींपाञ्चालीरिति तद्रूपैव, एवमन्या अपि बोधाः । अतस्य किञ्चिद्देवतां प्रदर्शनेन यन्यपञ्चवनमप्रयोजनमिति तत्सर्वं यन्यान्तरतोवेदितव्यमिति भावः । इत्यं पाञ्चाल्यादिव्यसम्भविति प्रदर्श्य वैदर्भींगीचोरव निरूपणं प्रतिज्ञानीते । तत्रेति । तत्र तेषु मार्गेषु भवेत् । वर्णेते इत्यत्र हेतुः प्रस्फुटान्तराविति, सुकुमारविकटात्मकत्वेन अत्यन्तविसदृशावित्यर्थः, ईदृशानामेव पृथिङ्ग्रहपृष्ठमुच्चितमिति भावः ॥ ४० ॥

स्मैषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥ ४१ ॥

इनि वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।

एषां विपर्ययः प्रायो दश्यते गौडवर्त्मनि ॥ ४२ ॥

प्रतिज्ञाते वैदर्भींगीचोर क्रमेणाह । स्मैष हति । गुणाः अव्यार्थयोरुत्कर्षाधायकलाङ्गुणव्यवाच्चाः स्नेषादिसमाधनादश वैदर्भमार्गस्य वैदर्भरीतिमत्काव्यवन्धस्य प्राणाः प्राणवद्भीवकाः तान् विना तत्र निष्प्राणदेहे देहियवहारस्येव वैदर्भजनानां काव्यवहारस्यानङ्गीकारात् । इत्यस्य स्नेषादिगुणवतो पदरसाना वैदर्भीति खचणमायातं भवति, अत्र च स्वन्यप्राणाङ्गरवत्त्वादिसामानाधिकरण्येन गुणानां लक्षणत्वम-

वगन्तव्यं ताष्टशसामानाधिकरणस्यापि तत्रावश्च निवेशत्वा-  
यदाह रुद्रटः । “असक्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैद्यर्मी ।  
वर्गद्वितीयबज्जला स्त्र्यप्राणाच्चराच सुविधेया” इति । नव्या-  
स्वात्मनः शैर्यादीनामिव रसस्य धर्मालां माधुर्यैऽजःप्रमा-  
दानामेव गुणतं न तु शब्दार्थमाच्चत्तीनां स्नेहादीनां  
दशानामित्याङ्गस्त्राचोनसम्प्रदायविरुद्धमिति सूचयन्नाह,  
स्त्रीता इति । प्राचीनैराच्चाता अवश्च मन्त्रव्या इत्यर्थः । गौडी-  
माह । एषामिति । गौडवर्त्मनि गौडरीतौ, एषां स्नेहादि-  
दशगुणानां विपर्ययैवपरीत्यं, स च क्वचिदत्यन्नाभावरूपः  
क्वचिदर्थेन समन्वरूपस्त्र, प्राय इत्यनेन च कुचक्षिदैद्यर्मीगौडीया:  
साम्यमपि वर्तत इति स्त्रिचितं । साम्यस्त्र गुणविरुद्धासमन्वात्  
किञ्चिद्गुणमन्वन्वाच्च, अतएवोक्तमसमस्तगुणा गौडीति । इत्यस्त्र  
वैद्यर्मीविरुद्धधर्मवतो पदरचना गौडीति स्त्रियमुक्तं भवति, ता-  
दृशविरुद्धधर्मवत्तस्त्र दीर्घसमाप्तादिना बन्धवैकव्यरूपं । यदाह  
पुरुषोत्तमः बज्जतरसमाप्तयुक्ता सुमहाप्राणाच्चरा च गौडीया ।  
रीतिरनुप्राप्तमहिमपरतन्वाऽस्त्रोभवाक्या चेति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

स्त्रियमस्युष्टैश्चित्यल्यंमन्यप्राणाक्षरोत्तरम् ।

शिथिलं, मालतीमाला लोलालिकलिला यथा ॥ ४३ ॥

कमेण स्नेहादिगुणानां स्त्रूपमाह । स्त्रियेति । अत्यः  
प्राण उच्चारणप्रयत्नो येषां ताष्टशान्वच्चराष्ट्रुत्तराणि प्रधा-  
नानि, सुबह्नीत्यर्थः, यत्र तत्, अस्यप्राणाश्च स्त्ररा वर्गेच्चा-

युग्मवर्णा चरस्वात्मा । अतएव शिथिलम् । अचापिकारोऽध्याहत्त्वं च । शिथिलमपि अनुहृतमपीत्यर्थः अस्यैषमप्रकाशितं शिथिलं यस्य तत्, विन्यासविशेषेण शिथिलस्तेनाप्रतीयमानमित्यर्थः तादृशं वाक्यं स्थिष्टं स्फेषाख्यगुणवत् । इत्यस्त्र अल्पप्राणवर्णघटितलेन शिथिलस्तापि विन्यासविशेषवशेनाशिथिलत्वेन प्रतिभासनं स्नेष इति लक्षणं ज्ञातव्यम् । लक्षणं दर्शयति । माज्जतोति । लोलैरितस्ततः पतद्विरसिभिः कस्तिलाव्याप्ता । अत्र मकारादयोवर्णा अन्यप्राणाः, तद्वितमपि वाक्यं सानुप्रासविन्यासमहित्वा किञ्चिद्गादमिव प्रतिभाति । अन्येतु वर्णमात्रघटितानामपि बहूनां पदानां गाढताहेतुदीर्घसमाप्तरहितलेऽपि विन्यासविशेषेणैकपदवद्वामनरूपमण्डित्यं स्नेषः तादृशस्त्रेषु गौड्यामपि सम्भवतीत्याङ्गः । तस्योदाहरणं यथा । “उच्चाञ्जञ्जलकुञ्चरेष्टरभसास्कालानुबन्धाद्धतः सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिधानिनोः । उच्चेहरति धनिः श्रुतिपदोभाष्यो यथायं तथा प्रायः प्रेष्टदमङ्गमङ्गधवला वेलेयमुद्गच्छति” इति । अत्र वन्धवैकायाद्वाद्येव । वस्तुतस्तु अल्पप्राणाचरघटितस्तापि वन्धस्यान्तरान्तरा महाप्राणाचरविन्यासेन किञ्चिद्गाढत्वं स्नेष इति कमदीश्वरोक्तमादरणीयं यथा, अल्पप्राणेषु वर्णेषु विन्यासोऽप्यक्तरान्तरा । महाप्राणस्य च स्नेषोयथायं भ्रमरध्वनिरिति । अन्यथा स्नेषस्यानुप्रासादिघटितले तद्वितवत्त्वमाणमाधुर्याद्यभिन्नतापत्तिरिति ध्येयम् ॥ ४३ ॥

अनुप्रासधिया गौडैत्यदिष्टं बन्धगौरवात् ।  
वैद्वर्भमालतीदाम लहितं अमरैरिति ॥ ४४ ॥

उक्तस्तत्त्वः स्तेषः कच्चिद्गौडैरप्याद्वियतदत्याह । अनु-  
प्रासेति । अनुप्रासोवर्णादत्तिरूपः शब्दालङ्कारविशेषः तस्मा-  
धिया ज्ञानेन, बन्धगौरवात् रचनाया गाढतज्जानात् । गौ-  
डैगौडैश्चोयकविभिः, तत् तथाविधं मालतीमाला लोकात्मि-  
कलिलेत्यादि स्तेषोदाहरणम्, इष्टमिति गौडानामनुप्रास-  
प्रियत्वादिति भावः । एवम् पुरुषोत्तमादिकृतगौडीलक्षणे  
सुमहाप्राणाच्चरेति विशेषणं प्रायिकाभिप्रायेणेति ज्ञेयम् ।  
नन्वेवं वैद्वर्भगौडोरैक्यमापत्तिमित्यत्राह । वैद्वर्भैरिति ।  
इतीति इत्यपीत्यर्थः अनुप्रासशूल्यमपि मालतीदामेत्यादि-  
वाक्यं विद्वर्भदेशीयैः स्त्रियेनेष्टमित्यर्थः, कुचचिदनुप्रास-  
सङ्घविडपि सर्वत्र तदभावादनुप्रासविरहिष्यपि वैद्वर्भाण्णं  
स्तेषाङ्गीकारात् वैद्वर्भगौडोः समानविषयत्वमिति भावः ।  
अस्मि चायास्यृष्टैयित्यत्वं सहइदयानुभवसिद्धम् । अत्र मका-  
राणां चयाणां लकारयोस्तकाकारयोस्त्र्य दयोरादृत्तावपि व्यव-  
हितस्थितत्वेन चमक्ताराजनमाज्ञानुप्राससम्भवः, वक्ष्यति च  
पूर्वानुभवसंखारसेधिनो यद्यदूरतेति । अथम् स्तेषः शब्द-  
गुणः । अर्थगुणः स्तेषस्तु क्रमकौटिल्यानुस्येत्वोपपत्तियोग-  
रूपघटनात्मकोऽन्यैरक्षोज्ञात्मकः, तत्र क्रमः क्रियासन्ततिः,  
कौटिल्यं विद्युधचेष्टितम्, अनुज्ञात्वमप्रसिद्धवर्णनाविरहः,

उपपत्तिहपपादकयुक्तिविचारः, एवां योगः संमेलनं स एव  
रूपं यस्या घटनावास्त्रहात्मकः । यथा, “हृष्टैकाशनसंस्थि-  
ते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरादेकस्या नयने पिधाय विहित-  
कीडानुबन्धच्छसः । ईषदकितकन्धरः सपुत्रकः प्रेमोऽस-  
न्मानसामन्तर्हासलस्त्वपोत्सफलकां धूर्तोऽपरां चुम्ति” ।  
अच दर्शनादयः क्रियाः, उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यं, खोक-  
ववशाररूपमनुच्छणत्वम्, एकामनसंस्थिते, पश्चादुपेत्य, नयने  
निमील्य, ईषदकितकन्धर इति चोपपादकानि, रत्येषामन्त्र  
योगः ॥ ४४ ॥

प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।  
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः ॥ ४५ ॥

प्रसादं लक्ष्यति । प्रसादवदिति । प्रसिद्धार्थं प्रसिद्धार्थं  
प्रतिपादकम्, उभयार्थकश्चस्या प्रसिद्धार्थं प्रयोगे निहतार्थ-  
त्वरूपदोषपत्त्वा प्रसिद्धार्थं प्रयुक्तमित्यर्थः, तथा प्रतीतै  
सुभगं सुन्दरम्, अधिकपदलकष्ट्वादिदोषासम्बन्धेन इटि-  
त्यर्थापस्थापकमित्यर्थः । ईरुशं वचे वाक्यं प्रसादवत् प्रसा-  
दात्यगुणयुक्तमित्यर्थः, एव च दोषाभावक्तमर्थस्य वैमस्यं  
प्रसाद इति लक्षणं, तस्य वाक्यगतलं परम्परयेति वोध्यम्,  
अस्थोदाहरणं दर्शयति । इन्दोरिति । इन्दीवरद्युति आम-  
स्यम्, लक्ष्म कल्पः । अचेन्दिन्दीवरादयः शब्दाः प्रसिद्ध-  
चक्रार्थैषु प्रयुक्ताः श्रुतिमाचतस्यार्थवोधकाः ॥ ४५ ॥

व्युत्पन्नमिति गौडोर्यैर्नातिरुद्धमपीव्यते ।  
वैथानत्यर्जुनाभ्यसदृक्षाङ्कोवलक्षणः ॥ ४६ ॥

अस्म गौर्या विपर्ययं दर्शवति । व्युत्पन्नमिति । गौ-  
डीयैः पुनर्नातिरुद्धमपि अनतिप्रसिद्धमपि निहतार्थलादि  
दोषवदपीत्यर्थः व्युत्पन्नं व्युत्पन्नमत् बन्धगौरवप्रतिभासनेन  
वैचित्रवदित्यर्थः, इत्येवं मत्वा इत्यते । अयं भावः, गौडा हि  
शिथिलबन्धे काष्ठे निहतार्थलादिदोषान् मन्यन्नएव परन्तु  
यत्र गाढोषबन्धस्तद्युद्धमपि वैचित्रवदित्यमित्याद्रियज्ञे इति ।  
यथेति । अनत्यर्जुनमनतिधर्षलं किञ्चित्त्रिलमित्यर्थः यद्बन्ध  
इन्द्रीवरं तस्य सदृक्षस्तुत्योऽङ्कः कलङ्कोषस्य सः, बलक्षो-  
धवसो गौः किरणोयस्य सः चक्र इत्यर्थः । अत्रार्जुनशब्दः  
कार्त्तवीर्यपाण्डवविशेषयोः प्रसिद्धः, शुक्लवर्णं तप्रसिद्धं इति  
निहतार्थः, अब्यनशब्दश्च न केनापि प्रायेणात्यन्ते प्रयुक्त  
इत्यप्रयुक्तः, एवमुपमितिगर्व्यवङ्गीहिणैव आदृश्वोधसम्भवे  
सदृक्षशब्दशाधिकः श्रुतिकटुस्य, एवं बस्तुशब्दोऽप्रयुक्तः श्रुति-  
कटुस्य, गोषब्दश्च छपादौ प्रसिद्धः किरणे तप्रसिद्धं इति  
निहतार्थः, किञ्च अनत्यर्जुनाभ्यसेत्यत्र सम्बोक्षण्टे कष्टलं, तदेवं  
दोषवङ्गलमपि वाक्यं बन्धगाढलमहिंशा गौडैः काव्यलेना-  
ङ्कीक्रियत इति गौडां निरुक्तप्रसादाभावाद्वैदर्थीतोभेदः ।  
वस्तुतस्तु वैदर्थपञ्चप्रतितया पञ्चलतैवमुक्तं गौडानामपि  
दोषाणामनङ्कीकारादिति ध्येयम् । अयस्य प्रसादोऽर्थवैमन्त्र-

रूपोऽर्थगुणः, शब्दगुणः प्रसादस्तु श्रोजोमिश्रितश्चित्यात्मा ।  
यथा । “यो यः शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदात् पातुवीर्णा  
चमूर्णां योयः पात्त्वात्त्वगोत्रे शिशुरधिकवया गर्व्वश्चयां गतो  
वा । योयस्त्वकर्त्त्वसात्त्वे चरति मयि रणे चतु चतु प्रतीपः  
क्रोधान्धस्त्वस्य तस्य स्वयमिह जगतामस्तकस्त्रान्तकोऽहम्”  
इति ॥ ४६ ॥

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः ।  
बन्धामृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः ॥ ४७ ॥

समतां स्त्रवयति । सममिति । बन्धेषु संघटनासु अविषममविभक्तम्, उपक्रमोपसंहारयोर्बन्धगतवैषम्याभाववदित्यर्थः ईदृशं वाक्यं समं समताख्यगुणवत् । इत्यस्तु येन बन्धेनोपक्रम्यते तेनैव बन्धेन समापनं समतेति स्त्रवणं ज्ञातव्यम्, बन्धास्त्रावत् कतिविधा इत्यत्राह । ते इति । ते बन्धाः, मृदुः कोमलाः, स्फुटाविकटः, मध्यमस्तुदभयात्मकः, तदात्मकाः, बन्धानां मृदुलादिकमपि कथमित्यत्राह । मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनय इति, मृदुवर्णां इस्त्रवर्णगमदन्त्यव्यञ्जनरूपाः, स्फुटाविकटा दीर्घस्त्रराष्ट्रठडग्राष्ट्रह-स्त्र । एतच्छेषा उन्मिश्रा मध्यमाः, एतेषां विन्यासेयोन्मिश्रकारणं येषां ते । अत्र वर्णशब्दः असमासमध्यमसमासदीर्घसमासानामुपक्रमकः, यदाह, “असमासा, समासेन मध्यसेन

च भूषिता । तथा दीर्घसमासेति चिधा सहुटनोदिता”  
इति । अवश्च चिविधर्वणसमासघटितानां बन्धानां चैविष्ठात्  
तद्गता समतापि चिविधेति भावः । इयश्च समता शब्दगुणः,  
अर्थगुणभूता तु प्रकाळप्रत्ययाद्यविपर्यासेनार्थस्य विसम्बादिता-  
विरहः स च प्रकमभज्ञाख्यदोषाभावरूपः अन्तेकोञ्चातव्यः ।  
यथा, उदेति सविता तामस्ताम एवास्तमेति चेत्यादि ॥  
॥ ४७ ॥

कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः ।  
उच्छ्वलक्ष्मीकराच्छाच्छनिर्द्वराभःकणोश्चितः ॥ ४८ ॥  
चन्दनप्रणयोद्भूत्यर्थमन्दोमलयमारुतः ।  
स्पृह्वते सूदमहैर्या वररामामुखानिलैः ॥ ४९ ॥  
इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालङ्कारडम्बरौ ।  
अपेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्वा काव्यपद्धतिः ॥ ५० ॥

इत्यं बन्धचैविष्ठेन चिविधां समतां कमेण सार्हदेशेकेन  
दर्शयति । कोकिलेति । एति पीडयितुमागच्छति । अत्र सृदु-  
बन्धेनोपकाळस्य सन्दर्भस्य सृदुबन्धेनैव समापनमिति सृदु-  
बन्धगता समता । स्फुटबन्धगतां दर्शयति । उच्छ्वलदिति ।  
उच्छ्वलनोदूरमुत्पर्णः शोकरा यस्य तत्, तथा अच्छादय-  
च्छमतिनिर्वालं यविर्द्वराभस्तस्य कणैरुक्तिः सिकः शोतस  
इत्यर्थः, अत्रापि मलयानिलोमामेतीत्यमुष्मः । अत्र स्फुट-  
बन्धेनोपकाळस्य तेनैव समापनमिति स्फुटबन्धगता ॥ ५१ ॥

मध्यमवन्धगता समता दर्शयति । चन्द्रेति । चन्द्र-  
प्रणयस्थन्दनवनसंसर्गस्तेन उद्धिकोगम्भेयस्य सः । य हि  
मिश्रवर्णमध्यमसमासघटितलाङ्गभोवन्धः । उपक्रमोपसंहारी  
च तेजैवेति मध्यमवन्धगतेयं समता । केचित्तु कोकिलाला-  
पेत्यादिस्त्रोकदयमिदं समतायाः प्रत्युदाहरणं प्रतिस्त्रोकमुप-  
क्रमोपसंहारयोर्विभिन्नवन्धकलादित्याङ्गस्त्रं द्विरम्, उ-  
दाहरणं दर्शयित्वैव प्रत्युदाहरणदर्शनाद्या औचित्यात् ।  
इत्यं समताचयं लक्षयित्वा गौड्यामेतद्विपर्ययं दर्शयितुं  
प्रथमं वैषम्यप्रकारं दर्शयति । स्यद्वृत इति । विरहिण उक्ति-  
रियम् । अत्र मलयमाहत इति कर्हपदमध्याहर्त्तर्यम् । रुद्धं  
खमितं मम धैर्ये येन सः मामधीरं कुर्वन्नित्यर्थः, वररामाः  
पश्चिमोस्त्वियः, तासां मुखानिलैः स्यद्वृते तत्सदृशो भवति  
समानसौगन्ध्यवच्चादिति भावः । अत्र प्रथमपादे स्फुटोब-  
न्धः दितीयेतु स्फुरिति विभिन्नवन्धकलान्नास्ति समता ॥  
॥ ४८ ॥

निरुक्तसमतायां गौडीयामामनास्तां दर्शयति । इत्यना-  
लोच्येति । इत्येवं स्यद्वृतदत्यादिस्त्रोकार्हप्रदशितं वैषम्यं स-  
मताविपर्ययजन्यदोषमनालोच्य अनङ्गीकृत्य, अर्था स्फुरिति-  
कटमध्यमस्याः काव्यार्थाः, अलङ्कारा अनुप्राप्तमाद्यः,  
तेषां उमरौ उल्कैः, प्रतियोगिद्वित्वाद्विवचनम्, अपेक्षमाणा  
अर्थविशेषानुरोधप्रयुक्ता गुणनैरपेत्तेणाऽलङ्कारकृतवैचित्रानु-  
रोधप्रयुक्ता चेत्यर्थः, पौरल्या गौडदेशीया काव्यानां पद्धति-

मार्गी वहधे हह्नि गता, वटते इति पाठे प्रवृत्ता । गौ-  
जानामध्यमाशयः । अर्थामुखारिणो हि बन्धाः, अर्थात् मृदु-  
विकटमध्यमात्मकाः, तत्र यदि प्रथमं मृदुरर्थः अवसाने च  
विकटः तदा मृदुबन्धेनोपकाळमपि विकटबन्धेन समापनीयं  
बन्धानामर्थानुगतलनियमात् एवमिधस्यले समतापरित्यागे  
गुण एव । यथा सारङ्गाः किमु वल्लितैः किमफलैराङ्गरैर्ज-  
मुका मातङ्गा महिषा मदं ब्रजत किं शून्येऽथ शूरा न के ।  
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटशटाकोटेरिभारे: शनैः सिंधुधानिनि-  
हृष्टते स्फुरति यत् तद्विर्जितं गर्ज्जितमित्यादावुत्तराह्वें कु-  
पितसिंहरूपार्थस्योदुतलात् सुकुमारबन्धत्यागे गुण एव ।  
अत्तर्वार्थपदस्य वक्ताद्युपलक्षकं तेज वक्ताद्यौचित्यवशादपि बन्ध-  
वैषम्यं युज्यते, प्रकृते च स्फुरते हृष्टमहैर्य इत्यत्र शृङ्गारि-  
णोऽपि वक्तुर्धैर्यरोधेन वायुं प्रति कुपितलात् कुपितवाक्यस्य  
चौद्धत्यौचित्यात् युज्यते विकटबन्धः । वररामामुखानिसै-  
रित्यत्र तु कोपाभावात् शृङ्गाराङ्गस्य वररामापदवाच्य-  
नायिकाहूपार्थस्य मृदुत्वात् मृदुबन्ध इति समतात्यागे गुण  
एव, अतएव पतत्प्रकर्षतादोषस्याऽपि क्वचिहुणलमुकं ।  
• यथा । चश्चहुजभमितचण्डगदाविघातसञ्चूर्णितोहयुगलस्य  
सुयोधनस्य । स्थानावनहृष्मणेणितणेणपाणिरुत्तंसयिष्यति  
कचास्तव देवि भीम, इत्यत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया  
शब्दाङ्गरत्यागे गुण एवेति । वैदर्जास्तु गुणपत्त्वाति-  
तया विसदृशार्थकेऽपि सन्दर्भे उपकाळबन्धत्यागे दोष

एवेति मन्त्रम् इत्यनयोर्विपर्ययः । अस्त्रारेति । गुण-  
समानाधिकरणाएवालङ्कारा रसोत्कर्षका नतु तस्मिरपेक्षा  
इति वैदर्भाणां मतं, गौडानान्तु तस्मिरपेक्षा अपीति भेदः ।  
थथा च प्रकृते स्पृह्यते इत्यादौ उपमानुप्राप्तयोः संस्थृष्टिः  
एतच्च प्रसङ्गादुकम्, अर्थवैपरीत्येन गौडानां बन्धवैषम्या-  
ङ्गीकारस्यैव प्रस्तुतलादित्यवधेयं । केचिन्तु अर्थालङ्कार उप-  
मादिः, उभयरोविकटवर्णता तौ अपेक्षमाणा इत्यादि व्या-  
चकृते, तत्र सङ्गतं गौडानामनुप्राप्तादेः अब्दालङ्कारस्याऽपि  
प्रियथमलेनापेक्ष्यमाणलात् वैदर्भाणाज्ञार्थालङ्कारैदासीन्य-  
स्थाहृष्टयचरलात् ॥ ५० ॥

मधुरं रसवद्, वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ।  
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ ५१ ॥

माधुर्यं स्वचयति । मधुरमिति । रसवदाक्यं मधुरं मा-  
धुर्यगुणवदित्यन्ययः । नन्तेतावता रस एव माधुर्यगुण इत्या-  
यातं, तत्र प्राचीनानां नवीनामाज्ञामतविरुद्धं, गुणानाम-  
लङ्कारवच्छब्दार्थनिष्ठतया रसोपकारकलक्ष्य प्राचीनैः, सा-  
क्षाद्रसधर्मलक्ष्य च नवीनैरङ्गीकृतलात् रसात्मकलक्ष्य तु न  
केनायुक्तलादित्यत्राह । वाचीत्यादि । वाचि वाक्यघटक-  
तज्जर्जादौ, तथा वस्तुन्यपि वाक्यप्रतिपाद्यतज्जर्जे च,  
रसाः अङ्गारादयः रसनधर्मयोगिलाङ्गावतदामासादयस्य,

तेषां स्थितिर्थञ्जकतया सम्भवः । एतदुकं भवति वाक्यस्य  
रसव्यञ्जकवर्णादिमत्तं तादृशार्थवचन्म भाधुर्यास्योगुण इति ।  
तत्रासमासा अल्पसमासा वा स्फुरवर्णाः इट्टारकहणशान्तानां,  
विकटवर्णास्तद्वदीर्घसमासाच्च वीरवीभक्तरौद्राणां, मध्य-  
वर्णां भधसमासाच्च इस्ताहुतभयानकानां व्यञ्जकाः । अर्था-  
च्च तत्तद्रसीयविभावानुभावव्यभिचारिभावरूपास्तत्तद्रसव्यञ्ज-  
काः । अर्थानां रसव्यञ्जकतवच्च रत्यादिस्यायभावव्यञ्ज-  
कलरूपं, यदुकं प्रकाशकृता, व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्यायो  
भावो रसः स्फुर इति । ननु रसमेव तावच जानीमस्तक्यं  
तद्वञ्जकवर्णादीनां भाधुर्यव्यञ्जकलभवगत्यभिति रसप्रकारं  
निर्वक्ति । येनेति । धीमत्तः सामाजिकाः न तु निर्बुद्धयो-  
हालिकादयः, येन माद्यन्ति मन्त्रप्राया भवन्ति स रस इत्यर्थः,  
एतदुकं भवति, धीमतां मन्त्रताहेतुस्तावत् काव्यार्थानुशीलनोहु-  
द्धस्तमकारापरर्थायोलोकोन्नराह्नादः स एव रस इत्यर्थः ।  
वैषयिकानन्दसु ब्रह्मानन्दनिर्वत्तानिव न तानुभादयति । अत-  
एवोक्तं । “काव्यास्तविनोदेन कालोगच्छति धीमताम् ।  
असनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन च” इति । एतदेवो-  
पमया विग्रहदयति, मधुमेवेति । अन्ये लाङ्गः पृथक्पदलं  
भाधुर्यं तत्र गच्छगुणः, यथा शासान् मुख्यति भूतसे विलुठति  
तमार्गमालोकते इत्यादि । उक्तिवैचित्ररूपम् भाधुर्यमर्थ-  
गुणः, यथा, “भानुः सङ्कदयुक्ततुरङ्ग एव रात्रिनिवं गम्भवहः  
प्रयाति” इत्यादि ॥ ५१ ॥

यथा कयाचिच्छुया यत्कमानमनुभूयते ।

तद्रूपा हि पदासन्ति: सानुप्राप्ता रसावहा ॥ ५२ ॥

माधुर्येऽस्मिन् वैदर्थंगोड्योः प्रभेदं दर्शयितुं प्रथमं वैदर्थं-  
नुकूलतया 'वाचि रसम्बितः' इत्यनेनोक्तं श्रुत्यनुप्राप्तवदर्णम-  
घस्य रसव्यञ्जकत्वमाह । यथेति । श्रूयतेऽनयेति श्रुतिस्वारणं,  
करणे क्रिः, यथा कयाचित् कण्ठया दन्तया अपरया वा श्रुत्या  
उच्चारणेन, यदिति क्रियाविशेषं, समानं पूर्वोच्चरितव्यञ्जनम-  
दृशं यदनुभूयते, हीति निश्चये, तद्रूपा तादृशमादृशानुभव-  
विषयव्यञ्जनवती पदासन्ति: अव्यवधानं तादृशपदानां प्र-  
योगः सानुप्राप्ता श्रुत्यनुप्राप्तवती, मैव रसावहा रसव्यञ्जिका ।  
अथमर्थः, कण्ठतात्त्वाद्येकस्यानांकार्यविन व्यञ्जनानां सादृशं  
श्रुत्यनुप्राप्तः, यदाह विश्वनाथः । उच्चार्थतादृथंदक्तं स्याने  
तालुरदादिके । सादृशं व्यञ्जनश्चेष श्रुत्यनुप्राप्त उच्चत इति ।  
अयम्भानुप्राप्ताविभिन्नवर्णविषयं वैदर्भाणामतीव श्रुतिस्वा-  
वहः । एकवर्णविषयस्तु क्वेकट्टन्तिमज्ञोगोडानां श्रुतिः खावह  
इति वक्ष्यते । तद्युक्तव्यञ्जनवदाक्यं रसावहमिति, अस्मि  
चैविधस्यले कायशेभाकरोमाधुर्यगणः । उक्तस्थ । “यथा  
ज्योत्स्ना शरव्वन्दं यथा लावण्यमङ्गनाम् । अनुप्राप्तस्था  
कायमलङ्घतुमिह चम” इति । शब्दालङ्घारस्यानुप्राप्तस्था-  
लङ्घारनिरूपणप्रकरणे लक्षणीयत्वेऽपि मार्गविभागप्रमङ्गादव  
स्त्रेण लतं, वक्ष्यति च । “कायिन्नार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागण-  
लङ्घिया” इति ॥ ५२ ॥

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणं प्रियः ।  
ततः प्रस्तुति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नस्ववेऽभवत् ॥ ५३ ॥

उदाहरति । एष इति । लक्ष्मीं राज्यश्रियं । ब्राह्मणः  
प्रिया यस्य मः । धर्मस्योऽवत् इति दानादिना धर्मकृत्यं प्रवर्त्त-  
यामासेत्यर्थः । अत्र षकाररकारयोरेकस्मिन् मूर्द्धनि, एवं  
जकारयकारयोरास्तान्त्रै, दकारलकारयोराश्च इन्ने, उच्चार्यमा-  
ण्णवात् माध्यमिति श्रुत्यनुप्राप्तः सत्र धर्मवीरपरिपृष्ठस्य राज-  
विषयकर्त्तिभावस्य व्यञ्जक इति माधुर्यसङ्घावः ॥ ५३ ॥

इतीदं नादतं गौडेरनुप्राप्तस्तु तत्प्रियः ।  
अनुप्राप्तादपि प्रायोवैदर्भरिदमित्यते ॥ ५४ ॥

अत्र वैदर्भगिर्गाचोर्विषयं दर्शयति । इतीति । इतिपदं  
पद्यममाप्तिसुचकम् । इदमनन्तरोऽकश्चुत्यनुप्राप्तवत् पद्यं गौ-  
डेर्नादृतं न माधुर्यगुणवत्तेनाङ्गीकृतं समानश्रुतिकवर्णान्तरं  
रमोपकारकताविशेषानुभवादिति भावः । कल्पहि तैस्तथा-  
त्वेनाङ्गीकृत्यते इत्यत्राह । अनुप्राप्तस्मिति । अनुप्राप्ताय-  
मनन्तरवद्यमाणे वर्णावृत्तिरूपः, तत्प्रियः तेषां गौडानां  
रमोपकारकत्वेनादरणीयः । अनुप्राप्तादपीति । वद्यमाल-  
वर्णावृत्तिरूपादित्यर्थः । अत्र अपेक्ष्येति पद्यान्तर्भूतत्वेन  
यज्ञगर्भलात् पञ्चमी । इदं निहक्षश्रुत्यनुप्राप्तवत् काव्यम् ।  
अत्र अपीति प्राय इति पदाभ्यां वैदर्भाणामपि कोमलवर्णा-  
ष्ट्यनुप्राप्तायादरः सूचितः, अतएव वृत्त्यनुप्राप्तस्मावे का-

व्यप्रकाशे, माधुर्यव्यञ्जके वैर्णेयपनागरिके अते । आजः प्रकाश-  
के क्षेत्र पहषा, कोमला परैरिति, मधुरवर्णानुप्रासवद्भ्यस्यो-  
पनागरिकालमुक्तम् । उपनागरिका वैदर्भी, पहषा गौडी,  
कोमला पाञ्चाली, अत्र वैदर्भाणां श्रुत्यनुप्रासमात्रे गौडानाम्  
वर्णावृत्त्यनुप्रासमात्रे वैचित्राभ्युपगमे तेषामनुभव एव प्रथो-  
जकः ॥ ५४ ॥

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।

पूर्वानुभवसंस्कारवैधिनी यद्यदूरता ॥ ५५ ॥

गौडानां प्रियमनुप्रामं स्त्रयति । वर्णावृत्तिरिति । पा-  
देषु च पदेषु चेति चदयमुभयप्राधान्यस्त्रकं, पादगता पद-  
गता वेत्यर्थः । अत्र पादेषु चेति प्रथमोपादानेन वक्तव्यनेन  
च श्लोकव्यापिन्या एव वर्णावृत्त्यैविचित्रजनकत्वमिति प्रथमः  
कन्यः सृचितः, अतएव पतत्प्रकर्षताया दोषत्वमित्यचमं मङ्ग-  
च्छते यथा, कः कः कुन्त मघुर्घुरायितघुरीत्यादि । पदेषु चेति,  
एतदगतो पादगतेषु केषुचित् पदेष्वपि सा निवेशनीयति  
कन्यान्तरं दर्शितम् । वर्णावृत्तिरिति वर्णपदमन्त्र व्यञ्जनवर्ण-  
परं, स्वरमात्रस्य साहृद्यन्तु न वैचित्रावहमित्युपेचितमभि-  
युक्तैः । वर्णस्य वर्णयावर्णानामा आवृत्तिः पुण्ड्रव्यारणमनु-  
प्रामः पुनरुच्चारणेन साहृद्यप्रतीतिरनुप्राम इत्यर्थः साहृद्य-  
प्रतीतेन वैचित्रजनकत्वान्तराहारत्वात् । उक्तस्य प्रकाश-  
कृताः वर्णमात्रमनुप्राम इति । साहृद्यस्य विभिन्नयोरेव सम्ब-

वतीति उच्चारणकालभेदेन एकस्यापि वर्णस्य भेदोबोधः ।  
 अचासन्तोषे वर्णादृत्तिपदस्य वर्णस्य पुनरुच्चारणेन प्रत्यभिज्ञा-  
 प्रत्यय इत्येवार्थोबोधः पुनःपुनःअवणसमवायजन्मायाः प्रत्य-  
 भिज्ञाया अपि वैचित्रजगत्कलात् । आदृत्तिस्य पूर्वाचरित-  
 स्वरसहितस्येवेति नियमो न वाच्यः स्वरवैषम्येऽपि वैचित्रस्यानु-  
 भविकलात् तदाह विश्वनाथः । अनुप्राप्तः ग्रन्थसाम्यं वैषम्येऽपि  
 स्वरस्य यदिति । निरक्षं सादृश्यप्रतीतेः प्रत्यभिज्ञाया वानुप्रा-  
 पत्वं स्पष्टयति । पूर्वेति । पूर्वस्य प्रथमोचरितवर्णस्यानुभवः आव-  
 णप्रत्यक्षसञ्जनितो यः संस्कारो भावनास्यस्य बोधिनो उद्दो-  
 धिका अदूरता द्वितीयवर्णस्य सक्षिक्षयकालीनता यदि भवति  
 तदा वर्णादृत्तिरनुप्राप्त इत्यर्थः । अथमर्थः, संस्कारानुदोधे  
 सादृश्यप्रतीतेः प्रत्यभिज्ञाया वा असम्भवात् द्वितीयादिवर्णज्ञा-  
 नमाचस्य च वैचित्रजगत्कलात् वैचित्रसौवास्त्रारत्वात् द्वि-  
 तीयवर्णज्ञानोद्दृशसंस्कारजन्मा सादृश्यप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा वा  
 विषयतया वर्णगता अनुप्राप्तव्यपदेशेतुरिति । तादृशसंस्का-  
 रोडोधस्य एकद्विचित्रिवृद्धवर्णव्यवधानेऽपि सम्भवति वृद्ध-  
 वर्णव्यवधाने तु न सम्भवतीत्यनन्तरं प्रत्युदाहरणेन दर्शयि-  
 ते । अथस्यानुप्राप्तव्यक्षेकदृत्तिगतत्वेन दिविधः । यदाह  
 प्रकाशकारः । क्षेकदृत्तिगतेदिविधेति । तच व्यञ्जनसङ्क्षेपस्य स्वरू-  
 पतः कमतस्य सङ्क्षेपाम्यं क्षेकानुप्राप्तः । तथा व्यञ्जनसङ्क्षेप-  
 स्वरूपत एव सङ्क्षदसङ्क्षदा साम्यं तस्मैव च स्वरूपतः कमतस्याम-  
 त्क्षेपाम्यम् एकस्य व्यञ्जनस्य सङ्क्षदसङ्क्षेप साम्यं दृश्यनुप्राप्तः ।

यदा ह विश्वनाथः । “क्षेकोव्यज्ञनसङ्गस्य सहस्राम्यमनेकधेति ।  
अनेकसैकधा साम्यमसहस्राधनेकधा । एकस्य सहस्रयेष वृत्त्य-  
नुप्राप्त उच्यते” इति । शब्दार्थयोः पौनहक्षेषोलाटानुप्रा-  
मोऽप्यन्वैरुको वर्णावृत्तिरूप एव । यदा ह विश्वनाथः । “शब्दा-  
र्थयोः पौनहक्षं भेदे तात्पर्यमाचतः” । लाटानुप्राप्त इत्युक्त  
इति । यथा, “स्मेरराजीवनयने नयने किं न मीलिते । पग्ग  
निर्जितकन्दपे कन्दर्पवशगं प्रियम्” इति ॥ ५५ ॥

चन्द्रे शरन्निशेत्तंसे कुन्दस्तवकविभ्रमे ।  
इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म सन्दधात्यनिनः श्रियम् ॥ ५६ ॥  
चारु चान्द्रमसं भीरु विम्बं पञ्चैतदम्बरे ।  
मन्मनोमन्मथाकान्तं निर्दयं हन्तुमुद्यतम् ॥ ५७ ॥

अस्मेदाहरणं दर्शयति । चन्द्र इति । शरन्निशेत्तंसे  
शरन्निशायाः शिरोभृष्णायमाने, इन्द्रनीलनिभं श्याम्भं,  
लक्ष्म कलङ्कः । अत्र प्रथमे पादे शकारयोः, द्वितीये नकार-  
योर्वकारयोश्च तृतीये च नकारयोर्लकारयोश्चानतिदूरा-  
वृत्तिलेन साम्यप्रतीतिरिति वृत्त्यनुप्राप्तः । चतुर्थपादे तु  
द ध त नकाराणां दन्त्यत्वादेदभिप्रियः श्रुत्यनुप्राप्तः । उभय-  
विधेनानेनोपस्थुतः शब्दः स्वोपम्यायं शट्टारोदीपनविभाव-  
भूते चन्द्रमुपस्थुत्य शट्टारमुपस्थुतरोतीति शब्दनिष्ठं माधुर्यम् ।  
अत्रैव च शृपकोपमानुप्राणितया निर्दर्शनया पुरस्तुतमादृश-  
वाच्यार्थः शट्टारं पुण्यातीव्यर्थनिष्ठम् ॥ ५६ ॥

इत्यं स्वरवैषादृशेनानुप्राप्तं दर्शयिला स्वरसादृशेनास्ता-  
तीववैचित्रलं ख्यापयितुमुदाहरणान्तरं दर्शयति । चार्षि-  
ति । मानिनीं प्रति कामिन उक्तिरिधम् । विमं मण्ड-  
लम् । अत्र प्रथमे पादे चाकारयोः रुकारयोश्च साम्यादृच्य-  
नुप्राप्तः, द्वितीये ऋब्योः सङ्कसाम्याच्छेकानुप्राप्तः, तृतीये च  
मन्महमन्मयोरपि तथात्माच्छेकानुप्राप्तः । चतुर्थं तु इकारयो-  
स्कारयोश्च स्वरवैषादृशेन साम्यादृच्यनुप्राप्तः । अस्मिन्  
पद्येऽपि शब्दार्थाभयगतं माधुर्यमस्ति अर्थाऽपि चन्द्रविमस्य  
विरहिनिर्दयहननोद्यमासमन्वेऽपि तत्कल्पनादतिशयोक्त्यपकृ-  
तो विप्रस्तम्यं पुण्णातीति रसावहः । एवं स्वरसादृशवैषा-  
दृश्याभ्यामनुप्राप्तो भवतीत्युदाहरणदयेन सूचितम् ॥ ५७ ॥

इत्यनुप्राप्तमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम् ।  
न तु रामामुखाभ्योजसदृशशब्दमा इति ॥ ५८ ॥

अनुप्राप्तलक्षणकारिकायामदूरतापदस्य प्रयोजनमन्वय-  
व्यतिरेकाभ्यां दर्शयन्नाह । इत्यनुप्राप्तमिति । अतिदूरमत्य-  
धिकमन्तरं व्यवधानं चस्यास्तादृशो श्रुतिर्यच स तथा तद्द्वि-  
भिन्नमित्येवं पूर्वशोकदद्यप्रदर्शितप्रकारमनुप्राप्तमिच्छन्ति गौडा  
इति शेषः । न तिति । अत्र रामा इति माकारश्च श्वरणस्याति-  
दूरे चन्द्रमा इति माकारस्य श्रुतिरिति पूर्ववर्णमस्तकारोद्दो-  
धाभावात् इत्येवंविधस्त्वे न तु न पुनरनुप्राप्तमिच्छन्ति-  
श्चयः । अत्र स्वरसादृश्यघटितस्यैवानुप्राप्तस्याभावः न तु

खरवैसाहृष्टग्रहितस्य, विभिन्नखरयोः पूर्वपादे अकारयोरु-  
त्तरपादे इकारयोश्चानतिदूरस्ययोः सचेत दृक्षनुप्राप्त्यान-  
पलपनीयत्वादिति ध्येयम् ॥ ५८ ॥

स्मरः खरः खलः कालः कायः कोपश्च नः क्षणः ।  
च्युतोमानोऽधिकोरागो मोहोजातोऽस्वोगताः ॥ ५९ ॥

सानुप्राप्ता रसावहेत्युक्तं । यत्तद्वानुप्राप्तः सन्तमपि रसं दोष-  
सङ्घाताच्चापकरोति न तत्र माधुर्यमिति दर्शयति । स्मर-  
इति । नायकोपेच्या गलितमानाया नायिकायाः पश्चात्ता-  
पवर्णनमिदं । खर उयशासनः । खलः प्रणयभङ्गात् कूरः ।  
कोप ईर्ष्यामानः, मानः सखीषु मान्यता, च्युत इति तासां  
वचनाकरणादितिभावः, असवः प्राणा गता गतप्रायाः । अत्र  
पूर्वार्द्धे रकारयोः खकारयोः ककाराणां साम्याहृत्यनुप्राप्तः ।  
उत्तरार्द्धे च तकारादीनां दक्ष्यानां तथात्वाच्छ्रुत्यनुप्राप्तः ।  
एवं दिविधोऽप्यनुप्राप्तादोषसधीचीनः सुपरिच्छदः कृधनमिव  
विप्रलभ्यद्वारं नोपकृते ॥ ५८ ॥

इत्यादि बन्धपारुण्यं शैयिल्यस्त्रियनियच्छति ।  
अतोनैवमनुप्राप्तं दक्षिणात्याः प्रयुक्त्वते ॥ ५९ ॥

अत्र दोषं तावद्दर्शयति । इत्यादीति । आदिभव्यः प्रकार-  
वचनः, इत्यादि एवंप्रकारकमनुप्राप्तवद्वाक्यं बन्धस्य पारुण्यं  
शैयिल्यस्त्रियनियच्छति बोधयति, तत्र पूर्वार्द्धे पारुण्यमुक्त-  
राढेः शैयिल्यं तस्मान्नाच माधुर्यमिति भावः । तत्र पारुण्यं

शुतिकटुलं तच्च बहुविष्वर्गशुतिजनितम् । उक्तस्य । अनुस्वार-  
विष्वर्गे तु पात्त्वाय निरन्तराविति । ग्रेयित्वा हतविष्वर्ग-  
तया बभ्यस्यागाढतम्, आहतविष्वर्गता च शोत्रप्राप्तविष्वर्गता  
एषाङ्गामक्षतप्रयोग एव दोषः । अत इत्यादि । एवं दोष-  
समानाधिकरणं, दात्रिणात्या वैदर्भाः, वस्तुतस्तु दोषाणां  
रसप्रिपन्थितया गोडानामपि परिहरणीयत्वाद्यन्वक्ता  
वैदर्भपत्रपातितया दात्रिणात्या इत्युक्तं, यत्र तु वक्त्राद्यौ-  
चित्यवशात् पात्त्वाय रमाभूक्तता, तत्र सानुप्राप्ते माधुर्य-  
मङ्गवोऽव्याहत एव । यदाह । “वक्त्रि कांधमंयुक्ते तथा  
वाच्ये समुद्भुते । रौद्रादौ तु रमेष्वर्णं दुःश्रवते गुणेभवेत्”  
इति । प्रकृते चैतत्त्वयं नास्तीति दोष एव ॥ ६० ॥

आबृत्तिं वर्णसङ्घातगोचरां यमकं विदुः ।

तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चादिधास्यने ॥ ६१ ॥

ननु वर्णावन्तेरमावहत्वाकारे तथाभृतं यमकमयैव  
निरूपणीयं स्वादित्यत्राह । चाटन्निमिति । वर्णसङ्घातः पू-  
र्वोच्चरितवर्णसमुदायो गोचरो विषयो यस्यास्ताङ्गीमावृत्तिं  
पुनरुच्चारणं यमकं विदुरालङ्घारिका जानन्ति । अत वर्णस-  
ङ्घातपदं स्वरव्यञ्जनसमुदायपरम्, अनुप्राप्तवत् स्वरवैषाङ्गे  
यमकत्वाभावात् । यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च  
षष्ठि सादरं वच इत्यादावेकार्थपदस्यावृत्तौ यमकलं नास्तीति  
विभिन्नार्थकेति वर्णसङ्घातविशेषणं देयं, तथात्वेच सार्थकये-

तेव यमकलप्राप्तो ससुरभिं सुरभिं सुमनोभरैरित्यादौ रभिं  
सुरभिंस्तित्यादौ निरर्थकयोरपि यमकलदर्शनादर्थसङ्घाव  
एव विभिन्नार्थकलविशेषणं ज्ञेयम्, आटन्तिश्च विभिन्नकमे  
रसः सर इत्यादौ यमकलाभावात् पूर्वकमवती बोधा,  
मर्ज्ज्वलैतत् सागृहतं विश्वनाथेन, यथा, “सत्यर्थे पृथगर्थायाः  
स्वरव्यञ्जनमंहतेः । क्रमेण तेनैवाटन्तिर्यमकं ‘विनिगद्यत’  
इति । एवमेव यमकानुप्राप्तयोर्विवेकाज्ञातव्यः । तच्चिति ।  
तत् निरुक्तयमकवद्वाक्यन्तु नैकान्तमधुरं नातिशयेन माधुर्य-  
गुणवत् अर्थानुमन्त्यानव्ययतया रसप्रतीतेर्थविहितवेन तदृप-  
स्कारकलाभावादिति भावः, अनुप्राप्तम् अर्थानुमन्त्यानमन्त-  
रणेव श्रुतिमाचेण शब्दमलङ्कुर्वन् रसं पुष्णातीति तत्र मा-  
धुर्यसङ्घावः, निरर्थकयमकेऽर्थसङ्घावसन्दर्भेनैव भवति विल-  
भोरमाभिन्नकरिति नास्ति माधुर्यम् । ननु यमकम् रसानुप-  
कारत्वे कथमलङ्घारत्वं शब्दार्थाऽन्यतरशोभाजननहाता रसा-  
पकारकधर्माणामवान्तङ्गारत्वादित्यत उक्तमेकाकांत, यमक-  
वति माधुर्यं वर्तत एव परम्भु अनुप्राप्तमन्त्यन्तमिति ।  
पश्चादिति अलङ्गारनिष्ठप्लप्रस्तावे इत्यर्थः, विधास्यते प्रपश्च-  
यिष्यते । वर्णत्यच एवेति पाठा न हचिरः ॥ ६१ ॥

कामं मर्त्योऽप्यनङ्गारो रसमर्थे निपिच्चति ।  
तथायग्राम्यतैवैन भारं वहनि भूयसा ॥ ६२ ॥

एवं शब्दगतं माधुर्यं दर्शयित्वा वक्षुन्यपि रघस्तिति-

रित्यनेन सूचितमर्थगतमाधुर्यं दर्शयति । कामभिति ।  
 सर्वोऽपि, अपिशब्देन यथाकथच्छिदर्थसम्बन्धवतां पुनरुक्त-  
 वदाभासशब्दस्त्रोषादीनां परियहः, अलङ्कार उपमार्थास्त्र-  
 ङ्कारः, कामं पर्याप्तं यथा तथा अर्थेषु वाच्यलक्ष्यव्यञ्जात्यक-  
 शब्दप्रतिपाद्यविभावादिवस्तुपु रसं निविश्वति निवेशयति  
 उत्कर्षकतया स्खाअर्थार्थगतां रसव्यञ्जकतामुक्तेजयतीत्यर्थः ।  
 इत्यस्त्र सालङ्कारतया रसव्यञ्जकोऽर्था मधुर इति प्रतिपादि-  
 तम् । एवं दिविधमाधुर्यानुभवं प्रति दोषमावस्थैव प्रतिबन्ध-  
 कलेऽपि ग्राम्यतादोषस्य विशेषेण प्रतिबन्धकत्वं दर्शयन्नाह ।  
 तथापीति, तथापि रसोल्कर्षकस्तालङ्कारस्य मङ्गादेऽपि, या-  
 मीणहालिकादिजनव्यवहृतः शब्दोऽर्थश्च याम्यः तद्विपरोतो  
 विद्यधजनव्यवहृतोऽयाम्यस्तज्जैव भृयसा बाङ्गन्येन एनं रस-  
 निषेककृपं भारं वहति अयाम्यतासमानाधिकरणा एवाल-  
 ङ्कारा रसं निविश्वन्तीत्यर्थः, एतत्र अनस्तीलतादीनामुपल-  
 चकं ग्राम्यतावदस्तीलतादीनामपि रसप्रतिबन्धकत्वात् । या-  
 म्यताया रसप्रतिबन्धकत्वस्त्र विद्यधवाक्षेष्वव, अधमवाक्षेषु तु  
 तस्य गुणलमेव, उक्तस्य गुण इत्यनुवृत्तौ, ग्राम्यलमधमोक्तिश्चिति  
 भृयसेत्यनेन अस्तैव बाङ्गन्येनोपयोगालङ्काराणानु यथा  
 कथच्छिदिति सूचितं, निरलङ्कारयोरपि विशुद्धशब्दार्थयोः  
 स्त्रत एव रसव्यञ्जकतासम्भवात् ॥ ६९ ॥

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम् ।

इति याम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ॥ ६३ ॥

अत्र प्रथममर्थसाम्यतज्ञानाय तद्वत् याम्यतं दर्शयति ।  
 कन्ये इति । अत्र विदग्धेवका, अविदग्धस्तोकी याम्यताया  
 गुणलेनेष्टत्वादित्युक्तं, कन्ये इति सम्बोधनं हि पुचोम्यानीयानामेव  
 युज्यते नायिकानान्तु सुन्दर्यादिपदेन, तदत्र वैरस्यादयादर्थस्य  
 याम्यतं, नचात्र शब्दस्यापि तथा, विदग्धानामपि कुचचित्  
 कन्यापदप्रयोगसम्भवात् यथा, “कन्येयं कलधौतकोमलरुचि  
 कोर्जिंश्च नातः परा” इत्यादि । यामिकजनमात्रप्रयोज्यकाया-  
 दिशब्दानामेव हि प्राचीनैर्याम्यतमुक्तं । कामयमानमिति ।  
 सुरताभिसाधरूपः कामो हि गृहं एव भज्ञा सुख्यमानः  
 कामिनोकुचकलशवस्त्रमत्कारमावहति स्यष्टुप्तेनाभिधीयमा-  
 नस्तु मामाजिकानां सञ्चामाविर्भावयन् रसास्खादवैमुख्यं जन-  
 यतीति याम्य एव । अत्र नायिकाकामं प्रति नायिककाम-  
 प्रकाशस्य हेतुत्वात् सति च तादृशे हेतौ तादृशकार्थानुदया-  
 दिशेषोकिरलङ्घारः, तद्युक्तोऽप्यनुप्राप्तवदाक्याऽर्थोऽाम्यतया  
 निक्षेपीकृतः सन्तमपि षट्कारं नोपकुरत इति भाधुर्याभावः,  
 एतदेव दर्शयति । इतीति । इत्येवमयं याम्यो याम्यतास्यदोष-  
 वान् अर्थसाम्या स्वरूपं वैरस्याय एमानुभवप्रतिबन्धाय प्रक-  
 ल्पते भवति, तस्माच्चात्र माधुर्यसङ्घाव इति शेषः ॥ ६३ ॥

कामं कन्दर्पचाणडानो मयि वामाति निर्द्दियः ।  
 त्वयि निर्मात्सरेऽदिष्टयत्याम्योऽर्थतसावहः ॥ ६४ ॥

इत्यं याम्यं दर्शयित्वा तदिपरीतमयाम्यमर्थं दर्शयति ।

कामभिति । अत्र वासे मनोज्ञे वके वा अक्षिणी यस्ता इति  
शुद्धत्तिलभ्यो वामाचीति समुद्दिपदार्थो विद्यमजनोचितः ना-  
यिकासैन्दर्यप्रकाशकतया चाटुकारस्याभिप्रेतमम्यादनसाम-  
र्थ्यादित्यगम्य एव । एवं कन्द्रपञ्चाण्डालो मयि निर्दयस्त्वयि  
तु निर्मात्सुर इति वाक्याभ्यां लयि कामपराधीनोऽस्मि तनु  
मां नेच्छमोति पूर्वस्त्रोकोक्त एवार्थो भज्ञा सूचित इत्यगम्य  
एव गृह्णतया सूच्यमानस्य चमत्कारजनकलेन वक्तृवैद्यम्भ-  
वञ्चकतया सहृदयहृदयहारितात्, तस्मादेवंविधोऽयाम्योऽ-  
र्थारसावहः रसवच्चकतया माधुर्यगुणवान् ॥ ६४ ॥

शब्देऽपि ग्राम्यतास्त्वेव सा सभ्येतरकीर्तनात् ।  
यथा यकारादिपदं रत्युत्सवनिरूपणे ॥ ६५ ॥

अर्धगतमाधुर्यस्य प्रतिबन्धकं तड्डतयाम्यत्वं दर्शयित्वा त-  
थाविधं शब्दगतमप्याह । शब्देऽपोति । सा शब्दगता ग्राम्यता,  
सभायामुच्चारणयोग्यलेन माधु सभ्यं तस्मादितरदसभ्यं ग्रामि-  
कहास्त्रिकादिमात्रप्रयुज्यमानभित्यर्थः तस्य कीर्तनात् प्रधा-  
गाद्ववति । यथेति । रत्युत्सवस्य निरूपणे बोधने । यकारा-  
दिपदभिति । यकार आदौ यस्य तादृशं पदं यमभैषुन इति  
यमधातुनिष्पत्तं पदनित्यर्थः । तादृशपदानां हि काव्ये  
प्रयोगः प्रयोक्तुर्याभिकतथेष्वइसनीयत्वमुद्भावयन् श्रोतृणां च  
खज्जामुज्जागरथन् रसाख्यादमन्तरथतोति न तत्र माधुर्य-  
सङ्घावः । निधुवनादिपदानान्तु विद्यमैरपि प्रयुज्यमानलाभ

याम्यतम् । अतएव माधे, “अनिमिषमविरामा रागिणां स-  
र्वरात्रं नवनिधुवनसीलाः कौतुकेनाभिवोच्य” इत्यादौ  
निधुवनपदप्रयोगः ॥ ६५ ॥

पदसम्भानबृत्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुनः ।  
दुष्प्रनीतिकरं याम्यं यथा या भवतः प्रिया ॥ ६६ ॥  
खरं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवानिति ।  
एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि ॥ ६७ ॥

अन्यैस्तकस्याश्रोत्स्वदोषस्यापि माधुर्यप्रतिवस्त्रकत्वात् स्व-  
मते तस्यापि याम्यपदेन यहणमित्याह । पदसम्भानेति । प-  
दानां सम्भानं माकाङ्गतया विच्छाको यत्रेति पदसम्भानं  
वाक्यं, पदसम्भानेति पाठे तु उक्तोऽर्थः म्फुटएत्र, तहृत्या वा,  
तथा वाक्यार्थत्वेन वाक्यार्थगतत्वेन वा, दुर्निन्दिता ब्रीडा  
जुगुप्ताऽमङ्गलव्यञ्जिका प्रतीतिर्दुप्रतीतिः तत्करं, वाक्याय वा-  
क्यार्थस्य वा तादृशदुप्रतीतिकरत्वस्त्रपमश्रोत्स्वमित्याः । तद-  
पि याम्यं याम्यपदापननितत्वेन माधुर्यं परित्याज्यमित्यर्थः ।  
तत्र वाक्यगतं ब्रीडायञ्जकत्वस्त्रपमश्रोत्स्वमुदाहरति । यथ-  
ति । या भवतस्त्र प्रिया प्रणयिनीति प्रकृतार्थवोधाशक्तरं  
थाभवतः, याभो मैथुनं, यभभैयुन इत्यस्य घणि रुपं, तदि-  
शिष्टस्य प्रिया मैथुनसाधनत्वेन ग्रीणयिचीत्यसम्भार्यवञ्जनेन सा-  
माजिकानां ब्रीडात्यादनादाक्यमिदमश्रोत्स्वमिति गात्र माधु-  
र्यसम्भवः । अश्रोत्स्वस्य च पदपदाशपदार्थगतत्वसम्भवेऽपि

व्यापकवाभावेन न तचात्यन्तवैरस्यमिति तदगणयित्वैव वाक्य-  
वाक्यार्थमात्रगतास्तीलत्वस्य याम्यत्वमुक्तं अन्यज्ञतेति श्लेष्यम् ।  
न च यथा यकारादिपदमित्यनेन यभधातुनिष्पन्नपदप्रयोगे  
मुख्ययाम्यत्वमुक्तं, याभवतः प्रियेत्यत्र च तदेव भवितुमर्हति  
तत्कथमस्तीलत्वरूपातिरिदृश्याम्यत्वसोदाहरणलेनेदमुपन्यस्यमि-  
ति वाच्यम् अभिधया इत्या असभार्थीपस्यापकशब्दस्त्वैव मुख्य-  
याम्यत्वेन या भवत इत्यादौ तदभावात् व्यञ्जनयैवाचासभ्यार्थ-  
द्योतनात्, समानेऽपि याम्यत्वास्तीलत्वयोरमभ्यार्थप्रकाशकत्व-  
रूपस्वरूपे वृत्तिभेदक्षतोपस्थापकत्वभेदेन भेदाङ्गोकारादित्य-  
वधेयम् ॥ ६६ ॥

वाक्यार्थगतास्तीलत्वरूपयाम्यत्वमुदाहरति । खरमित्यादि ।  
वीर्यवान् प्रश्नस्तवलग्नालो पुरुषः कश्चिद्दीरः खरमुद्घटं प्रहृत्य  
रिपूनाहत्य विश्रान्तः विश्रामं लेभे इति प्राकरणिकार्थः  
शब्दवाधविषयोभवन् वक्तादिवैलक्षण्यप्रतीतिसधोचोनयार्था  
व्यञ्जनया वीर्यवान् शुक्रवान् पुरुषः कश्चिद्युवा खरं प्रहृत्य  
सुरतप्रहोरं कृत्वा विश्रान्त इत्यसभ्यार्थद्योतकतया ब्रीडा-  
व्यञ्जक इत्यस्तीलः । न चात्र वाक्यगतमस्तीलत्वम् एकार्थमात्र-  
सङ्केतिनां खरमित्यादिवाक्यघटकपदानां शाब्द्या व्यञ्जनार्था  
अनाश्रयत्वेनासभ्यार्थीपस्थापकत्वाभावात् वाक्यार्थस्त्वैव च  
वक्तादिवैशिष्यसचिवयार्था व्यञ्जनया दितीयार्थीपस्थापनात्  
पदानां परिवृत्तिसहत्वेन च दोषस्य तद्वत्वासभ्यवात् भवनि-  
गुणोभूतव्यञ्जदोषगुणालङ्घाराणां हि ग्रन्थार्थगतत्वव्यवस्थार्थां

तदन्वयव्यतिरेकानुविधायितमेव हेतुरिति प्राचां० मिह्नान्तः, यत्र हि शाब्दा व्यञ्जनयाऽसभ्यार्थबोधस्त्वैव शब्दगतमस्योत्तरं शाब्दी च व्यञ्जनानेकार्यशब्दनिष्ठा, यदुकं प्रकाशकृता । “अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाचार्थधी-कृत्वाधृतिरच्चनम्” इति । न चाच वीर्यपदं बलशुक्रयोर्वाचकतया नानार्थं, बलस्य शुक्रमाचजन्यत्वेनैकत्वाङ्गीकारात् वीर्यपदपरिवृत्तावण्डीलत्वस्यानपायेनार्थगतत्वस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनीत्वं प्रायः पदस्य प्रयोजनं दर्शयति । एवमादीति । एवमादि निरुक्ताम्यतादेष्वत्प्रभृति, आदिना अनुचितार्थत्वविरुद्धमतिकारित्वादिदोषवतां यहणम्, उभयोरपि गौडवैदर्चयोः, न शांसन्ति नाद्रियन्ते । एतेनानुप्रामक्तत्वैलच्छर्ष्टपि याम्यतापरिहारे हयोः समानतेति स्फुचितम् ॥ ६७ ॥

भगिनीभगवत्यादि॒ सर्वंत्वैवानुमन्यते ।

विभक्तमिति॒ माधुर्यमुच्यते सुकुमारता ॥ ६८ ॥

असभ्यार्थप्रतिपादकस्यापि सर्वजनव्यवहृतस्यादृष्टत्वं प्रतिप्रसुते । भगिनीति । आदिना योनिलिङ्गादीनां यहणम् । सर्वंत्वं व्यवहारेणु काव्येणु च, अनुमन्यते सर्वैरदुष्टतया स्तोकियते, सर्वजनपरिगटहीतम्य हि प्रयोगे देषानुसन्धानायोगाच्च आठजनवैमुख्यसम्बव इत्यदोषः । यदुकं । ‘समीतस्य हि स्तोके इस्मिन्न देषाम्बेषणं चमम् । शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्तासम्बल-

भावनमिति । सम्बोतसादुष्टयाङ्गीकृतस्य । एतदुपलब्धं गुप्त-  
लक्षितयोरप्यदृष्टवं ज्ञेयं । यदकृतं । याम्यं घुणावदशोकाम-  
ङ्गलार्थं यदीरितम् । तस्मीनेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्ट-  
तोति । गुप्तानि अमध्यार्थप्रमिद्धानि यथा, समाधिपदं  
सङ्कटार्थं प्रसिद्धं स्तोचिङ्गार्थं लप्रमिद्धमिति । लक्षितानि  
लक्षणयाऽमध्यार्थबोधकानि, यथा जन्मभूमिपदं लक्षणया  
स्तोचिङ्गबोधकमिति । किञ्च सुरतारमगोऽथां शान्तवीभ-  
त्वरमादौ च व्यज्ञे अस्मीत्वतं न दोषः प्रत्युत गुण एव ।  
क्रमेण यथा, “करिहस्तेन समाधि प्रविश्यान्तर्विलाडिते ।  
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजत” इति । अत्र  
करिहस्तादिशब्दा असम्यार्थाः, इयं हि सुरतप्रसङ्गसम्भायां  
करुचित् कामिन उक्तिः । “उत्तानोऽकूनमण्डूकपाठि-  
तादरसविभे । क्लेदिनि स्तोत्रेण सक्रिरक्तिः कस्य जा-  
यत” इति अत्र शान्तोरमः । उत्तानोत्तात्य दृक्तं प्रथ-  
ममय पृथूच्छाष्टभूयांमि मांसान्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयव-  
सुलभान्तुयपूतोनि जग्धा । अन्तःपर्यस्तेनेत्रः प्रकटितद-  
श्वनः प्रेतरङ्गः करङ्गादङ्गस्यादस्मिंस्यं स्वपुटगतमपि क्रय-  
मयगमन्ति । अत्र बीभत्सो रसः । माधुर्यमुपमंहरति ।  
विभक्तिमीति । विभक्तं रसघटितत्वादिशेषेण दर्शितम्,  
अनुप्राप्तकृतवैलक्षण्यम् वैदर्भगौडयोर्विभक्तया दर्शितमिति  
वा । कमप्राप्तं सौकुमार्यं निरूपयति । उच्यते इति ॥

॥ ६८ ॥

अनिष्टुराज्ञप्रायं सुकुमारमिहेष्यते ।  
बन्धशैथिल्यदोषसु दर्शितः सर्वकोमले ॥ ६८ ॥

अनिष्टुरेति । निष्टुराणि श्रुतिकटूनि तदिपरीतानि को-  
मलान्यज्ञराणि तेषां प्रायोबाङ्गल्यं न तु सामस्यं यत्र ताङ्गं  
वाक्यं सुकुमारं सौकुमार्यगुणवत् । एतदेवोक्तं क्रमदीश्वरेण ।  
कोमलान्यज्ञराङ्गल्यं वदन्ति सुकुमारतामिति । प्रायपद-  
प्रयोजनं दर्शयति । बन्धशैथिल्येति । सर्वकोमले सर्वकोमला-  
न्यज्ञरात्मके वाक्ये तु बन्धस्य शैथिल्यरूपोदोषादर्शितः सर्वैव,  
माल्यतोमाला लोलालिकलिसा यथेत्यत्र प्रकाशितः । दोष-  
स्त्वित्यत्र दोषाद्वैति पाठे हिपदं प्रायपदप्रयोगं प्रत्युच्च-  
राङ्गवाक्यस्य हेतुत्वं बोधयति, तस्मात् कोमलान्यज्ञराणि  
बहुनामन्तरान्तरा पर्याज्ञरविन्यासेन मौकिकहारस्यान्तरा-  
न्तरा माणिक्यनिवेशीनेव बन्धस्य चारुत्वं सौकुमार्यमित्यर्थः ।  
नचैव शेषसौकुमार्ययोरभेदः लक्षणस्यैक्यादिति च व्य शेष-  
स्यान्यप्राणमहाप्राणान्यज्ञरघटितत्वेन सौकुमार्यस्य च कोम-  
लाकोमलवर्णघटितत्वेन इयार्विभिन्नत्वात् न चान्यप्राणत्वेव  
कोमलत्वं महाप्राणत्वमेव च पर्यत्वम् अन्यप्राणस्याऽपि वर्णवि-  
शेषसंयोगेन पर्यत्वमस्तुत्वात्, यथा, “चक्रन्ति विरहात्मा मा-  
त्वक्तीर्त्तिश्रुतिमङ्गना” इति, अत्र कारतकारावन्यप्राणा-  
वपि रकारसम्बन्धेन पारुणं भजतः, एवं महाप्राणोऽपि वि-  
न्यासविशेषेण कोमलत्वं भजति । यथा, “मधुर्या मधुर्वाधित-  
माधवीमधुमस्तद्विसमेधितमेधया । मधुकराङ्गनया मुङ्गरन्म-

दधनिभृता निभृताचरमुच्चगे” इति । अत्र धकारा महा-  
प्राणा अपि विव्यासमहित्वा मधुरतां प्राप्नुवन्ति । इयम्  
सुकुमारता शब्दगुणः, अर्थगुणभृता तु अर्थस्यापारुष्यस्थृपा ।  
पारुष्यस्यार्थस्यामङ्गलव्यञ्जकत्वरूपासीललम्, अतएव नवीनाः  
श्रुतिकटुवस्यासीललस्य च दोषत्वाभिधानेन परित्याज्यलाभं  
फलवलादेव तदिपरीतस्य सौकुमार्यस्य प्राप्नोति तत्त्वं गुणत्व-  
कीर्तनं प्राचामनुचितमिति वदन्ति ॥ ६८ ॥

मण्डलीकृत्य वर्षणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।

कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जोमूतमालिनि ॥ ७० ॥

उदाहरति । मण्डलोकृत्येति । मधुरा गीतिर्गीतिमद्वश-  
केकारवा यत्र तादृशैः कण्ठैर्गलैः, मधुरगीतिरूपैः कण्ठैः  
कण्ठस्वरैरिति वा, उपलक्षणे छत्रीया । जोमूतमालिनि  
काले प्रादृषि, अन्येऽपि नर्तका मधुरं गायन्तानृत्यन्तीति  
कलापियु नर्तकवद्वारप्रतीतेः समाप्तिरलङ्घारः । अत्र  
मकारादीनां कोमलानामन्तरान्तरा टवर्गीययुक्तान्तरूप  
प्रस्पवण्निवेशेन बन्धेऽयं कामपि चारुतामावहति ॥ ७० ॥

इत्यनूजित एवार्था नालङ्घारोऽपि तादृशः ।

सुकुमारतयवेतदारोहति सतां मनः ॥ ७१ ॥

ननु वर्णविशेषविव्यासात्मकस्य सौकुमार्यस्य न गुणत्वमुचि-  
तम्, अर्थालङ्घारकृतवैचित्रमन्तरेण स्वतश्चमल्कारजनकत्वा-  
भावादिति नवीनानां मतं दूषयन्नाह । इत्यनूजित एवार्थ-

इति । इत्यस्मिन् सण्डलोक्त्येत्यादिपदे, अर्थः कलापिनृत्य-  
रूपः अनुर्जित एव रमस्यर्काभावाच्च मत्कारायच्चक एव,  
तथा अलङ्कारः समामोक्षनुप्राप्तिः स्वभावोक्तिरूपः, नापि  
तादृशः न च मत्कारजनकः । तथायेतत्पदं सुकुमारतयैव  
मैकुमार्यगुणसम्बन्धमाचेणैव सतां मामाजिकानां कन अरो-  
हति च मत्कारमुग्धं करोति । एतच्च गुणकृतवैचित्रमनङ्गी-  
कुर्वतां मुखमुद्रणायोक्तं वस्तुतस्तु शब्दार्थालङ्कारकृतवैचि-  
त्राणां विभिन्नत्वात् सत्यर्थालङ्कारयोरोर्जित्ये तदनुमत्स्वा-  
नात् प्रागेव गुणकृतवैचित्रं मामाजिकानामनुभवपथमवतरति,  
अत एवोक्तं, “तथा कवितया किम्बा तथा वनितया च किम् ।  
पदविन्यासमाचेण यथा नापहृतं मनः” इति । यत्र च गुण-  
वैचित्रं नास्ति तत्र सदर्थालङ्कारवैचित्रं न काव्यशोभां  
पुण्याति । यदाह भोजराजः । “अलङ्कृतमपि अयं न काव्यं  
गुणवर्जितम्” इति । अपरे च । यदि भवति वचस्युनं गुणेभ्या  
वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः । अपि जनदयितान दर्भगतं  
नियतमलङ्करणानि संशयन्त इति । एतदर्थमेव यन्यकृता,  
प्राणा दग्धगुणाः सूता इत्यनेन गुणानां प्राणलमुक्तम् ॥७१॥

दीप्तित्यपरर्भूत्वा कुच्छोद्यमपि वध्यते ।

न्यक्तेण क्षयितः पश्चः क्षत्रियाणां क्षणादिति ॥ ७२ ॥

मैकुमार्यं गौडवैदर्थ्योविंपर्यं दर्शयन्नाह । दीप्तित्य-  
परैरिति । दीप्तिरात्मविकृतिः उत्साहादिसमुद्दोधेन चित्तस्त्र

दोर्घप्रायत्वमित्यर्थः जनकतया तदिशिष्टं दीप्तं वीररौद्रवी-  
भत्तरसादिरूपमोजसि व्यञ्जमित्यर्थः, तदत्र वर्तते इति  
कला भृष्णातिशयेन कुच्छोद्यमपि ओजस्सिव्यञ्जव्यञ्जनानुकू-  
लतया पस्तवर्णघटितत्वात् कषेनोचार्यमपि वध्यते विन्य-  
स्यते इत्यत्वयः । अयमर्थः गौडाहि, यत्र, वीररूपमोजसि-  
व्यञ्जिव्यञ्जं तत्र पस्तवर्णस्त्राच्चनस्यावग्यकतया सौकुमार्ये  
नाद्रियन्ते, वैदर्ज्ञास्तु तत्रापि सौकुमार्ये प्रवेशयन्ति । यद्या,  
कलमनुमतं हृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं मनुजपश्चुभिर्निर्मर्या-  
दैर्भवद्विरुद्धायुधैः । नरकरिपुणा शार्दूलं तेषां सभीमकिरोटि-  
नामयमहमस्त्रेदोमांसैः करोमि दिशां वलिमिति । अत्र  
रौद्रेऽपि रमे नात्यन्तमुद्गुतावर्णाः । गौडानां सौकुमार्य-  
वर्ज्ञनमुदाहरति । न्यचेणेति । न्यच्चन्ति विप्रवधादिरूपनोच-  
कर्म कुर्वन्तीति न्यञ्चः कार्त्तवीर्यास्तान् स्फुति नाशयतोति  
न्यतः परश्चुरामः । अग्न्यादेः सुदादाविति षतं । अत्र रौद्रो  
रमः, अतश्च सुकुमारबन्धत्याग उचित इति गौडा मन्यन्ते ।  
न्यचेणाम्बेन धृतराष्ट्रेणेति केचित्, तत्र रुचिरं धृतराष्ट्रदुर्घ-  
न्तितेन चत्तियत्त्वात् करुणरससम्बवेन तत्र गौडानामपि  
वन्धपारुष्यानांचित्यात् ॥ ७२ ॥

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य, हरिणोहृता ।

भूः खुरकुस्तनागाद्यग्लोहितादुदधेरिति ॥ ७३ ॥

अर्थव्यक्तिं निरूपयति । अर्थव्यक्तिरिति । अर्थस्यानेय-  
त्वमकल्पनीयत्वम् उपात्तशब्दादेवेष्पस्तिरित्यर्थः, यावत्तो-

उर्धा अन्वयोपयोगितया अपेक्ष्यन्ते तदोधकतया तावतां पदानामुपादानमिति निर्गलितोऽर्थः । अतएव कमदीश्वरः, यावदाच्चाभिधानं यज्ञदर्थव्यक्तिलक्षणमिति । इयम्ब्रायचक्रिः शब्दगुणः, अर्थगुणभूता तु वसुस्वभावस्फुटीकरणस्थपा, अतएव तस्याः स्वभावोक्त्वलङ्घारेण परियह इति नव्याः, यदाङ्गः, अर्थव्यक्तिः स्वभाविकान्तङ्गारेण तथा पुनरिति । पदानां इटित्यर्थापस्यापकलं शब्दगतार्थव्यक्तिरित्यन्ये, यदाङ्गः, अर्थव्यक्तिः पदानां हि इटित्यर्थमर्मपर्णमिति । उदाहरति । हरिणेत्यादि । हरिणा वराहस्तपिणा, अत्राप्रमिद्धस्यादधिज्ञाहित्यस्य वर्णने कविञ्चिद्देतुरवग्यमपेक्षते मत्ते हेतुभूतोऽर्थः सुरत्याद्युपाज्ञशब्देनैव प्रत्याव्यते न तु कथचित् कल्प्यते इत्यर्थस्य पदेनैव व्यञ्जनादर्थव्यक्तिः । यत्र प्रमिद्धिरस्ति तत्र संतुर्नापेक्षने, यथा, “भस्यति मन्थाममयम्ब्रकद्वानि विघटयति” इति, अत्र मन्थायां चक्रवाकमित्युनविघटनस्य प्रमिद्धा न हेत्वाकाङ्क्षा, अतएव न तत्र निर्देतुताया दोषतं, यद्यन्, निर्देतुता तु स्यातेऽर्थं दोषतां नैव गच्छतोति । भोजराजेनापि, अध्याच्चारादिगमायै नेयार्थं प्रागुदाहतम् । मगस्यते प्रमिद्धिश्चेन्न तद्वायतर्ययते इति ॥ १३ ॥

मही महावराचेण नोहितादुदृतोदधेः ।

इतोयत्येव निर्दिष्टे नेयत्वमुरगास्त्रजः ॥ १४ ॥

अनेयत्वमर्थव्यक्तिरित्युक्तं नेयत्वम् कोदृगितिर्गमायै प्रत्युदाहरति । महीति । इयति एतावत्ताचे सुरक्षनामा-

सृगित्यांशं परित्यज्य लोहितादिति विशेषणमात्रे इत्यर्थः, निर्दिष्टे उक्ते सति उरगास्त्रजोनेयत्वमध्याहारादिना कल्प-नीयत्वम् । उदधिगतस्त्राहित्यस्त्रीपाधिकत्वादुपाधिपदप्रयोग-मन्त्रेण तस्यामङ्गतत्वप्रतीतेऽवश्यमेव कथचिदुपाधिरध्याह-रणोय इति नास्त्यत्रार्थव्यक्तिः । यत्र तत्त्वयवोधात् प्राग्बा-धादिज्ञानेन लक्षणार्थान्तरोपस्थितिस्त्रार्थव्यक्तिः सम्बव-त्येव, शक्तेव लक्षणार्थायुपस्थार्थस्यात्त्वयवोधविषयतायामवै-लक्षणात् । अन्वयवोधानन्तरमनुपत्त्युदयेन कन्यनीयार्थसौत्र-नेयत्वात् । परन्तु यत्र हृष्टिप्रयाजनाभावेऽपि लक्षणाभ्युपगमः प्रयोक्तुरमार्थं द्योतयति तत्रार्थस्य नेयत्वमिति नार्थव्यक्तिः, अतएव तथाविधलाक्षणिकपदस्य नेयार्थत्वात्यदोषदुष्टत्वम-भियुक्तैरुक्तं, तथाच नेयार्थत्वव्याकारे प्रकाशकारः । निरुद्धा-लक्षणाः काश्चित् मासर्थादभिधानवत् । कियन्ते साम्प्रतं का-श्चित् काश्चिन्वै तत्त्वक्रित इति यन्निपिद्धुं लाक्षणिकमिति ॥

॥ ७४ ॥

नेदणं वज्ज मन्त्रन्ते मार्गयोरुभयोरपि ।

न हि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घनी ॥ ७५ ॥

अर्थव्यक्तौ पूर्वोक्तप्रायःपदप्रतिपाद्यं गौडवैदर्भयोः साम्यं दर्शयति । नेदृशमिति । ईदृशं नेयार्थकवाक्यम्, उभयोरपि मार्गयोर्गोडवैदर्भयोः । न वज्ज मन्त्रत्वं इति अत्र हेतुमाह नहीति । शब्दन्यायः शब्दजन्यात्त्वयवोधे नियमः द्रुक्षुपस्था-

स्याप्यानामेवार्थानामन्वयबोध इत्येवंरूपः तं विसङ्गायत्र्यतिका-  
मतोति तादृशी, अभ्याहाराद्युपस्थितार्थविषयेत्यार्थः, प्रतीति-  
रन्वयबोधः, न हि सुभगा समीचीना, अर्थापन्नाद्युपस्थापि-  
तार्थप्रतीतेस्तु न शाब्दबोधत्वं तदुत्तरमेव तस्माः सङ्घावात्  
एव तात्पर्यपर्यालोचनयार्थान्तरप्रतीतिरपि शाब्दबोधान्तर-  
कालीनैव, यत्र तु द्वारां द्वारमित्यादै त्वरादिना पिधेही-  
त्यादिसाकाङ्क्षपदान्तरानुपादानेन शाब्दबोधामभवान्तरदर्थं  
श्रुतार्थापन्ना तादृशपदाध्याहारः तत्राधाहृतपदेऽपि शक्तिय-  
हाभ्युपगमेन तदर्थस्य दृच्युपस्थाप्यत्वान्व तर्जियमातिक्रमः ।  
एतच्च विशिष्टशक्तिवादमभिग्रह्योक्तम्, उपाधिशक्तिवादिभिस्तु  
आक्षेपगन्नाया अपि यक्ते: शाब्दबोधाभ्युपगमान्त्रिकनियमा-  
नाद्वौक्रियते इति विभावनीयम्॥ ७५ ॥

उत्कर्पवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।

तदुदाराह्यं, तेन सनाथा काव्यपर्वतिः ॥ ७६ ॥

उदारत्वं निरूपयति । उत्कर्पवानिति । यस्मिन् वाक्ये  
उक्ते मति उत्कर्पवान् वर्णनीयस्योत्कर्पजनकः कश्चिद्विलक्ष-  
णागुणस्याग्नीर्थादिरुपेभार्षाः प्रतीयते यज्ञनया वार्थते त-  
दाक्षमुदाराक्षयम् उदारत्वगुणवत्त्वेन कथितमित्यन्वयः, इत्य-  
अ वाक्यानां वर्णनीयस्योत्कर्पजनकगुणव्यञ्जकत्वमुदारत्वमिति  
लक्षणम्, उत्कर्पवानित्यनेन च अपकर्पजनकधर्षण्यञ्जकत्वस्य  
न निरुक्तगुणत्वं, यथा, हे हेलाजितबोधिसत्त्व वचसां किं

विस्तरैस्तोथधे नास्ति लक्ष्मदृशः परः परहिताधाने स्वहीत-  
प्रतः । तत्प्रत्यन्यजने पकारघटनावैमुख्यस्त्रभायशोभारप्रोद्द-  
हने करोषि कृपया साहायकं अग्नरोः । अत्र तोथधेरप-  
कर्षजनकोऽपेयानीयलक्ष्यधर्माव्यञ्जु इति गौदार्थसङ्घावः ।  
वस्तुतस्तु, उत्कर्षवाग् भज्ञा प्रतिपाद्यतेन चमत्कारजनकः  
गुणः उत्कर्षकोऽपकर्षके वा वर्णनीयधर्म इत्येवार्थः, एवम्  
अपकर्षजनकोऽपि धर्मो यत्र व्यज्यमानस्त्रमत्कारं जनयति  
तदपि वाक्यमुदारमिति तेन हे हेषाजितेत्यादावैदार्थम-  
स्त्रेव, अतएव क्रमदीश्वरेण, तदुदारं, गुणः कोऽपि यस्मि-  
न्द्रुके प्रतीयते, इति लक्षणं कला, अथा तावच्छरीरं मे या-  
वन्नं पिहितानेत्युदाहरता वर्णनीयस्त्रापकर्षजनकव्यञ्जयञ्ज-  
कलेऽप्युदारलमङ्गीकृतं । तादृश्यञ्जकता च वाक्यस्त्र वाचार्थ-  
दारा तेनार्थगतमिदं, शब्दगतन्तु विकटलक्षणं, विकटलक्ष-  
पदानां नृत्यप्रायत्वं, अथा, स्त्ररणविनिविष्टैर्नूपैर्नैर्जकी-  
नां झणिति रणितमासीनत्वं कलम्भेति । तेनेति । तेनोदा-  
रत्वेन काव्यपद्मतिर्गाडवैदर्भरूपा काव्यरीतिः । एतेनोदा-  
रत्वे गौडवैदर्भयोः सार्वं दर्शितं । सनाथा साश्रद्या सोत्कर्ष-  
त्यर्थः ॥ ७६ ॥

अर्थिना कृपणा दृष्टिस्वमुखे पतिता सङ्कृत ।

तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीकृते ॥ ७७ ॥

इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्मुत्कर्षः साधु लक्ष्यते ।

अनेनैव पथान्यत्र समानन्यायमङ्गुष्ठानाम् ॥ ७८ ॥

उदारतमुदाहरति । अर्थिनामिति । कृपणा दीना, पुन-  
खदवस्था दीना सती, नान्दस्य मुखमीचत इति एकेनैव कृता-  
र्थानामपरोपसर्पणामभवादिति भावः । अच वर्णनीयस्य राज्ञः  
प्रभूतदानरूपधर्मः प्रतिगृहीत्वाणां दाचक्षरोपसर्पणाभाव-  
रूपभज्ञा व्यज्यमानः कमपि चमत्कारविशेषं जनयति ॥ ७७ ॥

इदमेव दर्शयति । इतीति । इत्यस्मिन् वाक्ये त्यागस्य  
भज्ञा व्यज्यमानस्य वर्णनीयराजदानस्य उत्कर्षश्च मत्कारविशेष-  
जनकत्वं साधु शोभनं लक्ष्यते शामाजिकैर्ज्ञायते । शाखित्यच  
खल्विति क्वचित् पाठः । खलु यतो लक्ष्यते, अत इदमौदार्य-  
गुणविदित्यर्थः । अनेनैवेति । अनेनैव पथा एतत्पश्चप्रदर्शित-  
या रीत्या समानः सदृशोन्मायो व्यवस्थितिर्यस्य ताङ्गमुदारत्व  
मन्यत्र पद्यान्तरेऽपि ऊङ्गतां खयं विभाव्यताम् ॥ ७८ ॥

आर्षेर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदित्यत ।

यथा, लोनाम्बुज, क्रीडासरो, चेमाङ्गदादयः ॥ ७९ ॥

अत्र मतान्तरं दर्शयति । आर्षेरिति । आर्षेर्विशेषार्थो-  
त्कर्षकलेनाभिप्रेतार्थवेधकत्वात् सहदयप्रशंसनीयः, विशेषजै-  
रिति बङ्गवचनादेकदिविशेषणयोगे न चमत्कारातिशय  
इति सूचितम् । युक्तमिति वाक्यमित्यर्थः । उदारमुदा-  
रत्वगुणवत् । कैश्चिदित्यमेन साभिप्रायविशेषवशवस्थापुष्टा-  
र्थलदेषाभावरूपलादन्वैः परिकरास्तदारत्वेनोक्तत्वात् न  
गुणतमुचितमित्यस्मिन् कर्मे स्वसास्तरसः चूचितः । उदा-

इति । सोक्षामुजेत्यादि । सोक्षामुजमित्युक्ते अमुजस्य  
सोक्षेतिविशेषणास्तीलोपयोगिलेन वर्णाकारमोरभाद्यतिष्ठयः  
प्रतीयते, एवं क्रीडासर इत्यच सरसः क्रीडापयोगितया  
कमलकुमुदजलचरविहङ्गशोभितख्चक्षादुजलवलादिकं, हे-  
माङ्गदमित्यत्र च हेममयत्वेनाङ्गदस्य सुदृश्यत्वज्ञमूल्यता-  
दिकं । केचित्तु अयाम्यत्वमर्थगुणमुदारत्वमाङ्गलक्ष्मयक्,  
अयाम्यताया माधुर्यरूपलेन माधुर्यादार्थयोरभिन्नतापत्तेः,  
यदाह कमदीश्वरः, सानुप्राप्तलमयाम्यभावत्तु मधुरोगुण इति,  
माधुर्यप्रसावे यन्यक्षदपि, तथाययाम्यतैवैनं भारं वहति भूय-  
षेति ॥ ७८ ॥

ओजः समासभूयस्वमेतद्गद्यस्य जीवितम् ।  
पद्येऽप्यदाच्चिणात्यानामिदमेकं परायणम् ॥ ८० ॥

ओजोलक्ष्यति । ओज इति । समाप्तः पदानामेकीभावः  
तस्य भूयस्तु दीर्घलं बङ्गभिः पदैः समाप्त इत्यर्थः, तदोजः,  
एतत् समासभूयस्वरूपमोजः, गद्यस्य गद्यप्रबन्धविशेषस्य उत्क-  
स्तिकाप्रायात्मकस्येत्यर्थः, चूर्णकादौ दीर्घसमासत्वाभावात् ।  
जीवितं जीवितवत् सारभृतम् । इदस्य मार्गदये समानं । विप-  
र्ययमाह । पद्येऽपोति । अदाच्चिणात्यानां गौडानाम् । अपिना  
गद्यसमुच्चयः । इदं समासभूयस्वरूपमोजः । एकमदितीयं  
परायणमवस्थनं, गौडानां बन्धगाढताप्रियलेन तक्षूलतयानु-  
प्राप्तवदीर्घसमासस्थापत्यन्तमपेक्षणीयत्वात् । इदैत्तीजः बन्ध-

गुणः समासभूयस्त्रहपतया इव्वमाचगतलात् । अन्ये तु, चोजः प्रौढिः साच पञ्चविधा यथा, “पदार्थं वाक्यरचनं वाक्यार्थं च पदाभिधा । प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च” इति । तत्र पदार्थं वाक्यरचनं, यथा, चक्र इत्येकस्मिन् पदार्थं वक्तव्ये अत्रेन यनस्मुत्यं ज्योतिरिति वाक्यरचनं । वाक्यार्थं पदाभिधा यथा, निदाघशीतलहिमकालोषाशरीरा सुकुमारी वरयो-विदिति वाक्यार्थं वक्तव्ये वरवर्णिनोति पदाभिधानम् । एव-भेकस्य वाक्यार्थस्य किञ्चिदिशेषाभिधित्वया बज्जवाक्यैरभिधानं व्याप्तः, बज्जवाक्यप्रतिपाद्यस्त्रैकवाक्येन प्रतिपादनं समाप्तः, ए-तत्त्वुर्विधप्रौढिर्हपमोजः इव्वगुणः साभिप्रायस्त्रहपत्त्वर्थगुण इत्याङ्गः ॥ ८० ॥

तद्गुणां लघूनाच्च बाहुस्त्याल्पत्वमिश्रणैः ।  
उच्चावचप्रकारं तद् दृश्यमाल्यायिकादिषु ॥ ८१ ॥

तदिति । तत्समासभूयस्त्रहमुच्चावचप्रकारं नामादिः, कथ-मित्याह । गुणामित्यादि । कचित् समासाङ्गपदघटकानां गुह्वर्णानां वाङ्गज्येन स्त्रघुर्णानामस्त्वेन, कचिद् गुह्णाम-स्त्वेन स्त्रघूनाच्च बाहुस्त्यन्, कचिच्च द्विविधानां तेषां मिश्र-णेन साम्येन च । तत्त्वं आल्यायिकादिषु प्राचां रचितेषु गद्य-प्रबन्धविशेषेषु । आदिना चत्युक्तिदादीनां यहसं, दृश्यं स्त्रयमनुभवनीयम्, एतत्त्वं वैदर्श्यमतानुसारेणोऽस्त्रै गोडानां पद्ममयेष्वपि तत्सङ्गावभिमतेहकलात्, यथा सूर्योऽप्तकादौ

पश्यमयेऽपि दीर्घसमाप्ताः । आख्यायिकेत्युपादानात् कथादां  
रैद्रादिरसेऽपि न दीर्घसमाप्तो विभेदं इत्यवधेयम् । प्रकारमि-  
त्यच प्रकारेणेति दृष्टमित्यच च दृष्टमिति कचित् पाठः ।  
अन्यत्र च द्वितीयतदित्यच सदिति पाठः ॥ ८१ ॥

अस्तमस्तकपर्यास्तसमस्तार्काङ्गुसंस्तरा ।

पीनस्तनस्थितानाम्ब्रकम्ब्रवस्त्रेव वाहणी ॥ ८२ ॥

गौडानामभिमतं पश्यगतसमाप्तमृथस्त्रमुदाहरति अस्ते-  
ति । अस्तोऽस्ताचलस्त्रस्य मस्तकं झट्टं तत्र पर्यस्ताः परितः  
पतिताः समस्ताः सायं तन्मात्रवृत्तिलालात् सकस्ता येऽर्कां-  
म्ब्रः सायंकालोनलादारकाः सूर्यकिरणास्त्रैः संस्तर आव-  
रणं यस्तास्ताङ्गुश्री वाहणी पश्चिमदिक् पीनस्तने स्थितमाताम्ब्रं  
कम्ब्रं ग्रोभनं वस्त्रं यस्ताङ्गुश्री काचिच्चायिकेवत्यन्वयः ॥ ८२ ॥

इति पद्येऽपि पौरस्त्वा बध्नन्त्योजस्तिनीर्गिरः ।

अन्ये त्वनाकुलं इद्यमिच्छन्त्योजे। गिरां यथा ॥ ८३ ॥

पथोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांगुका ।

कस्य कामातुरं चेतो वाहणी न करिष्यति ॥ ८४ ॥

इतीति । पौरस्त्वा गौडाः, शोजस्तिनीः समाप्तमृथस्त्र-  
रूपैजोगुणवती । अपराभिमतमोजो खचयति । अन्ये विति ।  
गिरां वाक्यानामनाकुलमनाकुलत्वम्, उद्भृतसमाप्तादिना  
शोद्वुद्धेराकुलीभावात् तद्वित्तलमित्यर्थः, तथा इदं इच्छलं

प्राहस्यवैथिक्याभावेन सङ्घदयहृदयहरिलमित्यर्थः एवंस्य-  
मोज हस्तनि । अयमर्थः दीर्घसमाप्तः स्खल्यसमाप्तः समाप्ता-  
भावोवासु यस्मिन् श्रुते ओहृष्णां बुद्धेरनाकुलं श्रुतिसुखस्य  
भवति तत्त्वमोज इति । एतदुदाहरति । यथेति । पथोधरो-  
मेघ एव पथोधरः स्तनः, स्त्रिष्टरूपकम्, तस्य तटस्य प्रान्त-  
स्थासङ्गे स्त्रिं सन्ध्यातप एवांशुकमारकवसनं यस्यासाहृष्णी ।  
कामातुरमिति आरकवसनाच्छस्त्रसनतटनायिकासाम्येनोद्दो-  
पकलादिति भावः । अत्र पूर्वार्द्धवाक्यं दीर्घसमाप्तवदपि  
चक्षुमस्तकेत्यादिसोकवाक्यवस्त्रं ओहृष्णां बुद्धिमाकुलयति प्र-  
त्युत लालित्येन श्रवणसुखभादधाति, उत्तरार्द्धवाक्ये तु का-  
मातुरमित्यसमाप्तः अन्यत्र समाप्ताभावस्य, तथापि तत्  
किञ्चिद्गाढतया लालित्येन च प्रतीयमानं ओहृष्णामन्द-  
यति ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानन्तिकमात् ,  
तत्त्वं वार्ताभिधानेषु वर्णनास्त्वपि दृश्यते ॥ ८५ ॥

कान्तिं लक्षयति । काममिति । लौकिकार्थस्य सोकप्र-  
सिद्धवस्त्रेनाऽनन्तिकमादपरित्यागात् सोकप्रसिद्धवस्त्रवर्णना-  
दित्यर्थः सर्वजगतां देवादिभनुष्यास्तानां कान्तं कमलोयं  
बाधाद्यनुदयक्तार्थबोधसोकर्येण चमत्कारजनकतया स्पृह-  
षीयमित्यर्थः, इदृशं वाक्यं कान्तं कान्तिगुणवदित्यस्यच्चः,  
एवस्य सोकप्रसिद्धवस्त्रवर्णम् कान्तिरिति लक्षणम् । सर्वजगत्का-

अमिति तु प्रशंसनं । यदाह कमदीश्वरः । वर्णनात्युक्तिशू-  
न्या या सा कान्तिरभिधीयत इति । इवस्त्र कान्तिरर्थगुणः  
अर्थानुसन्धानप्राग्नुपलम्भात् । शैज्जचत्यरूपा तु अब्दगुणः  
शैज्जचत्यस्त्र इस्तिकादिपदविन्यासैपरीत्येनासौक्रिकशोभा-  
शास्त्रित्वम् । अन्ये तु दोप्त्रसत्त्वरूपमर्यगतं कान्तिगुणमाङ्गः ।  
कान्तेविषयं दर्शयति । तच्चेति । तत्कान्तिमहाकां । वार्त्ता-  
भिधानेषु अनामयप्रियालापप्रस्तावेषु । अनामयप्रियालापो-  
वर्त्तिवार्ता च कथ्यत इत्युक्तेः । प्रियालापे हि स्तोकप्रसिद्धो-  
वस्त्रभिधानमेवाचित्तम्, अन्ये तु वार्त्ताभिधानेषु इतिहा-  
सवर्णनेषु, इतिहासानां यथावद्वर्णनस्त्रैचित्यात् अयथावर्णने  
असत्यताप्रतिभासेन विनेयानां प्रदृत्यसम्भवात् प्रवस्त्रस्य रा-  
मादिवत् प्रवर्त्तितव्यं न रावणादित्युपदेशपर्यवसायिलानुपपत्ते-  
रित्याङ्गः । वर्णनास्त्रिति । वर्णनासु वस्त्ररूपनिरूपणेषु,  
तत्रापि यथावद्वर्णनस्त्रैचित्यात्, एताभासन्यत्र तु न मियमः,  
अतएव यज्ञकार्यस्य स्त्रतःसम्भवितेन प्रौढोऽक्रियिद्वितेन च  
नवानां काव्यभेदकरणं सङ्गच्छते । यदुक्तं प्रकाशक्तता, अर्थ-  
शस्त्रुद्वोऽप्यर्थाव्यज्ञकः सम्भवी स्त्रतः । प्रौढोऽक्रियात् चिद्वा-  
वा कवेष्टेनोऽभितस्य वा इति ॥ ८५ ॥

गृह्णाणि नाम तान्येव तपोराश्चिर्भवादशः ।

सम्भावयति यान्येव पावनैः पादपाशुभिः ॥ ८६ ॥

तत्र वार्त्ताभिधाने कान्तिमहात्मति । इत्याशोति ।

नामेति सम्भावनायाम् । तान्येव महाणि प्रशस्तगद्धाणि,  
महपदमत्र प्रशस्तगद्धे लक्षणिकं प्राशस्तातिशयस्य व्यञ्जः अ-  
तएवेदमर्थान्तरसंक्षिप्तवाच्यं नाम लक्षणामूलध्वनिकायं शक्त-  
तावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदकयोः सामान्यविशेषभावात् । तपो-  
राशिस्तपोबङ्गलः । सम्भावयति गौरवं प्रापयति, अत्र प्रै-  
ढोक्तिमन्तरेणापि सत्पुरुषचरणसम्पर्केण स्थानस्य प्रशस्ताह्यो-  
वर्णनीयार्थेऽलोकप्रसिद्धू एव, इयम् प्रियालापह्या वार्ता ॥

॥ ८६ ॥

अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः ।

अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाङ्गलतान्तरे ॥ ८७ ॥

वर्णनायामुदाहरति । अनयोरिति । जृम्भमाणयोर्दृद्धिं  
गच्छतोः, बाङ्गलतान्तरे वक्षसि, अवकाशः स्थानं न पर्याप्तो  
न प्रभृतः अतिपीनोत्तुङ्गौ स्तनौ चुद्राथतमे वक्षसि सप्तमाधा-  
वेव वर्त्तते इत्यर्थः । अत्र स्तनवर्णनायां स्तनयोः पीनोत्तुङ्ग-  
योर्वक्षसि सप्तमाधावस्थितिर्लोकप्रसिद्धैव वर्षिता ॥ ८८ ॥

इति सम्भाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम् ।

कान्तं भवति सर्वस्य लोकयाचानुवर्त्तिनः ॥ ८९ ॥

स्त्रोकदये कान्तिं सङ्कृमयति । इतीति । इति वार्तावर्ण-  
नाविषयकस्त्रोकदयप्रतिपाद्यं सम्भाव्यमेव लोकप्रसिद्धूतया स-  
म्भावनीयमेव न स्त्रियः असम्भवदपि कल्पनीयम् । एतच्च  
विशेष आख्यायतेऽनेनेति विशेषाख्यानमुत्कर्षं वोधकविज्ञेयणं तेन

संख्यतमस्तद्वत् सत् लोकयाचानुवर्त्तिनो लोकयवहारमनुभवानस्य लोकयवहारजनितसंस्कारमन्वस्येत्यर्थः । सर्वस्य जनस्य कान्तं कमनीयं भवति, तस्मादेतदर्थप्रतिपादकवाक्यं कान्तिगुणवदित्यर्थः । विशेषाख्यानमस्त्रितमित्यनेनैतदुक्तं, लोकप्रभिद्वस्तुवर्णनमाचेषैव न कान्ते; सम्भवः अन्यथा, गोरपत्यं बलीवद्वा घासमत्ति मुखेन स, इत्यादेरपि लोकसमाव्यवलोवद्वकर्तव्यमभजणहृपवस्तुवर्णनया कान्तिमन्वेन काव्यत्वापन्ते; किन्तु उत्कर्षवेधकविशेषणविद्यामेन वैचित्रजनकतया, वैचित्रस्यैव गुणालङ्कारहृपत्वात्, प्रकृते च गृहाणिनाम तान्येत्यादिपद्यदये तत्तदिशेषणकृतवैचित्रं स्फुटमेवेति विभावनीयम् ॥ ८८ ॥

लोकातोत्त इवार्थमध्यारोय विवक्षितः ।

योर्थस्तेनानितुष्टन्ति विदग्धा नेतरे जनाः ॥ ८९ ॥

गौडमार्गं निरुक्तकान्तविर्पर्ययं दर्शयति । लोकातोत्त इवेति । इवार्थर्थः । योर्थोऽव्यन्तं लोकातीतोऽपि लोकप्रसिद्धिमतिकालोऽपि अध्यारोय उपर्य विवक्षितः, तेनार्थेन विदग्धा विदग्धं भन्यमाना गौडा इत्यर्थः, मोङ्गुणनोक्तिर्थयः । विगतं दग्धं दाहोऽसम्भव्यर्थानुभवकृतमनःक्लेशो येषां ते इति वा । अत्यतिश्चयेन तुष्टन्ति, इतरे जना वैदर्ढ्याः पुनर्ज तुष्टन्ति । अध्यारोयेति । न च योग्यतायाः आव्दबोधे हेतुवादारोपितार्थस्त्वायोग्यतेनान्यवोधाऽपि कथमिति वाच्च

रूपकाद्यसङ्कारस्यासङ्कारिकैः सर्वे वाभ्युपेयत्वेन शाश्वतं-  
रा हार्यत्वस्यावश्ववक्तव्यत्वेन योग्यतायास्तप्तयोजकत्वान्मङ्गोका-  
रात्, अतएवोक्तम्, अत्यन्नासत्यपि च्छ्रद्धं ज्ञानं शब्दः करोति  
हीति ॥ ८८ ॥

देवधिष्ठयमिवाराधमद्यप्रमृष्टिं नो गृह्णम् ।  
युक्तपादरजः पातधौतनिः गोपकिल्विपम् ॥ ८९ ॥

वात्ताभिधाने कान्तिर्विपर्ययं दर्शयति । देवधिष्ठयमिति ।  
विष्णु स्यानं । किल्विषममङ्गलम् । अत्र महायुहपचरणरजः-  
सम्यक्ण गृहस्य प्रशस्तैव लोकप्रसिद्धा, देवानामसाम्बन्धारा-  
थता तु प्रोढोक्त्वाध्यारोपिता ॥ ९० ॥

अन्त्यं निर्मितमाकाशगमनान्तर्च्छैव वेधसा ।  
इदमेवं वेधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भाणम् ॥ ९१ ॥

वर्णनायां विपर्ययं दर्शयति । अन्तमिति । भवतः स्तन-  
जृम्भाणं स्तनयोरुपचितिरेवं विधं वक्षत्वकाशयापि भावि भवि-  
अति इदमनास्त्राच्छैव वेधसा आकाशगम्भ्यं निर्मितमित्यच्यः ।  
अत्र विधातुरनान्तर्च्छैव काशनिर्माणवर्णनेन स्तनयाः  
पीनोक्तुङ्गत्वप्रतिपादनं चाटुकारस्यात्युक्तिविजृम्भितं, तथाहि  
अतिमहताऽप्याकाशस्याम्पलं, सर्वज्ञस्यापि विधातुरनास्त्रा-  
चनपूर्व्यका स्थृष्टिः, विल्वकोस्त्रुत्ययोरपि स्तनयोर्महमन्दर-  
हिमास्त्रादिभिर्गिरिवर्देष्यपूर्यमाणेऽनिमहत्याकाशं सप्तमा-

धात्रभिनिरित्येतत् सर्वे लोकप्रसिद्धिमतिकाळमपि वर्ष्यमानं  
प्रयोक्तुरपहसनीयतामाविर्भावयतोति न काळता वाक्यस्य ॥  
॥ ८१ ॥

इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्गौडोपलालितम् ।  
प्रस्थानं प्राक् प्रणीतन्तु सारमन्यस्य वर्त्मनः ॥ ८२ ॥

उपसंहरति इदमिति । इदमेवविधं काव्यवाक्यमत्युक्ति-  
रित्युक्तमत्युक्तिरिति नामा आलङ्कारिकैः कथितम् । यथा ह  
भोजराजः, “लौकिकार्थमतिकम्य प्रस्थानं यत्र वर्ष्यते । तदत्यु-  
क्तिरिति प्राक् गौडानां मनसो मुदे” इति ॥ इदमित्यच  
इयमिति क्वचित् पाठः । गौडोपलालितं गौडैश्यमत्कार-  
जनकतया व्यवहृतम् । अत्र वैदर्घ्याणामनादर इत्याह । प्र-  
ग्यानमिति । प्राक् प्रणीतं प्रस्थानन्तु लोकसम्भाववस्तुवर्णनरूप-  
मन्यस्य वर्त्मनो वैदर्घ्यमार्गस्य सारमुपादेयं, तदयं काळो  
गौडवैदर्घ्यार्थिपर्ययः ॥ ८२ ॥

अन्यधर्मस्तोताऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।  
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मतो यथा ॥ ८३ ॥  
कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युर्मिपन्ति च ।  
इति नेत्रकियाध्यासाक्षव्या तद्वाचिनो श्रुतिः ॥ ८४ ॥

समाधिं स्त्रयति । अन्यधर्म इति । अन्यस्याप्रस्तुतस्य  
कम्यचिद्गुणी गुणकियारूपः, ततस्तस्माद्गुणिणोऽन्यत्र कम्य-  
श्चित् प्रस्तुते लोकसीमानुरोधिना लोकमर्यादामनुहन्त्यानेन

वक्त्रा यत्र वाक्यार्थे सम्यगाधीयते गौणशब्दप्रयोगेण साध्यव-  
सानगौण्या लक्षणया उपचर्यते स वाक्यार्थः समाधिः समाधा-  
ख्यगुणवान् स्तुतः, यत्रेत्यत्र यन्त्रिति पाठे कियाविशेषणं, यत्  
समाधीयते स समाधिः सम्यगाधानरूपः समाधाख्यो गुण  
इत्यर्थः । उपचारशाचाहार्याभेदप्रतीतिरूपः स च लक्षणा-  
याः प्रयोजनभूतः लक्षणाजन्यसादृश्यप्रतीतेऽनन्तरमेव तन्मूल-  
व्यञ्जनया तस्य प्रतीतिसम्बवात् । एकच्च प्रकाशक्ता गौण-  
लक्षणप्रस्तावे, भेदेऽपि ताद्रूपप्रतीतिः सर्वथेवाभेदावगमश्च  
प्रयोजनमिति । लक्षणा चात्र साध्यवसानरूपा मा च विषयस्या-  
नुपादान एव सम्भवति तेन च विषयोपादाने सारोपगौण्यां  
न समाधेः सम्भवः । इत्यच्च प्रस्तुतस्य धर्मं निर्गोर्य तत्र सदृ-  
शतया अप्रस्तुतधर्मस्य तादात्याध्यवसानं समाधिरिति लक्ष-  
णम् । धर्मत्यनेन धर्मिणोऽध्यवसाने नायं गुण इति सुचितं ।  
यथा, लतामूले लोनो हरिणपरिदीनो हिमकरः स्फुरन्ता-  
राकारा गलति जलधारा कुवलयात् । धनोते वन्धुकं तिन-  
कुसुमजन्मापि पवनो वहिर्दारे पुण्यं परिणमति कस्यापि कृ-  
तिनः, इत्यादौ मुखादौ धर्मिणि धर्मिणश्चादेरध्यवसानम्,  
अचातिशयोक्तिरलङ्घारः । सोकमीमानुरोधिनेत्यनेन स्वेच्छ-  
या विषदृशधर्मात्मामेन सोकविरोधे न समाधिसम्भवः । यथा  
दृष्टिं मशका यत्र तत्र निद्रा सुदुर्लभेति, अत्र दृष्टिं करि-  
गर्जितमित्यभिधानात् करिधर्मस्य दृष्टिं स्वेच्छादृशव-  
सानं सोकविरहम् । उदाहरति यत्तेति, अचाप्रस्तुतस्य चक्षुषो

धर्मो निमीलनोन्मेषौ प्रसुतयोः कुमुदकमलयोर्दलसङ्कोच-  
विकाशरूपधर्मतादात्येनाध्वर्मितौ, इदञ्चाध्वरमानं न लोक-  
विरह्वुं त्रिपथ्यविषयिणोरनयोः सादृश्यातिशयवत्तेनाभिन्न-  
प्रायसात्, तथात्वेन चानयोरेकशब्दप्रयोगप्रतिपाद्यते, यथा  
चकुर्निमीलति कुमुदं निमीलति चकुर्निमिषति कमलमुन्मि-  
षतोति, इदमेव दर्शयति । इतीति । नेत्रक्रियाधासात् नेत्रस्य  
क्रियाभ्यां निमीलनोन्मेषाभ्यां सह तादात्यारोपात् कुमुद-  
कमलधर्माभ्यां दलसङ्कोचविकाशाभ्यां तद्वाचिनो श्रुतिर्लभा  
नेत्रक्रियावाचकः शब्दः स्वप्रतिपादकतया प्राप्तः, पदार्थाना-  
मेकत्वेनैकशब्दप्रतिपाद्यत्वाचित्यात् यथा घटो घट इति विभि-  
न्नते तु विभिन्नशब्दप्रतिपाद्यते यथा घटः पट इति । अयच्च  
ममाधिरर्थगुणः अर्थे अर्यान्तरारोपस्वरूपतात् । केचित्तु,  
अयोन्यन्यच्छायायोनिरूपदिविधार्थदृष्टिरूपमर्थगुणं सप्ताधि-  
माङ्गः, तत्रायोगिरर्थः कविमस्यदायपरिगोलितपद्मुति-  
मन्तरेण स्वदुद्धिविभवमाचप्रादुर्भावित उपमानोपमेयभावा-  
दिरूपः । यथा, सद्यामुण्डितमन्तर्हनचित्वुकप्रसर्द्धिनारङ्गक-  
मिति । अत्र नारङ्गकस्य छन्दितविभवेन सहोपमानोपमेयभावो  
न केनापि प्राकृतकविना प्रदर्शितः केवलमेतत्कविनैव  
स्वबुद्धा प्रादुर्भावितः । अन्यच्छायायोन्यर्थस्तु प्राकृतकविपर-  
म्यरायवहतः किञ्चिद्भज्यन्तरेण वर्णितः । यथा, ‘निज-  
नयनप्रतिविम्बैरमुनि बङ्गशः प्रतारिता कापि । नीलोत्पत्ते-  
ऽपि विम्बशति करमर्पयितुं कुसुमलावी’ इति । अत्र नयन-

नीतेत्प्रयोः सादृशं कविमप्यदायप्रसिद्धं विच्छिन्निविशेषे-  
णात्र निबद्धम् । शब्दगुणभूतः समाधिस्तु आरोहावर्तोहकम-  
रुपोऽन्यैरक्तो ज्ञातव्यः । तत्र आरोहेऽनुप्राप्तादिना उत्कर्षः  
अवरोहस्तदभावादपकर्षः तथोः क्रमो वैरस्थानावहो विन्यामः ।  
यथा, चञ्चलजभूतचण्डगदाविघातेत्यादि । अत्र पादनये  
बन्धस्य गाढता चतुर्थपदे लपकर्षः सोऽपि तोत्रप्रयत्नोचार्य-  
तथा गाढायमानो वैरस्यं न जनयति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

**निष्ठूतोङ्गोर्णवान्तादिं गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।**  
**अतिसुन्दरमन्यत्र याम्यकशां विगाहते ॥ ६५ ॥**

समाधिर्गोरुणलक्षणामूलकत्वं प्रकटयति । निष्ठूतोङ्गोर्णव्या-  
दि । निष्ठूतोङ्गोर्णवान्तादिपदं गौणवृत्तिव्यपाश्रयं गौणलक्ष-  
णामूलकं गौणलक्षणया स्वमुख्यार्थमद्वृशेऽर्थं प्रयुक्तं सदित्यर्थः ।  
अतिसुन्दरं शब्दद्यहृदयहृदयेन समाधिगुणवत् । अत्रार्थ-  
गुणस्यास्य शब्दगतत्वं परम्परयेति बोधम् । अत्यवेति । ३ ग-  
वृत्तिव्यपाश्रयत्वाभावेन मुख्यार्थं एव प्रयोगे इत्यर्थः, याम्य-  
कशां विगाहते याम्यवरुपदोषदुष्टतां प्राप्नोति । मुख्यवृत्त्या  
प्रयुक्तं निष्ठूतादिपदं न परं गुणवत् प्रत्युत दोषवदपि गौण-  
वृत्त्या तु गुणवदेवेति लक्षणाफलभृततादात्मागोप एवात्र  
हेतुरिति विभावनीयम् । अत्र गौणवृत्तिपदं सम्भावनाया  
उपलक्षकं तेनोत्प्रेक्षायां मुख्यापि वृत्त्यास्त्रीस्तपदप्रयोगे गुणएव  
एतचाग्रिमक्षोक्ते दर्शयिष्यामः ॥ ६५ ॥

पद्मान्यकांशुनिष्ठूताः पीत्वा पावकविप्रुष्टः ।  
भूयो वमन्तीव मुखैसङ्गीर्णारुणरेणुभिः ॥ ८६ ॥

एतदेव दर्शयन्नुदाहरति । पद्मानोति । सायन्तनसमीर-  
मङ्गस्वलत्परागपद्मवर्णनमिदम् । अर्कांशुनिष्ठूताः सुर्यकिर-  
णीर्निचिप्ताः पावकविप्रुष्टो वक्त्रिकणान् । उङ्गीर्णारुणरेणुभि-  
रिति पावकविन्दुवमनोत्तेचायां इतुः । अच देहान्तःकफादि-  
निचेपशक्तयोः निष्ठिवाङ्गुधालोर्निचेपमाचार्थं लक्षणा सामान्य-  
शब्दस्य विशेषार्थपरलवदिशेषार्थकसापि सामान्यपरते तद-  
भ्युपगमस्तौचित्यात् । साच शक्तार्थलक्ष्यार्थयोः सादृश्यादृगौणी  
सादृश्यच्च कफनिचेपो त्रिपुडनिचेप इतेति विजिष्टनिचेपयो-  
स्ययोर्विभन्नतात् । वमन्तीवेत्यत्र तु न लक्षणा आहार्यवत्  
सम्भावनायामपि बाधोदयस्याकिञ्चित्करत्वेनान्वयवोधाप्रति-  
वभ्नात् । लक्षणाफल्लीभृतताद्रूपप्रतीतेरिव सम्भावनाया अपि  
चमत्कारजनकत्वेन गुणतं युज्ञते, तस्मात् पूर्वच गौणदृच्छित्ति-  
पदस्य सम्भावनोपलक्षकत्वं सुषूक्तम्, एवम् आस्त्राद्य निरवशेषं  
विरहिबधूनां सृदूनि मांसानि । करकामिषेण मन्ये निष्ठीवति  
नीरदोऽस्योनि, इत्यत्र सापक्तवोत्तेचायां निष्ठीवतीत्यत्र न  
लक्षणा ॥ ८६ ॥

इति हृदयमहृदयन्तु निष्ठीवति वधूरिति ।  
युगपन्नैकधर्माणामध्यासश्च सृतो यथा ॥ ८७ ॥

इतीति । इति पूर्वस्त्रोकगतं गौणदृच्छिव्यपाश्रयं निष्ठूता-

तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिनाम योगुणः ।

कविसार्थः समयोऽपि तमेनमनुगच्छति ॥ १०० ॥

समाधिमुपसंहरति । तदेतदिति । तत्त्वात् पूर्वप्रदर्शितनयेन काव्यस्य चारुवातिशयजनकत्वादित्यर्थः । समाधिनाम योगुणः, एतत् काव्यस्य सर्वस्वं काव्येवश्चमपेचलीयमित्यन्वयः । समयोऽपि गौडो वैदर्भोऽपरोवापि, तमेनमनुगच्छति काव्यतन्निवेशाय यतते । एनमित्यत्र एकमिति क्वचित्पाठः, मुख्यमित्यर्थः, प्रधाननायैतत् सर्वेषामेव प्राणत्वेनोक्तत्वात् । इति दशगुणा निरूपिताः, एषु च केचिद्द्वाषाभावरूपाः केचिच्चालक्षाररूपा अपि प्राचां मतमनुभ्वानेन यन्वक्ता गुणत्वेनोक्ताः, नव्यासु मतेऽस्मिन्ननादरवक्त्वामाधुर्योजःप्रसादाख्यं रसगतं गुणत्रयमेवेच्छन्ति यथा प्रकाशकारः । माधुर्योजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दर्शति ॥ १०० ॥

इतिमार्गदयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।

तद्देदाम्नु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः ॥ १०१ ॥

तत्र वैदर्भगौडोदै वर्णेते प्रस्फुटान्तरावित्यनेन प्रतिज्ञातं गौडवैदर्भयोर्विभक्तया निरूपणमुपसंहरति । इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण तयोर्गौडवैदर्भयोः, स्वरूपनिरूपणात्, इति वैदर्भमार्गस्य प्राणादशगुणः स्वताः, एषां विपर्ययः प्रायोदृशते गौडवर्त्मनीत्यनेन गुणसङ्घावाभावकृतस्वरूपप्रतिपादनादित्यर्थः । भिन्नमत्यन्तविसङ्घं । नन्वन्तेऽपि लाट-

पाञ्चालादिका मार्गभेदाः सन्ति तेऽपि निरुद्योरवित्याश-  
ङ्गाह तद्वेदा इति । गौडवैदव्याभ्यां भिन्नास्त्वा काव्यमा-  
र्गस्य भेदा लाटपाञ्चालादयः प्रतिकवि स्थिताः तत्तदेशजात-  
कविभिरादृताः । न शक्यन्ते इति, भेदाः सत्यं सन्देव परन्तु  
अनेकतेन वक्तुमशक्यत्वात् निरुपिता इत्यर्थः । तद्वेदा गौड-  
वैदव्योरवान्तरभेदा इति वा ॥ १०१ ॥

इन्द्रुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।

तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥ १०२ ॥

पूर्वीकसेव दृष्टान्तेन द्रढयति । इच्छिति । आदिना  
मधुरमाचाणां यहणं । अन्तरं भेदः । महदिति स्फुटं प्रतीय-  
मानवादनपलपनीयमित्यर्थः । तदन्तरम् । आख्यातुं तत्त्वां-  
माणेषेन निर्देष्यु । सरस्वत्यापि का कथाच्चेषां वाग्धिष्ठाच्या  
देश्यापि, न शक्यत इति अमङ्गाचादिति भावः । मधुरवस्तुनां  
माधुर्यभेदवत् काव्यमार्गाणां भेदोऽनिर्बचनीयस्याद्भेदद्वय-  
मेव स्फुटभेदं प्रदर्शितमिति भावः ॥ १०२ ॥

नैमर्गिकी च प्रतिभा श्रुतच्च वज्ज निर्मलम् ।

अमन्दशाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥ १०३ ॥

एवमस्य शरीरमुक्ता कारणमाह । नैमर्गिकीति । नैम-  
र्गिकी स्वाभाविकी प्राक्कनजन्मसिद्धेत्यर्थः प्रतिभा शक्तिः सं-  
रक्तरविशेष इत्यर्थः । तथा वज्ज अनेकं इन्द्राचाकरणकोष-

कलाचतुर्वर्गं गजतुरगस्त्रादिलक्षणात्मकमित्यर्थः, निर्भलं सद्-  
पदेशेन निःसन्देहतयाधिगत्य सम्यक् परिशोलितमित्यर्थः,  
अतं शास्त्रस्त्र बहुनिर्भास्त्रास्तानुशोलनजनिता व्युत्पन्निरि-  
त्यर्थः, एतदुपलक्षणं स्ताकदर्शनजनितापि व्युत्पन्निः काव्यका-  
रणं, तथा अमन्दोऽनन्तः अभियोगोऽभ्यासस्त्र काव्यज्ञापदेशेन  
पैत्रः पुन्येन प्रवृत्तिरित्यर्थः, एतच्छ्रितयं समुदितं न तु व्यस्तम्,  
अस्या निरक्षरीरायाः काव्यस्य सम्यदः सम्भूः कारणं का-  
व्यसम्भूद्विकृतिज्ञाप्तोर्हेतुः करणवज्ञानस्यायेतच्छ्रितयजन्यत्वात् ।  
कथच्छ्रितपरिचिन्तनया अप्रतिभादिभतामेकदिकाव्यकरणे-  
ऽप्रतिप्रसङ्गवारणाय सम्यद इत्युक्तम् । अत्र कारणता व्यापका-  
न तु प्रत्येकपर्याप्ता अव्युत्पन्नानामयतमानानास्त्र बालादीनां  
केवलप्रतिभया काव्यानुदयदर्शनात् तेषामेव च कान्नान्तरेण  
व्युत्पन्नभ्यायवतां काव्यदर्शनात्, तथा व्युत्पन्नानां यतमाना-  
नास्त्र केषाच्छ्रितप्रतिभाभावेन तददर्शनात् तथा यतमानानां  
तेषां दर्शनादयतमानानास्त्रादर्शनादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां च  
निश्चयः । इदमेवोक्तं प्रकाशकृता, शक्तिर्निपुणता स्ताकशा-  
स्त्रकाव्याद्यवेच्छणात् । काव्यज्ञशित्याभ्यास इति तु सदुद्भवे  
इति । आख्यातस्त्र तेनैव, इति चयः “समुदिता न तु व्यस्ता-  
स्या काव्यस्त्राह्ववे निर्भाणे समझामे च हेतुन्तु हेतव” इति ।  
अन्ये तु प्रतिभैव काव्यस्य कारणं, व्युत्पन्नस्य चाहलहेतुः  
अभ्यासस्त्रुद्विहेतुः । प्रतिभा च क्वचित्स्वतः प्रसरति क्वचिच्च  
देवताद्यनुयहात्, भाविकवित्वानां बालानां सत्यामपि प्रति-

भायां काव्यानुदयात् कालस्य तत्सहकारित्वमङ्गीकार्यमि-  
त्याङ्गः, यथा, “कवितं जायते शक्तेर्वर्द्धते उभ्यामयोगतः । तस्य  
चाहलनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिसु गरीयसी” इत्यादि । मते चामिन्  
कार्यभेदात् प्रतिभादित्तिथगता कारणता व्यामङ्गा । वय-  
न्तु, प्रतिभापरपर्याया शक्तिरेव काव्यकृतिश्चप्रिहतुः शक्तिश्च  
संस्कारविशेषरूपा, अतिरिक्ता वा मणादेदादिकादिवत्, सा च  
प्राक्तनी चेदानीन्तनी च, तत्र प्राक्तनी मिद्दैवास्ति इदानी-  
न्तनी तु शास्त्रकाव्यलोकदर्शनादिजनितविलचणव्युत्पत्त्या नि-  
यताभ्यावेन च पुरुषे जायते कारणलज्जानयोर्दण्डकादिव-  
न्मिलितयोरेव, अव्युत्पत्तानां वालादीनामैहिकशक्त्यभावेन व्य-  
ुत्पत्तानां यतमानानामपि केषाच्चित् प्राक्तनशक्त्यभावेन काव्या-  
नुदयदर्शनादिति ब्रूमः ॥ १०३ ॥

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना  
गुणानुबन्ध प्रतिभानमङ्गुतम् ।  
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता  
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥ १०४ ॥

\* प्रतिभादित्तिथं काव्यसम्यदः कारणमित्युक्तं तत्र यदि  
व्युत्पत्त्यभ्यासवन्तस्तस्मादनप्रवृत्ता अपि कृतार्था न भवन्ति  
तर्हि किं ते प्रतिभाया अभावगिर्ययेन तस्मादिरमेयु-  
र्नहि न हीत्याह । न विद्यत इति । अङ्गुतमनर्गलकाव्य-  
सम्यतस्मादकलादास्त्वयेण, पूर्ववासना जन्मान्तरीणसंस्काररूपं

तथा गुणानुबन्धि काव्यसम्भादनेवोत्कर्षातिशयजमकं  
प्रतिभानं प्रतिभा यद्यपि न विद्यते । यदा वासना वाचका,  
वासनाविषयागुणो वासनागुणः सर्वप्रार्थनीयकवित्वकीर्त्या-  
दिरूपगुण इत्यर्थः, शाकपार्थवादित्वान्मध्यपदलोपिकर्मधा-  
रयः । पूर्वर्षा प्राक्कनकवीनां वासनागुणस्यानुबन्धि जनकं  
प्रतिभानमित्यन्वयः । अनन्तरं तथापि न विरस्यतामि-  
त्यधाहार्य । नन्तमत्यां प्रतिभायां कोगुणस्तप्तयामनेत्या-  
शङ्कायामाह । श्रुतेनेति । श्रूयत इति श्रुतं अवणं प्राक्कन-  
काव्यप्रवन्धानुशीलनमित्यर्थः तथा यद्येन तत्करणप्रयामेन  
च, उपासिता निरल्लरमाराधिता सती, कमण्यनुयहं भुवं  
करोत्येव अवश्यं किञ्चित् काव्यसम्यादनसामर्थ्यं जनयत्येव, अत्र  
भ्रुवेतिशब्ददर्शेन व्यभिचाराशङ्का निरसा । इत्यस्त्र प्रतिभा-  
दिसमुदायः काव्यसमृद्धिं प्रत्येव हेतुः किञ्चिन्नु युत्यन्यभ्या-  
माभ्यामपि भवतीति न पूर्वापरविरोधः ॥ १०४ ॥

तदस्तत्त्वैरनिशं सरस्वती  
अमादुपास्या खलु कोर्जिमोषुभिः ।  
कृष्णे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्चमा  
विद्युगोषोपु विवर्जन्मीशते ॥ १०५ ॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शे मार्गविभागो नाम  
प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

पूर्वाक्षमुपमंदरति । तदिति । तत्त्वात् । अस्तत्त्वैरन-

स्वैः । श्रमात् श्रममङ्गीकृत्य । उपासा अनुशीलनोया । कीर्त्तिः  
हतिज्ञपृथ्वतरजन्यं यद्भः । फलान्तरमाह । क्षेत्रे इत्यादि ।  
क्षेत्रे अत्ये कविलेऽपि काव्यस्थ करणे ज्ञाने च, विद्यधगोष्ठीयु  
कविसामाजिकसभासु । विहर्त्तुमीमांते समादरं लभ्यन्मर्हन्ति,  
एतेन कीर्त्तिसमादरौ कविलसामाजिकत्वयोः फलतेन प्रति-  
पादितौ तत्त्विष्युभिरवश्यमेवाच सततं यतनीयमिति सुचितम् ।  
खल्पयोररथनयोः खर्गदिसाधनतं युतिरथाह यथा । एकः  
शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः खर्गे लोके च कामधुभवतीति ।  
एक इत्यत्रापिकारोवाधः, एकोऽपीत्यर्थः । सम्यग्ज्ञात इत्यत्र  
च वाकारः, सम्यग्ज्ञातोवेत्यर्थः ॥ १०५ ॥

इति श्रीप्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्यविरचितायां मालि-  
न्यप्रेष्ठनीसमाख्यायां काव्यादर्शटीकाचार्यं प्रथमः परिच्छेदः ॥

॥ १ ॥

काव्यादर्शः ।

द्वितीयः परिच्छेदः ।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्घारान् प्रचक्षते ।

ते चाद्यापि विकल्पन्ते कस्तान् कार्त्स्नेन वक्ष्यन्ति ॥ १ ॥

अथ धर्मिणि निष्ठपिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायते  
इति प्रथमपरिच्छेदे शरीरं तावदिष्टार्थवच्छिन्ना पदाबली-  
त्यनेन धर्मिभूतं काव्यशरीरं निष्ठप्त, काव्यं कल्पान्तरस्यायि-  
जायेत सदलङ्घतीत्यनेन प्रशंसनादुपादेयधर्मानलङ्घारान्नि-  
रूपयितुं द्वितीयपरिच्छेदमारभमाणसत्रं सत्त्वयितव्यानां  
तत्त्वं दिशेषालङ्घाराणां निष्ठपणं सामान्यलक्षणं निष्ठपणानन्त-  
रमेव सुप्रतिपादमिति प्रथममलङ्घाराणां सामान्यलक्षणं  
निष्ठपयति । काव्यशोभाकरानिति । काव्यस्य इष्टार्थवच्छि-  
न्ना पदाबलीत्युक्तलक्षणस्य काव्यशरीरस्य शोभा स्थिष्ठादि-  
गुणकृतवैचित्रं तत्त्वं चमत्कारविशेषजनकज्ञानगोचरत्वं तत्क-  
रान् तदनिश्चयहेतुन् धर्मान् ग्रन्थार्थगतान् वर्णादृच्छादिसा-  
दृश्यादीन् अलङ्घारान् प्रचक्षते अलङ्घारेतिनाक्षा प्राप्तो-  
व्यवहरन्ति यथा शारादद्यः शरीरस्य रूपयौवनादिहृत-  
शोभां पुण्णनोऽलङ्घारपदवाच्यास्तथा ग्रन्थार्थरूपस्य काव्य-  
शरीरस्य स्थिष्ठादिगुणकृतवैचित्रं पुण्णनोऽनुप्राप्तमादय इति

मते चामिन् गुणानामस्तद्वाराणां शब्दार्थगत्वम्, इत्यस्त्र  
काव्यशोभाधाः कर्त्तरोगुणास्तदतिष्ठयहेतवस्तद्वारा इति गु-  
णालङ्कारयोर्विवेक इति वामनाद्युक्तमादरणोयं । नव्यास्तु रस-  
स्त्रैव धर्मा माधुर्योजःप्रसादास्त्रय एव गुणाः, द्वारादिवदाच्य-  
वाचकलक्षणाङ्गताः स्वाश्रयशोभाजननद्वारात्रिनोरमस्य शो-  
भाजनका अलङ्काराः गुणालङ्काराणां विभिन्नाश्रयत्वादेव च  
भेद इत्याङ्गः, चैतत् समीचीनं मधुरोरस इत्याद्यनुभवसिद्धानां  
रसस्त्रहपविष्टेषकालां माधुर्यादीनां गुणत्वाङ्गीकारे यन्यकर्त्तर्णा  
काव्ये तादृशगुणनिवेशाभ्यनुज्ञानदैफल्यात् सरसलप्रतिपादना-  
भ्यनुज्ञानेनैव तदभ्यनुज्ञानसिद्धेः तादृशगुणानां रसाव्यभिन्ना-  
रित्वात्, गुणाभिन्नाच्चकशब्दार्थप्रयोगाय तदिति चेत् तर्हि ता-  
दृश्यस्त्रकताया एव गुणत्वं वक्तुमुचितं मैन्दर्यादेरात्मोन्तर्पक-  
त्वत् तस्या एव रसोत्कर्षकत्वात् उत्कर्षकस्त्रैव च गुणत्वात्, ता-  
दृश्यस्त्रकता च स्वेषादिधर्मवस्त्रहपैव तत्स्त्र मिद्दुं स्वेषादीनामेव  
गुणत्वं शब्दार्थगत्वम्भूति । एवं स्वाश्रयशोभाजननद्वारा रसशो-  
भाजनकलमलङ्कारत्वमित्यप्यविचारविजृम्भितं नव्यानां, नोरस-  
ेऽपि सकलालङ्कारिकैः काव्यतया स्त्रीकृते संलक्ष्यकमव्यञ्जप्रभेदे  
चित्रे चोषमादीनामनलङ्कारतापत्तेः न चेष्टापत्तिः, न वैरपि  
तत्र तेषामलङ्कारत्वेनेष्टत्वात् । यद्या काव्यप्रकाशे । वस्तु वास्त-  
द्वृतिर्व्यापि षड्डेदोऽसौ व्यनक्ति यत् । वस्त्रलङ्काररसयत्वा तेनासौ  
द्वादशात्मक इति । शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यञ्जं त्वरं स्तुते ।  
चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तमिति । यत्र तु नास्ति रसस्त्रचेक्षि-

वैचित्रमाचपर्यावसायिन इत्यादिसन्दर्भस्थ । न च तत्रापि कथस्त्रित् परम्परया रसस्त्रीइस्त्रीति वाच्यं तर्हि सर्वत्रैव-  
दृशरससङ्घावेनासंख्यत्वापत्या तेषां निरुक्तभेदकरणानी-  
चित्यात् । न च नीरसस्यले रसोपकारधोग्यत्वमेवासङ्घारत्व-  
मस्त्रिति वाच्यं योग्यताया निर्वकुमशक्त्वात् कारणतावच्छे-  
दकधर्मवच्चस्य तथात्वे च तादृशधर्माणामननुगमात्, तस्मात्  
देहस्य रूपयोवनादय इव शब्दार्थयोः स्मेषादय एव गुणाः  
सौन्दर्यापकृतस्यात्यन्तोत्कर्षजनकाहारादय इव स्मेषाद्युपकृत-  
योक्तयोः शोभातिशयजनका अनुप्राप्तिमादयोऽलङ्घारा इति  
प्राचां मतमेव साधीयः समुक्तस्त्रीति सुधोभिर्विवेचनीयम् ।  
उक्तस्त्री, यदि भवति वचस्त्रितं गुणेभ्योवपुरिव यौवनवच्यमङ्गना-  
याः । अपि जनदयितानि दुर्भगतं नियतमसङ्घारणानि संश्र-  
यन्ते इति । इत्यं यामान्यस्त्रियमभिधाय वक्तव्येषु विशेषजन्त-  
षेषु खस्यासामर्थ्यं प्रकाशयन्नैहूत्यं परिहरति । ते चेति । कः  
पण्डितमन्यः, तानसङ्घारविशेषान्, कार्त्त्वेन समृद्धितया सप्रभ-  
दानित्यर्थः, वक्ष्यति वक्तु शक्त्यति, भाविप्रयोगेन पूर्वे न को-  
ऽप्यवोचत् परम्परा न कोऽपि वक्तु शक्त्यत्रीति सर्वथा ते कार्त्त्वेन  
द्वुर्वचा इति सुचितम् । यतस्त्रोक्तसङ्घारविशेषा अद्यापि विक-  
स्यन्ते विविधेन भणितिभङ्गीप्रकारेण कल्पयन्ते नवीनेहङ्गा-  
व्यन्ते प्राचीनोक्तस्त्रियां एव ते किञ्चिद्वैचित्रमङ्गाव्य बङ्गस्त्रीकि-  
यन्ते इत्यर्थः । अतः कल्पनाया अविरामात् इयन्तया निरूपणं  
सुदृढपराहतमिति भावः ॥ १ ॥

किन्तु वीजं विकल्पानां पूर्वाचार्ये प्रदर्शितम् ।  
तदेव परिसंस्कर्त्तुमयमस्तपरिश्रमः ॥ २ ॥

तर्हि किमलङ्घारविशेषा भवता न निरूपणीया इत्या-  
शङ्खाह । किन्त्वति । किन्तु विकल्पानां नवीनैर्विकल्पनो-  
यानामलङ्घारभेदानां वीजं सामान्यलक्षणरूपं मूलं पूर्वा-  
चार्ये प्रदर्शितं, यथा नवीनैरुद्धावितानामुपमाभेदानां वीज-  
भूतं पूर्वाचार्ये प्रदर्शितं साङ्गशमुपमेत्युपमामान्यलक्षणं  
तदुपजीवै भेदानां प्रवर्त्तितवात् एवं रूपकादिभेदानां रूप-  
कादिमान्यलक्षणमिति । प्रदर्शितमित्यत्र च प्रायेषेति बोध्यं  
नवीनैरुद्धावितानां केषाच्चिदलङ्घारविशेषाणां सामान्यलक्ष-  
णस्य पूर्वाचार्येरनुकल्पात्, यथा निश्चयोऽस्तेषादयो नवीना-  
लङ्घाराः प्राचीनैरनुकलक्षणाः । तदेवेति । विकल्पमूलभूतं  
पूर्वाचार्योक्तं सामान्यलक्षणमेव परिसंस्कर्त्तुं स्फुटशब्दाभिधा-  
नादिना विशदयितुम् । अयगस्तपरिश्रम इति । सामान्यल-  
क्षणान्येव मया विशदोक्तियन्ते । कस्त्रिदैचिचेण भेदाः सम्बर्ज्ञ  
चेत् स्वयमूहनोया इति भावः । एतच्चाद्युपरिहारार्थमे-  
वोक्तं स्वयमेवापमादिभेदानां निरूपयिष्यमाणत्वादिति ष्ठे-  
यम् ॥ २ ॥

कास्त्रिकार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्घ्याः ।  
साधारणमलङ्घारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥ ३ ॥

अलङ्घारनिरूपणप्रतिज्ञया पूर्वनिरूपितानां श्रुत्यवुपा-

सादीनामपि पुनर्निरूपणप्रसक्षया निरूपितानां निरूपकं पि-  
ट्टपेषणवद्विफलमिति मन्त्रमानस्तद्विज्ञानां निरूपणं प्रतिभा-  
नीते । काचिदिति । मार्गविभागार्थं गौडवैदर्थ्यमार्गयोः प्रस्तु-  
टान्त्ररत्नप्रतिपादनार्थं । काचिदस्तद्विज्ञानाः श्रुत्यनुप्राप्तच्छेकट-  
त्यनुप्राप्तयमकरूपालङ्काराः । उक्ता इति । यथा कथाचिच्छु-  
त्या यत् समानमनुभृयत इत्यादिना श्रुत्यनुप्राप्त उक्तः, तथा  
वर्णाद्विज्ञिरनुप्राप्त इत्यादिना छेकटत्यनुप्राप्तावृक्तौ । आवृज्ञं  
वर्णसङ्घातगोचरां यमकं विदुरित्यनेन यमकस्त्र । अतो वैफ-  
ल्याकैते पुनर्निरूपयित्यन्ते इति भावः । अन्यदेवं भ्याभिन्नं । मा-  
धारणं गौडवैदर्थ्ययोः समानं, स्वभावाख्यानादीनां दर्शारपि  
मार्गयोनिवेशनोयत्वात् । श्रुत्यनुप्राप्तादयस्त्वमाधारणा एव  
गुणनिरूपणप्रकरणे ज्ञातव्याः । छत्रीयपरिच्छंदे यमकस्त्र पुन-  
र्निरूपणन्तु प्रभेदप्रदर्शनार्थमेवति वोधम् ॥ ३ ॥

स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपकावृत्ती ।  
अनेपोर्यान्तन्यासो व्यतिरेकाविभावना ॥ ४ ॥  
समासातिशयोत्प्रेशा हेतुः स्फूर्त्योलवः क्रमः ।  
प्रेयोरस्वदूर्जस्त्रिपर्यायोक्तं समाच्छितम् ॥ ५ ॥  
उदाचापङ्कुतिश्चेपविशेषास्तुल्ययोगिता ।  
विरोधाप्रस्तुतस्तोत्रे व्याजस्तुनिनिर्दर्शने ॥ ६ ॥  
सहोक्तिः परिवृत्याशीःसङ्कीर्णमय भाविकम् ।  
इति वाचामनङ्कारा दर्शिताः पूर्ववृद्धिभिः ॥ ७ ॥

प्रतिज्ञातमस्तु धारजातमुद्दिशति । स्वभावाख्यानमित्यादि ।  
 स्वभावाख्यानं स्वभावोक्तिः । दीपकादृतो इति, आदृतिरा-  
 दृतिः । आड्पूर्वात् वृत्तुवर्त्तने इत्यस्माद् ब्रूत्रादित्वादिप्र-  
 त्ययः । समाप्तः समाप्तोक्तिः, अतिशयोऽतिशयोक्तिः । समाहितं  
 समाधिः । अप्रसुतस्तोत्रमप्रसुतप्रशंसा । इति पञ्चत्रिंशतिष्ठा-  
 काः । वाचां काव्यवाक्यानां, स्वभावाख्यानादीनामेषां प्रायेणार्थं निष्ठ-  
 लेऽपि वाक्यास्तद्वारत्वं शब्दतदर्थयोस्तादात्याङ्गीकारात्, यदाह  
 पातच्चलस्त्रुतभाष्ये भगवान् व्याप्तः, चितोऽस्य वाचकस्य वाच्यन  
 महाभेदः सम्बन्ध इति । पूर्वद्विरभिर्दर्शिता इत्यनेन एतानेव  
 परिमंस्करोमि नवन्यान् नवोनैरुद्घावितान् निश्चयोऽस्तेषादीन्,  
 तादृश्यत्किञ्चिदैचिचावज्ञनेनालङ्कारकन्त्वने सहस्र-  
 सङ्गेदसम्भवादिति सुचितम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वतो ।  
 स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सात्तद्विनिर्यथा ॥८॥

तत्र प्रथमं सकलशास्त्रकाव्योप्सितत्वेनाभ्यर्हितत्वात् स्वभा-  
 वाख्यानमुद्दिष्टं, तदेव संक्षयति । नानावस्थमिति । सा अल-  
 ङ्कारेषु प्रसिद्धा आद्या प्रथममुद्दिष्टा अलङ्कृतिः स्वभावोक्तिश्च  
 जातिश्चेति नामदद्यतोत्यन्वयः । स्वरूपमात्र कीदृशी नाने-  
 त्यादि । पदार्थानां जातिकिञ्चागुणद्रव्याणां नाना अनेका  
 अवस्था विशेषो यस्य तत्, रूपं वर्णं स्त्रानाद्यात्मकमसाधारणं  
 धर्ममित्यर्थः साक्षाद्विवृण्वतो सद्व्याप्तादुर्बलमपि प्रत्यक्षमिव दर्श-

यन्तो । इत्यच्च वर्णनाविशेषेण वस्तुनः सूक्ष्मस्त्रूपस्फुटीकरणं स्वभावोक्तिरिति लक्षणम् । नानावस्थमित्यनेन एकावस्थवस्त्रूपवर्णने न वैचित्रातिशय इति नालङ्घारता, यथा, “अस्मोदमुदितं दृष्ट्वा मुदा नृत्यन्ति वर्हण” इति अत्र नर्तनमात्रं वर्णतम् । रूपमिति क्रियोपलक्षणं । यदुकं प्रकाशक्ता । स्वभावोक्तिसु डिक्षादेः स्वक्रियारूपवर्णनमिति । ददच्च रूपं सहजमागन्तुकच्च । यदुकं । स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते । निजमागन्तुकच्चेति दिविधं तदुदाहतमिति । ये तु वस्तुस्वभावस्फुटीकरणरूपार्थयक्तिर्थगुणमाङ्गस्तेषां मते स्वभावोक्तेर्गुणलक्ष्मेव नालङ्घारत्वमिति वोध्य । भोजराजस्तु सार्वकालिकस्य वस्तुरूपस्य गुणतमागन्तुकस्यालङ्घारत्वमात्र । यथेति उदाहरणदर्शनसङ्कलितः ॥ ८ ॥

**तुण्डैराताम्बकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।**

**चिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः ॥ ९ ॥**

ओकचतुष्टयेन क्रमेण जात्यादिचतुष्टयरूपस्फुटीकरणमुदाहरति । तुण्डैरिति । तुण्डमुखैः ‘आतामाणि कुटिलानि वक्राणि चेति तैः, विशेषणयोः कर्मधारयः । एवमन्दन । हरिताः पालशब्दवर्णाः कोमलाच्च तैः । चिवर्णा इरितरक्खुमरवर्णवती राजी रेखा यत्र तैः । सर्वत्र उपलक्षणे हतोया । अत्राताम्बकुटिलतुण्डतादिकं शुक्रातीनाममाधारणं रूपं संस्यानच्च ओटभिः कथम्भिरुदनवधानात् पूर्वमलक्षितमपि कविवर्णनया

साक्षादिवानभूयते । शुकानामनेकत्वाच्छुकश्वदोजातिवाच-  
कः ॥८॥

कलकणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेणः ।

पारावतः परिभ्रम्य रिरंसुश्वच्छति प्रियाम् ॥ १० ॥

कियागतस्त्वभावाख्यानमुदाहरति । कस्तेति । कण्ठेनेति  
उपलक्षणे वृतीया, तेन चुम्बनात् प्रागेव कण्ठस्य कलकणि-  
तगर्भात् चुम्बनकाले तदभावात् । चुम्बतोति पारावता हि  
एवंविधा भूत्वा चुम्बनोति पारावतचुम्बनकियास्त्वभावोऽयम् ॥  
॥ १० ॥

बध्नन्नेषु रोमाच्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम् ।

नेत्रे चामोलयन्नेषु प्रियास्त्वर्षः प्रवर्त्तते ॥ ११ ॥

गुणगतमुदाहरति । बध्नन्निति । बध्नन् जनयन् । निर्वृति-  
मानन्दातिशयम् । आमोलयन् मुद्रयन् । प्रियास्त्वर्ष इति  
स्त्वर्षस्य गुणत्वाद्गुणगतोऽयम् ॥ १२ ॥

कण्ठेकालः करस्थेन कपालेनेन्द्रियेभरः ।

जटाभिः स्त्रिघ्नतामाभिराविरासोदृष्टव्यजः ॥ १२ ॥

द्रव्यगतमुदाहरति । कण्ठेकाल इति । कण्ठेकालपदम-  
सुक्समासनिष्ठजः । कपालेनेति जटाभिरति च विशेषणे

हतोया । अत्र हृषभजशब्दोयाहृच्छिकः संज्ञायां सङ्केतिः  
संज्ञैव इवं संज्ञासंज्ञिनोरभेदाच्च संज्ञी शिवोऽपि इवं तस्य  
च कण्ठेकालत्वादिकमसाधारणं रूपं प्रकटीकृतमितिद्रव्य-  
गतोऽयम् ॥ १२ ॥

जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमोदगम् ।

शास्त्रेष्वस्यैव सामाज्यं काव्येष्वष्टेनदीप्तिम् ॥ १३ ॥

खभावाक्तिमुपमहरति । जातीति । अत्र द्रव्यपदं वैयाक-  
रणपरिभाषितैकव्यक्तिवाच्चकशब्दप्रतिपाद्यरूपद्रव्यपरं नतु वै-  
शेषिकोक्तचित्यादिद्रव्यपरं तेषां जातिपदेन यद्युपात् । जाति-  
क्रियागुणद्रव्याणां खभावाख्यानमसाधारणरूपस्फुटोकरणमो-  
दगमेर्विधं पूर्वश्चाकचतुष्यप्रदर्शितया दिशान्वचारिप ज्ञातय-  
मित्यर्थः । जातिक्रियागुणद्रव्यैरिति हतोयान्तपाठे पूर्वश्चाक-  
चतुष्ये कमेण सविशेषणतयोपन्यस्त्वैर्जातिक्रियागुणद्रव्यैः क्वां  
खभावाख्यानमोदगं बोद्धुव्यमित्यन्ययः । शास्त्रेष्विति शास्त्रेषु  
पदार्थस्वरूपनिरूपणप्रधानेषु वैशेषिकदर्शनादिपु पुराणतिहा-  
सादिपु च मामाज्यं वाङ्मयम् । अस्येवेति एवकारणं अलङ्कार-  
रान्तराणां शास्त्रेषु नात्यन्तोपयोग इति सृचितम् । निजो-  
पयोगं दर्शयति काव्येष्वपीति, एतत् खभावाख्यानम्, ईप्ति-  
मिति अलङ्कारान्तरापेच्या एतदैचित्रं हि विलक्षणमेर्वति  
सद्दैराहृतमित्यर्थः ॥ १३ ॥

यथा कथच्चित् सादृश्यं यत्रोऽनुं प्रतीयते ।  
उपमा नाम सा, तस्याः प्रपञ्चोऽयं निर्दर्श्यते ॥ १४ ॥

उपमा लक्ष्यति । यथेति । यत्र वैचित्रे यथा कथच्चिद-  
द्वतं सादृश्यं प्रतीयते, सा वैचित्रवृपा उपमा नामेत्यत्ययः ।  
यत्रेति विषये सप्तमी विषयश्च प्रतिपाद्यवृपः । इत्यस्म वै-  
चित्रजनकं सादृश्यमुपमेति लक्षणं, वैचित्रं प्रस्तुतोऽक्षरजन्य-  
चमत्कारस्तेन चमत्कारस्याजनकं सादृश्यं नोपमालङ्घारः  
यथा मौरिव गवय इत्यादौ, अतएव रमगङ्गाधरे, सादृश्यं  
सुन्दरं वाक्यार्थीपक्षारकमुपमालङ्घतिरित्युपमालक्षणे सुन्द-  
रमिति सादृश्यविशेषणमुपन्यस्त, सौन्दर्ये चमत्काराधायकलं  
चमत्कारिणानन्दविशेष इति व्याख्यातच्च । यथा कथच्चि-  
दिति, येन केनापि धर्मण गुणेन क्रिययान्वेन वेत्यर्थः ।  
यथा हंसोत्र धवला कोर्जित्यादौ धावल्यवृपगुणेन, सलो-  
लमियमायाति बधूर्गजवधूर्निव्यादावागमनक्रियया, आ-  
काशः काशतेऽत्यथे शिवविद्युभूषण इत्यादौ च विधुरूप-  
द्रव्येण सादृश्यम्, एवमन्यत्रापि वैश्वम् । एते च गुणा-  
दयोधर्माः, कच्चिदपात्ताः, कच्चिदनुपात्ता अपि सामर्थ्य-  
वस्त्याः, तत्रापादाने पूर्वोदाहरणानि । अनुपादाने यथा,  
“मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पञ्चवन समः प्रिये । वाचः सुधा-  
इवौष्ठसे विमतुत्यामनोऽग्नवत्” इत्यादि, अत्र मुखेन्दु-  
प्रभृतीनां स्फुटसादृश्यानां मनोऽश्वादयोधर्मां अनुपात्ता

अपि सामर्थ्यादवसीयन्ते । उद्भूतमिति प्रस्फुटमित्यर्थः, प्रस्फुटवस्त्रं वैचिचान्तरानिगोणं वैचिचिचञ्चलकर्त्तं, ततस्य रूपकादौ साहृदयप्रतीतिजन्यवैचिचिचमस्त्वेव परन्तु तत् ताइत्यादिप्रतीतिजन्यवैचिचित्स्य कुचिनिमोनमिति न ततोपमात्प्रमकिः, अतएव रूपकदीपकादावुपसाया गुणोभृतत्वमुक्तं विश्वनाथेन ध्वनिकारेणापि, अलङ्कारान्तरस्थापि प्रतीतौ यत्र भासते । तत्परत्वं न काव्यस्य, नामौ मार्गाध्वनेभूत, इत्यनेनाप्रधानालङ्कारस्य ध्वनित्वं प्रतिषिद्धं । एवस्य व्यतिरेकं इवादिशब्दप्रयोगेन साहृदयस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वेऽपि नोपमाव्यतिरेकयोः साहृदयम्, भेदप्रतीतिजन्यवैचिचित्तेण साहृदयप्रतीतिजन्यवैचिचित्स्य तिरोहितत्वात्, अङ्गाङ्गिभावसाहृदयस्यत्वं तु साहृदयजन्यवैचित्रं न तिरोधीयते, परन्तु पर्यालंकारनया प्रधाननिर्बाहकत्वप्रतीत्या पश्चादङ्गत्वेन प्रतीयते इति विवेचनोयम् । साहृदयमिति । साहृदयमतिरिक्तः पदार्थे इति केचित् साधर्म्यमित्यन्ये, साधर्म्यस्य उपमानोपमेययोरेऽर्थवत्त्वम्, एकत्वस्य धर्माणां क्वचिदनुतोऽभिन्नत्वं क्वचिदेकजातीयत्वं क्वचिदेकशब्दप्रतिपाद्यते क्वचिदं कधर्मवत्त्वस्य, तत्र गुणक्रियायदृच्छानां साधर्म्यत्वे प्रथमं, तेषामभिन्नत्वस्य वैयाकरणेरङ्गीकृतत्वात्, तदुकं प्रकाशकृता, गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामाश्रयभेदाङ्गेद इव साद्यते यद्यक्षस्य मुखस्य खड्डमुकुरत्तैलाद्यालम्बनभेदादिति, इव्यसामान्यादीनां तथात्वे द्वितीयम्, एकजातोयत्वस्य एकजातिमन्त्रं जातिपदस्त्रापाशुपस्त्र-

जकं । ज्ञानपदोपस्थाप्ते हनुमें, तत्र शब्दशेषे, सकलकलम्य-  
रमेतज्जातं सम्पुति सुधांशुविमिवेत्यादि अत्र सकलकलप-  
दस्य कलकलमहितं, कलासमुदाययुक्तज्ञेत्यर्थः, एवमर्थशेषे-  
ऽपि । विमानुविमतायां चतुर्थे । यथा भक्षापवर्जितेस्तेर्वा  
शिरोभिः ग्रन्थुलैर्महीम् । “तस्तार सरघाव्याप्तैः म चौद्र-  
पटलैरित्व” इत्यादि, अत्र ग्रन्थुलतसरघाव्याप्तत्वयोर्धर्म्योरे-  
कलषणत्वादिगुणयोगादेकत्वम् । इत्यं सर्वं सराज्ञम् । माधसर्वप-  
दस्य मदृशधर्मवच्चार्थकले तु आत्माश्रयापन्निर्दुर्बारेति सुधी-  
भिर्विभावनीयम् । इदम्ब साहृष्टं दयोर्वेति न नियमः एक-  
स्यैवेषापमानोपमेयत्वरूपस्थानन्वयस्तोपमालेन यन्यक्ताङ्गोकरि-  
यमाणलात् एकस्य तथालम्ब तत्रैव समर्थयिष्यामः । एवं  
वाक्यदयगता उपर्मयोपमा च स्तमते उपमैवेति तदर्थं साहृष्टस्य  
वाक्यैकगतत्वविशेषणं न देयम् । प्रतीयते इति अभिधयै-  
वेति न नियमः, लक्षणया व्यञ्जनया वा प्रतीयमानस्य सा-  
हृष्टस्योपमालाभ्युपगमात् रूपकादावतिव्याप्तिस्तु पूर्वोक्तयुक्ता  
परिहरणीया, तत्र इवादिप्रयोगे वाच्यं तदप्रयोगे क्वचि-  
स्यच्चं क्वचिद्विज्ञमिति सर्वमेतद्व्यमाणोदाहरणेषु स्फुटोभवि-  
त्यति । तस्या इति, अयं व्यञ्जयमाणप्रकारः प्रपञ्चोविस्तारः  
नामाविधत्वमित्यर्थः, निर्दर्शते उदाहृयते ॥ १४ ॥

अभोरुहमिवाताम्बं मुखे करतलं तव ।

इति धर्मोपमा साक्षात्कृत्यधर्मप्रदर्शनात् ॥ १५ ॥

अथ प्रतिज्ञातमुपमाप्रपञ्चं क्रमेण सोदाहरणं निरूपयन्  
 प्रथमं साधारणधर्मसोपादानानुपादानप्रयुक्तं धर्मवस्त्रपमा-  
 नामकं भेदद्वयं क्षोकद्वयेन दर्शयति । अस्माहृहमिवेति ।  
 अस्मोहृहं कोकनदं तस्मैवातास्त्वसम्भवात् । अस्माहृहमिवेति  
 पदं समस्तम्, इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्र-  
 कृतिस्त्रवच्छेत्यनुशासनात् । अस्माहृहपदञ्च अस्माहृहमदृग्गे  
 लाचणिकम् इवशब्दः सादृश्यद्योतक इति केचित् एतत्त्वे  
 सादृश्यं लक्षणागम्यम् । अन्ये तु इवशब्द एव षष्ठोवदपमानोप-  
 मेययोः सादृश्यलक्षणं सम्बन्धमभिधया वाधयति सादृश्ये  
 चोपमानोपमेययोरस्माहृहकरतत्त्वयोः प्रतियोगितानुर्यागिता-  
 म्यामन्त्रयः, तत्थ अस्माहृहप्रतियोगिकसादृश्यानुर्यागि करत-  
 स्तमित्यन्त्यवोधः इवत्य षष्ठीस्त्रानीयतया च तदर्थं मा-  
 दृश्ये उपमानोपमेययोरन्त्रये, नामार्थयोर्भेदसम्बन्धनात्यर्थाऽ-  
 व्युत्पन्न इति नियमान प्रतिबधाति सादृश्यस्य विभक्तिस्त्रा-  
 नीयत्वात् द्वारीभूतेन तेन चापमानस्त्रापमेयेन भवान्त्यया  
 निर्बाध एव, निपातातिरिक्तत्वेन वा निरुक्तनियत्वात्प्र-  
 घटकनामपदं विशेषणोयमित्याद्याङ्गः । अत्र प्रतियोगिता-  
 म्योगितयोर्भीनं संमर्गमर्यादया, न चापमानात्तरविभक्ति-  
 रेव प्रतियोगिते वाधयतिति वाच्यं तादृशविभक्तेसदर्थं वि-  
 धानस्यानुशासनाभावात् नन्त्रिवपदस्य सादृश्यवाचकत्वाभ्युपगमं  
 तदर्थं सादृश्ये उपमानस्य भेदेनात्मये चक्र इव मुखं भाति  
 चक्रमिव मुखं पश्चामि चक्रेणव मुखेन शोभमे इत्यादौ

उपमानोपमेयपदयोः कथं समानविभक्तिकत्वम् अभेदान्वय-  
स्थल एव विशेषणविशेषयोः समानविभक्तिकत्वनियमात् लक्ष-  
णावादे तु तयोरभेदेनान्वयात् सम्भवत्येव तदिति चेत्त अभे-  
दान्वयस्थलवदुपमानोपमेयभावस्थलेऽपि समानविभक्तिकत्वस्य  
तत्त्वलात् यदकं विभक्तिः पुनरेका स्थादुपमानोपमेययोरिति ।  
अत्र साधारणधर्मस्यातास्तत्वस्य प्रथमसुपमेयभृतकरतत्त्वेनेवा-  
न्वयः न तृपमानभृतेनास्माहुहेण, तस्य समस्तेकदेशपदवोध्य-  
त्वात्, तद्गतत्वेन प्रतीतिसु पर्याप्तोच्चनयान्वयवोधोन्तरमेव,  
अतएव धर्मस्य साधारणतप्रतीतिस्थायैव च वैचित्रमिति प्रमङ्गा-  
दुकम् । इतीति । इत्येवं साधारणधर्मप्रयोगस्थले । धर्मोपमे-  
ति धर्मोपादानेनेयसुपमा अतो धर्मोपमेत्यर्थः । अत्र हेतुमाह  
साक्षादित्यादि । साक्षात् शब्देन प्रतिपादितस्य तुन्वयस्य सा-  
धारणस्य धर्मस्यातास्तत्वस्य प्रदर्शनात् ज्ञानात् । अत्रेवशब्द-  
प्रयोगश्रवणमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यस्थलाणसम्बन्धप्रतीतेः  
श्रीतो, उपमानोपमेयसाधारणधर्मसादृश्यवाचकानां चतुर्खां  
प्रयोगात् पूर्णा चेयसुपमा, उन्तरस्माके धर्मानुपादानाच लुप्तेति  
नव्यानां भेदकरणं, तथा चीनैरन्द्रीकृतमित्यनादृत्य यन्वलता  
प्राचीनमतानुमारेणैव भेदाः प्रदर्शिताः । तथाचाग्रेये, यत्र  
साधारणो धर्मः कथते गम्यतेऽथवा । ते धर्मवस्तुप्राधान्या-  
द्धर्मवस्तुपमे उभे इति । एवमन्येषामपि दर्शयिष्यमाणभेदानां  
मूलमनुमत्त्वयम् ॥ १५ ॥

राजीवमिव ते वक्रं नेत्रे नोलोत्पले इव ।  
इयं प्रतीयमानैकधर्मा वस्तुपमैव सा ॥ १६ ॥

राजीवमिति । प्रतीयमानो गम्यमानः वाचकशब्देनाप्रतिपाद्यमान इत्यर्थः एकः साधारणो धर्मो मनोजलादि-को यत्र सा, अतो वस्तुपमैव वस्तुनोरुपमानोपमेययोर्वोपादानेनेयमुपमा वस्तुपमा । स्फुटसादृश्यानां साधारणधर्म-प्रयोगमन्तरेणाण्योपम्यप्रतीतिसम्भवादिति भावः । धर्मस्य प्रतीयमानलभ्य शाब्दबोधानन्तरं सादृश्यनिर्वाहकतयापेक्षणो-यत्वात् नहि धर्मं विना माधर्म्यं सम्भवति । यत्र मादृश्य-मस्फुटं तत्र धर्मोपादानमन्तरेण नोपमानिर्बाहः यथा सकलकलं पुरुषित्यादिप्रागुक्तेषाके सकलकलमित्यशानुकां, नहि सुधार्णशुभिम्बपुरयोर्लोकप्रसिद्धं सादृश्यं किमपर्यन्ति अत-एवैवंविधस्यले उपमाया अनुचितार्थत्वदोषकवलितत्वं चक्षे-रभिहितं यथा यद्यामि काव्यशशिनमित्यादि । सक ऋस्त्व्युपादानेनैव तु तत्प्रतीतेः, तस्मादेवंविधस्यले न वस्तुपमायाः सम्भव इति विवेचनोथम् ॥ १६ ॥

तवाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति ।  
सा प्रसिद्धिविपर्यासादिपर्यासोपमेयते ॥ १७ ॥

विपर्यासोपममामाह । तवेति । प्रसिद्धिविपर्यासादिति प्रस्तुतत्वेन वर्णनीयानां मुखादीनामुपमेयत्वं तदुत्कर्षकतयोपन्य

स्तानां चक्रारविन्दादीनामुपमानत्वमिति प्रभिद्विः तस्यावि�-  
पर्यामो वैपरोत्यम्, अत्युत्कर्षप्रतिपादनार्थं मुखादीनामुपमा-  
नत्वं चक्रादीनामुपमेयत्वमित्यर्थः तस्माद्विपर्यामोपमात्मेयमुप-  
मेत्यर्थः । तथाहि आनन्दिवेत्यत्र इवान्मसोपमानत्वनियमा-  
दाननस्तथावेनापमानत्वप्रतीत्या प्रभिद्वेर्विपर्यामः । नवासु  
यत्र प्रभिद्वोपमानमपि प्रसुतत्वात् प्रभिद्वोपमेयेनापमोयते  
तत्र नोपमा किञ्चु प्रतोपाख्योऽनङ्गार इत्याङ्गः, यथाह वि-  
श्वनाथः । प्रभिद्वस्तोपमानस्तोपमेयत्वप्रकल्पनम् । निष्फलत्वा-  
भिधानस्ता प्रतीपमिति कथत इति । यथा यत्क्वेचसमान-  
कान्ति सत्त्विले मग्नं तदिन्दीवरं मेघैरन्तरितः प्रिये तत्र  
मुखच्छायानुकारो शशी । येऽपि लङ्घमनानुकारिगतयस्ते  
राजहंसागतास्त्वत्सादृश्विनोदगात्रमपि नो दैवेन न चम्यते  
इति ॥ १७ ॥

तवानन्दिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् ।

इत्यन्योऽन्योपमा सेयमन्योऽन्योत्कर्षशङ्खसिनी ॥ १८ ॥

अन्योऽन्योपमामाह । तवेति । अन्योऽन्योत्कर्षशङ्खसिनीति अ-  
म्भोजस्तोपमानतया मुखस्तोत्कर्षः मुखस्त चोपमानतायाम्भोज-  
स्तोत्कर्षस्तच्छालिनो तदोधिका, अत्र द्वयोरेव मुखाम्भोजयोः  
प्रसुतत्वं बोध्यम् अम्भोजस्तोपमानत्वे तदुत्कर्षप्रतिपादनप्रयास-  
देवकल्पात् प्रसुतोत्कर्षप्रतिपादनार्थमेव यन्यहतां गुणास्तङ्गार-  
निवेश्वाभ्यनुशानात् ननु न्यूनगुणेनोपमेयोनोपमोयमानस्त्वापि

गुणाधिकस्योपमानस्योत्कर्षः कथमिति चेत्र अन्योऽन्यस्योपमा-  
नोपमेयलेनानन्यसदृशतप्रतिपत्त्या तजाभात् । इतीति । इति  
इत्यं पूर्वार्द्धं प्रदर्शितप्रकारे लेख्यर्थः, तेन पर्यायेणोपमानोपमेय-  
तत्त्वाभः तस्मैव वैचित्रातिशयजनकत्वात् अतएव मुखमभाजन्न  
तुल्यमित्यादै परम्परास्योपमानोपमेयलप्रतीतावपि वैचित्राभा-  
वान्नाम्याः समवः, पर्यायोपमस्याङ्गकवाक्ये न सम्भवतीति वाक्य-  
द्वयगतत्वमस्ता बोध्येण । नव्याम्यु पर्यायोपमे उपमेयोपमेति  
नामकमलङ्घारान्तरमिच्छन्ति यथाह विश्वनायः, “पर्या-  
येण इयोरेतदुपमेयोपमा भता” इति । अतानन्दं मुखमिति  
प्रकमभङ्गः प्राचां निरद्गुणत्वात् भाष्टव्यः ॥ १८ ॥

त्वन्युखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनचित् ।

इत्यन्यसाम्यव्यावृत्तेरियं सा नियमोपमा ॥ १९ ॥

नियमोपमासाह । लक्ष्यमिति । कमलेनैनेत्येवकारश्चयव-  
च्छेष्यं नान्येन केनचिदिति । अन्यमाम्यव्यावृत्तेरन्यसाम्यव्यावृ-  
त्तिजन्तवैचित्रात्, बहुपमानमङ्गावो हि प्रमुतत्वं निकर्प-  
त्यापयति तद्वावृत्या प्रकृष्टमनेनेन माम्यप्रतिपादनन्तु प्रक-  
र्षातिशयमिति वैचित्रातिशयः ॥ २० ॥

पद्मं तावत्तवान्वेति मुखमन्यच्च तादृशम् ।

अस्ति चेदस्तु तत्कारीत्यसावनियमोपमा ॥ २० ॥

नियमोपमानन्तरमनियमोपमां दर्शयति । पद्ममिति ।  
पद्मं तावत्तव भुखमन्वेति भद्रशोकरोति अन्यच्च तादृशं पद्म-

वदतिसुन्दरं वसु चक्रादिकं तत्कारि लनुखानुकारि अस्ति  
चेदस्त्रियन्यः । इत्यस्मात् अनुकारकर्त्तनियमाभावादित्यर्थः ।  
अत्र पश्यमिति कर्त्तपदं मुखमिति कर्षपदं तेज च मुखस्योप-  
मानत्वं तत एव वैचित्रातिशयः वैपरीत्ये तु न तथेति प्रसिद्धो-  
पमेयस्योपमानत्वं एवेयमुपमेति वोध्यम् ॥ २० ॥

समुच्चयोपमायस्ति न काञ्छैव मुखं तव ।  
ज्ञादनाख्येन चान्येति कर्मणेन्दुमितीदशी ॥ २१ ॥

समुच्चयोपमामाह । समुच्चयोपमेति । काञ्छैव केवलं काञ्छ्या ।  
चकारः समुच्चयद्योतकः । कर्मणा क्रियया च । अत्र गुणक्रिययोः  
समुच्चयः, एवं केवलगुणसमुच्चये केवलक्रियासमुच्चयेऽन्यमाधा-  
रणधर्मसमुच्चये च समुच्चयोपमा ज्ञातव्या ॥ २१ ॥

त्वयेव त्वनुखं दृश्यते दिवि चन्द्रमः ।  
इयत्येव भिदा नान्येत्यसावतिशयोपमा ॥ २२ ॥

अतिशयोपमां दर्शयति । त्वयेवेति । पूर्वाङ्गे मुखचक्र-  
मसोविभिन्नाश्रयलप्रतिपादकम् । तस्मादियत्येवं भिदा आश्रय  
भाचक्तं भेदः । नान्या न गुणक्रियादिकृता । इत्यस्मादतिश-  
योपमा, अतिशयः प्रसुतस्योत्कर्षाधिकं स च गुणक्रियाकारा-  
दिभिः सत्यपि महति भेदे नान्येत्यनेनाभिन्नत्वाध्यवमानप्रति-  
पाद्यः ईदृशातिशयस्य भेदान्तरेषु नास्तीत्येतद्देव तथात्वेन  
व्यपदेशः । अत्र साम्यं वाचकशब्दाप्रयोगद्वाच्चनयैव गम्यते व्यञ्जना

च वकृवैशिष्ट्यसचिवया भेदाभेदप्रतीत्या प्राप्तप्रसरा, न च स्वप-  
कध्वनिरयं भिन्नाश्रयत्वेन भेदस्य स्फुटतया प्रतिपादितत्वात्  
नापि व्यतिरेकः उपमानादुपमेयसाधिकतायामतात्पर्यात्  
तस्मादुपमैवेयमिति विवेचनोयम् ॥ २२ ॥

मय्येवास्या मुखश्रीरित्यन्मिन्दोर्विकत्यनैः ।  
पद्मेऽपि सा यदस्येवेत्यसावन्प्रेक्षितोपमा ॥ २३ ॥

उत्प्रेक्षितोपमां दर्शयति । मय्येवेति । मुखश्रीमुखश्रीमज्ञा-  
तीया श्रीरिति निर्दर्शनागर्वेयमुक्तिः । विकत्यनैरात्मस्थाघनैः ।  
सा मुखश्रीः । उत्प्रेक्षितोपमेति, निरुक्तशाघा हि इन्दौ परमा-  
र्थता नास्येव केवलं चाटुकारेण सम्भावितया कल्पिता सम्भावना  
चाक्षेच्चा तन्मूलत्वादियमुक्तेक्षितोपमेत्यर्थः । अत्रापि साम्यं व्य-  
ञ्जनागम्यम् । एवमयेऽपि बोध्यम् ॥ २३ ॥

यदि किञ्चिद्वेत्यद्यं सुभु विभान्तलोचनम् ।  
तज्जे मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्वन्तोपमा ॥ २४ ॥

अहुतोपमां दर्शयति । यदीति । तज्जदा, अद्वतोपमेति वि-  
भान्तलोचनलादयोर्धर्मा मुखस्यैव तत्प्रतियागिनि पद्मे तु तेषां  
सम्भावनया मिथःमादृग्यद्योतनाच्चमत्कारातिशय इत्युपमाया  
अहुतलं, तथा चोक्तं । यत्रापमेयधर्माः स्युपमानेऽधिरोपि-  
ताः । चमत्कारविधानार्थे तामाङ्गरहुतोपमामिति । नव्यासु  
अद्यर्थबलेनान्वधर्मस्थान्यत्र कल्पेऽतिशयोऽस्याख्यमस्तुहारमिच्छ-  
न्ति । यदुक्तमतिशयोऽकिप्रस्तावे प्रकाशकृता । निगोर्याध्यव-

माननु प्रकृतस्य परेण यत् । प्रस्तुतस्य यदन्यतं यद्यर्थाकौ च  
कल्पनमिति ॥ २४ ॥

शशोत्युत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया ।

इन्दुमण्डनुधावामीत्येषा मोहोपमा सूता ॥ २५ ॥

मोहोपमामाह । शशीति । त्वन्मुखं शशीति उत्प्रेक्ष्य सम्भावा  
चभिन्नतेन पूर्वे भ्रमविषयोक्त्येत्यर्थः अनन्तरं शशिनं दृष्टा  
त्वन्मुखाशया त्वन्मुखमिदमिति बुद्धा इन्दुमणि अनुधावामि  
द्रयुं स्पृहयामोत्पत्त्यः । मोहोपमेति मोहोधावान्तिः इन्द्रामु-  
खतेन ज्ञानमित्यर्थः तेन सादृश्यशोतनादियं मोहोपमेत्यर्थः ।  
उक्तज्ञ । प्रतियोगिनमारोय तदभेदेन कीर्तनम् । उपमेयस्य  
यक्षोहोपमामौ भान्तिमदत्त इति । एतेन नवोनैरङ्गीकृतस्य  
भान्तिमदलङ्घारस्य प्राचामुपमात्वेन संयह इति बोधम् । अ-  
त्रापि शशीति इन्दिति प्रकमभङ्गः पूर्वाकरीत्या सोढव्यः ॥ २५ ॥

किं पद्ममन्तर्भान्तानि किन्ते लोलेक्षणं मुखम् ।

मम दोलायते चिन्तमितीयं संशयोपमा ॥ २६ ॥

संशयोपमामाह । किमिति । दोलायते<sup>०</sup> संशयानं भवति  
मंशयस्य हेतुरत्र भान्तान्तिलोलेक्षणलयोर्विभानुविभता ।  
संशयोपमेति संशयस्य सादृश्यपर्यवसायित्वादिति भावः । इत्य-  
च नवोनोक्तः सन्देहालङ्घारोऽपि प्राचामुपमैवेति न पृथड्-  
मिरूपयित्यते उपमानोपमेयविषयकस्यैव संशयस्य नवोनैरल-  
ङ्घारत्वाभ्युपगमादिति बोधम् ॥ २६ ॥

न पद्मस्थेनुनियाह्यस्थेनुलज्जाकरी द्युतिः ।  
अतस्त्वन्मुखमेवेदमित्यसौ निर्णयोपमा ॥ २७ ॥

निर्णयोपमामाह । नेति । यस्मादिन्दुनियाह्यस्य इन्दुना  
कृतनियहस्य पद्मस्थ इन्द्रोर्लज्जाकरी द्युतिर्नास्ति निगद्वीतस्य  
नियाहकत्वाभावात्, अत इदं लन्मुखमेव, एवकारात्र पद्ममि-  
त्यर्थः । निर्णयोपमेति उपमेयस्तु निर्णयभज्ञा साहृद्यद्वातना-  
दिति भावः, निर्णयस्य च मंशयोन्तरकालीनत्वात् प्रथममिदं  
लन्मुखम्बा पद्ममेति मंशयोवाह्वायः मंशयोन्तरस्यैव निर्णयस्यान्त-  
ङ्गारत्वात् । यदुक्तमग्निपुराणे, उपमेयस्य मंशय निश्चयान्ति-  
श्चयोपमेति । यथा, शिशुपालवधे । किनावत् मरमि मरोज-  
मेतदारादाहोस्त्रिमुखमवभासते तरुणाः । मंशय चणमिति  
निश्चिकाय कश्चिद्विवाकैर्वकमहवामिनां परोचैरिति । अतश्च  
विश्वनाथादिभिरङ्गोक्ततो निश्चयालङ्घारोऽपुषमेव नालङ्घा-  
रान्तरमिति वोध्यम् ॥ २७ ॥

शिशिरांशुप्रतिष्ठिर्द्विंश्रीमत्सुरभिगन्धिं च ।  
अमोजमिव ते वक्त्रमिनि श्वेषोपमा स्मृता ॥ २८ ॥

श्वेषोपमामाह । शिशिरांश्चिति । शिशिरांशुः प्रतिष्ठिर्द्वि-  
विरोधी यस्य तदित्यमोजविशेषणः । वक्त्रपत्रं तु शिशिरांशाः  
प्रतिष्ठिर्द्विनी न्यक्तारजनिका या श्रीसुदृत् । श्वेषोपमेति । अत  
श्वेषपदमर्थश्वेषपत्रं शब्दश्वेषम् वद्यमाणमानोपमाविषयः ।

अत्र च प्रतिस्पद्धादिशब्दपरिवर्तनेऽपि स्मैषत्वानपायादर्थश्चेष्ट  
एव, शब्दपरिवर्तनासहस्रे तु स्मैषस्य शब्दगतत्वं यथादाहरि-  
यते । अत्रालङ्घारान्तरस्य स्मैषस्य मङ्गावेऽपि न तत्त्वेन व्यप-  
देशः स्मैषवैचित्रस्य प्रधाने मादृश्यवैचित्रे निलोनतया व्यप-  
देशकलाभावात् प्रधानेन व्यवदेशा भवन्तीत्युक्तेः ॥ २८ ॥

सरुपशब्दवाच्यत्वात् सा समानोपमा यथा ।  
बालेवाद्यानमानेयं सालकाननशोभिनो ॥ २९ ॥

समानोपमामाह । सरुपेति । समानं वाच्यभेदाद्विन्नमपि  
श्चित्त्वेनैकमिव प्रतीयमानं रूपं तत्तद्वर्णात्मकं सरुपं यस्य ता-  
दृशो यः शब्दसेन वाच्यत्वात् साधारणधर्मस्तोपस्थायत्वात्,  
यदा युगपद्मर्पदयोपस्थापनद्वारा प्रयोज्यत्वात्, सा समानोप-  
मेति यत्र द्विष्टशब्देन साधारणधर्मस्तोपस्थितिः सा समानोपमे-  
त्यर्थः, क्वचित् सरुपोपमेति पाठः । वालेव युवतिरिव । साल-  
काननशोभिनोति सालकं सचूर्णकुलां यदाननं तेन शोभि-  
नोत्युपमानविशेषणं । सालस्य मर्ज्जवृक्षस्य कानगेन शोभि-  
नोत्युपमेयविशेषणम्, अत्र भिन्नयोरयुपमानोपमेयधर्मयोः स-  
मानशब्दवाच्यत्वात् साधारणमिति पूर्वमेवोक्तम् । इत्यस्मार्थ-  
शेषमूलकत्वे देशोपमा पूर्वमुक्ता शब्दशेषमूलकत्वे तु समानोपमे-  
त्यनयोर्भद्रः । एवम् पूर्वमेवाके शिशिरांशुपरिसाहृत्यित्र शब्द-  
शेषः श्रीमसुरभिगम्भिः चेत्यत्रार्थशेष इति केषाच्चित्तिर्व्यवनम-  
नवबोधविजृम्भितम् ॥ २८ ॥

पद्मं बङ्गरजश्नदः क्षयी ताभ्या तवाननम् ।  
समानमपि सोऽसेकमिति निन्दोपमा सुना ॥ ३० ॥

निन्दोपमामाह । पद्ममिति । बङ्गरजो बङ्गपरागम् अथच  
रजोगुणभूयिष्ठं, चयी क्षणपते चयिष्णुः अथच चयरोगवान् ।  
समानमपि गुणान्तरेण तुल्यमपि तवाननं ताभ्यां पद्मचन्द्राभ्यां  
सोऽसेकमधिकं रजस्वलत्वचयिलाभावात् सोऽकर्षमित्यर्थः । ता-  
भ्यामिति पञ्चम्यन्तम् । इत्युपमाननिन्दोपूर्वकलान्विन्दोपमा ।  
नचायं व्यतिरेकः साम्यमात्रपर्यवसायिलेन वाक्यस्य भेदे ता-  
त्पर्याभवात् यत्र भेद एव तात्पर्यं तत्र व्यतिरेक इति वक्ष्यते ॥  
॥ ३० ॥

ब्रह्मणोऽप्युद्गवः पद्मश्नदः शम्भुशिरोधृतः  
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रश्नसोपमोत्यन्ते ॥ ३१ ॥

प्रश्नमोपमामाह । ब्रह्मण इति । उद्गवत्थकादित्युद्गव  
उत्पन्निष्यानं । सर्वजगतामुद्गवस्यापि ब्रह्मण उद्गवः, शम्भुना  
शिरसा नवङ्गान्तरेण भूत इति पद्मचन्द्रयोर्भेदतो प्रश्नमा तया  
ए प्रस्तुतमुखस्यापि प्रश्नमेति प्रश्नमोपमेयं । किञ्च त्वन्मुखेन  
तुल्यावित्यच मुखमोपमानतया प्रमिद्वापमेयत्वविपर्यासादि-  
पर्यामोपमापि तदनयोः सद्गुरः । अत्र पद्म इति युलिङ्गपद्म-  
शब्दो न बङ्गभिः प्रयुक्त इत्यप्रयुक्तं पूर्ववत् सहनीयं, पद्म-  
मिति पाठः सम्यक् ॥ ३१ ॥

चन्द्रेण त्वमुखं तुल्यमित्याचिख्यासु मे मनः ।  
स गुणोवास्तु दोषोवेत्याचिख्यासोपमा विदुः ॥ ३२ ॥

आचिख्यासोपमामाह । चन्द्रेणेति । आचिख्यासु, आख्या-  
तुभिच्छु । स आख्यानाभिलापः गुणोवा दोषोवास्तु अनेन च  
हङ्कृतभावप्रकटनया शारख्यद्योतनाच्चाहूलातिशयः ॥ ३२ ॥

शतपत्रं शरच्चन्द्रस्त्वदानन्मितिचयम् ।  
परस्तरविरोधोति सा विरोधोपमा मता ॥ ३३ ॥

विरोधोपमां दर्शयति । शतपत्रमिति । शतपत्रं पद्मं ।  
पद्मचन्द्रयोर्विरोधोविभिन्नकालीनशोभाशालिलरूपः, ताभ्यां  
सहाननस्य विरोधोपमनोज्ञलाद्येकधर्मवत्तरूपः, विरोधस्य च  
साम्यपर्यवसानादियं विरोधोपमा ॥ ३३ ॥

न जातु शक्तिरिन्द्रोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम् ।  
कलङ्किनेऽजडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा ॥ ३४ ॥

प्रतिषेधोपमां दर्शयति । न जातिति । प्रतिगर्जितुं वि-  
रोद्धुं सदृशोभवितुभित्यर्थः, यतः कलङ्किनः तथा जडस्य  
शीतलस्य अथव भूर्भूस्य, सदृशप्रतिषेधेन तदतिशयद्योतना-  
देषा प्रतिषेधोपमा । निन्दापमार्था प्रतिषेधो नास्तीत्यनयो-  
र्मेदः, भेदतात्पर्याभावाच्च व्यतिरेकात् ॥ ३४ ॥

स्तुगेश्चणाङ्कं ते वक्रं स्तुगेणैवाङ्गितः शशी ।  
तथापि सम एवासौ नोत्कर्षेति चटूपमा ॥ ३५ ॥

चटूपमामाह । स्तुगेचणाङ्कमिति । स्तुगेचणाङ्कं स्तुगस्याव-  
यवविशेषाभ्यासोचणाभ्यामङ्गितं । स्तुगेणैवाङ्गितः ईचणाद्यव-  
यवमसुदायवता समूर्णस्तुगशीरेणैव चिङ्गितः । सम एव तुन्या-  
ह्नादजनक एव, एवकारव्यवच्छेदं दर्शयति, नोत्कर्षं नाधि-  
काङ्क्षादजनकः । चटूपमेति चटुः प्रियोक्तिस्त्रितिपादितवाच-  
टूपमा । अत्रोत्कर्षकारणे सत्यपि नोत्कर्षं इति विशेषोक्तिगच्छ-  
त्वमस्या वक्रव्यम्, अत्यथा सर्वत्राण्युपमाभेदेषु चटुमत्त्वाच्छटूप-  
मात्वापत्तेः ॥ ३५ ॥

न पद्मं मुखमेवेदं न स्तुङ्गौ चन्त्रपि इमे ।  
इति विश्वष्टसादभ्याजत्त्वाख्यानोपमैव सा ॥ ३६ ॥

तत्त्वाख्यानोपमामाह । न पद्ममिति । मुखे पद्मलेन लोकं  
प्रत्युक्तिरियं । विश्वष्टमादृश्यात् भ्रमयुदासेन मादृश्य विशे-  
षेण स्पष्टीकृतत्वात् न त्वयदृशे भ्रमन्तिर्भवति । तत्त्वाख्यानोपमेति ।  
भ्रमनिरामार्थं भ्रमविययस्य तत्त्वकथनं तत्त्वाख्यानं तत्प्रयुक्तत्वा-  
देया तत्त्वाख्यानोपमा । निर्णयोपमायाः संशयपूर्वकत्वमस्यास्तु  
भ्रमन्तिर्भवत्वमित्यनयोर्भेदः ॥ ३६ ॥

चन्द्रारविन्दयोः काञ्जिमनिकम्य मुखं तव ।  
आत्मनैवाभवत्तुन्यमित्यसाधारणोपमा ॥ ३७ ॥

असाधारणोपमामाह । चक्रेति । कान्तिमतिकथं स्वका-  
न्धा निष्ठादीक्षाय । आत्मनैवाभवनुच्चमिति चक्रारविन्दे एव  
मुखस्थोपमानतथा अगति प्रसिद्धे, तत्काल्पेरतिकमे तु उप-  
मानान्तरासम्भवादात्ममान्तुच्चलभित्यभिप्रायः, नवास्तु भि-  
ज्ञयोर्दयोः साम्यमुपमा एकस्थोपमानोपमेयत्वे तमच्चथास्योऽप्त-  
स्तार इत्याङ्गः । ज्ञोपमा वाऽनन्द्यो वा भवतु एकस्थोप-  
मानोपमेयत्वमेव कथमिति वाच्यम् अनन्यमदृश्यलप्रतिपिषाद-  
यिषया काच्यनिकमेदाभ्युपगमेन तस्य विवक्षितलात् थथा  
आत्मानमात्मना वेत्सीत्यादौ स्वभिन्नाभावादेकस्य परमाक्षयो  
वेच्छुवेद्यत्वादिकमिति । असाधारणोपमेति प्रतियोग्यभावात्  
साम्यस्यैकमाच्छृङ्खलेन साधारणाभावादिति समाख्या ॥६७॥

सर्वपदप्रभासारः समाहृत इव क्वचित् ।  
त्वदाननं विभातीनि तामभूतोपमां विदुः ॥ ६८ ॥

अभूतोपमामाह । सर्वेति । क्वचिदेकत्र स्थाने विधाचा  
समाहृतः संगटहीतः सर्वेषां पश्चानां प्रभासार इव त्वदाननं  
विभातीत्यन्वयः । ताइश्चं प्रभासारसमाहृणस्य वस्तुतोऽभूत-  
त्वादिमामभूतोपमां विदुः । अत्रेवशब्दस्य सम्भावनार्थकला-  
दसम्भवित्य स्व प्रभासारमथत्वस्य सम्भाव्यमानत्वादुत्प्रैवेष्यमिति  
वह्वः प्रभासारमथत्वसम्भावमया पश्चाननयोः साम्यप्रतीते-  
हपमैवेति प्राप्तः, एवम् अच प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य धर्मिणः सम्भा-  
वना तचेवोक्तेषां च तु धर्मस्य सम्भावना तथाच प्रस्तुताप्रस्तु-

तथोः वास्त्रप्रतीतिसाक्षेपमैवेति प्राचामभिप्राण इति वोधम् ॥  
॥ १८ ॥

चन्द्रविक्षादिव विषं चन्दनादिव पावकः ।  
परुषा वागितोवक्त्रादित्यसम्भावितोपमा ॥ ४९ ॥

असम्भावितोपमामाह । चक्रेति । अच निःशरणक्रिया-  
आहारात् पञ्चमीचयम् । असम्भावितोपमेति उपमामयोर-  
सम्भावितत्वेनोपमेयस्यासम्भावितत्वप्रतीतेरियमसम्भावितोपमा ।  
किञ्चैकस्य बद्धपमानसद्वावदद्युमाणबद्धपमापि ॥ ५० ॥

चन्दनोदकचन्द्राशुचन्द्रकामादिशीतलः ।  
स्तर्घस्तुवेत्यतिशयं बोधयन्ती बद्धपमा ॥ ५० ॥

बद्धपमामाह । चन्दनोदकेति । पूर्वाह्ने, उपमाकारी  
सामान्यवाचिभिरिति कर्त्तव्यादः । अचैकस्य स्तर्घस्तु शीतल-  
त्वाय चन्दनादीनां बद्धमामुपमानानामुपन्नावादिव बद्धपमा ।  
अस्येकेनैवोपमानेन शीतलते पर्याप्ते उपमानाकरोपादानमन-  
र्थकं स्थादित्यत आह, अतिशयमिति, अतिशयं शीतलतस्या-  
धिकं, यथा बद्धगां मधुरवस्तुनां समेलनादास्यादस्याधिकं  
तथा बद्धगामुपमानानां समेलनादुपमेयधर्मस्याधिकमित्यर्थः ।  
नव्यासु माणोपमामिमामाङ्गः ॥ ५० ॥

चन्द्रकिम्बादिवोत्कीर्णं पद्मगर्भादिवोहृतम् ।  
तव तन्मङ्ग वदनमित्यसौ विक्रियोपमा ॥ ५१ ॥

विक्रियोपमामाइ । चक्रेति । विक्रियोपमेति, चक्रोपमा-  
नभूतौ चक्रविम्बपश्चगच्छौ प्रकृतौ ताभ्यामुल्कोर्णमुहृतस्त वदनं  
विलृतिः, प्रकृतिविलृत्योऽस्त्र साम्यमस्येवेति विक्रियया उपमान-  
विलृतलेनेयमुपमा, अदुक्षमाग्रेये, उपमानविकारेष तुलना  
विक्रियोपमेति । अन्यच च । उपमेयस्त्र यत्र स्थादुपमानविका-  
रता । प्रकृतेर्विलृतेः सामाज्ञामाङ्गविक्रियोपमामिति । अचापि  
पूर्ववद्वर्षयोहस्त्वीणिलृतलृत्योहस्त्वीचया धर्मिणोः साम्यप्र-  
तीतिस्त्रैव च विश्रान्तिरित्युपमैव प्रधानं न द्रष्टेति वे-  
भम् ॥ ४१ ॥

पुण्यातप इवाङ्गीव पूषा, व्यासीव वासरः ।

विक्रमस्त्वयधाक्षत्वमोमिति मालोपमा मता ॥ ४२ ॥

मालोपमामाइ । पुण्यातप इति । मालोपमेति । यथा,  
मालार्थं पुण्यादीनां प्रथमस्त्र द्वितीयेन द्वितीयस्त्र द्वितीयेन तस्य  
च चतुर्थेनेत्येवं क्रमेण समन्वस्त्राचायुपमानवाक्षबृष्टकाना-  
मेकस्त्रापरेष तस्य चापरेष समन्वान् मालोपमासमाल्या, तथा  
हि आतपो यथा पुण्या सूर्यं स्त्रैः स्त्रौमार्हधाति, पूषा यथा अङ्गि,  
अहर्यथा व्यासि, तथा विक्रमस्त्रय चक्रोपमधादिति पुण्योऽङ्गि  
चक्रस्त्र व्यासि समन्वः, एवं विन्यासचातुर्थेणैव वैचिचातिन्नव-  
सेन च वह्यपमातोऽस्या भेदः अन्यथा उभवचायुपमानवङ्गतास्  
पूर्वग्नेदकरणमसङ्गतं चादित्यवधेयम् । अन्यास्त्रभवचापि मा-  
लोपमासं वदन्ति तत्त्विक्तवैचिचविशेषानवस्त्रोक्तविजृशितम्,  
अच वासर इति प्रक्रमभङ्गः पूर्ववत् सोऽन्यः ॥ ४२ ॥

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते ।  
एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थापमा दिधा ॥ ४३ ॥

वाक्यार्थापमामाह । वाक्यार्थेनैवेति । वाक्यार्थो विशेषण-  
विशेषतामापनः पदार्थस्मूहस्तेन तादृशः कोऽपि प्राकरणि-  
को वाक्यार्थो यद्युपमीयते सा वाक्यार्थयोरुपमानोपमेत्यलादा-  
क्यार्थापमेत्यत्यथः, इत्यस्म साङ्गेनाप्रस्तुतवाक्यप्रतिपादेनाङ्गिमा-  
साङ्गत्य प्रस्तुतवाक्यप्रतिपादस्ताङ्गिनः साम्यं वाक्यार्थापमेत्यर्थः  
इत एव हि वैचित्रातिशयः, अन्यथा यथा योजि विभुर्भाति तथा  
भूम्यां मुखं तवेत्यादौ वाक्यार्थयोर्विभुमुखयोः साम्यादाक्यार्था-  
पमालापन्तः न चापच्चिर्विभुरिव मुखमित्यादाविव वैचित्र-  
विशेषानुपस्थात् तस्यैव च भेदकत्वात् । सा चोपमा दिधा  
तत्र हेतुरेकानेकेवशब्दत्वादिति, अयम्भावः यत्कैकक्षैकैकस्मिन्  
साम्यस्यात्ययोधे तात्पर्यं तत्त्वानेकेवशब्दप्रयोगः यत्र हु वि-  
शिष्टस्यात्ययोधानन्तरं पर्याप्तोचनया विशेषानां साम्य-  
प्रतीतिस्तत्त्वैकेवशब्दप्रयोग इति । साङ्गेपमायाज्ञ प्रायेण कवि-  
भिरिवशब्दः प्रयुज्यते, अत इवशब्दघटितत्वमुक्तम् ॥ ४४ ॥

तदाननमधीराक्षमाविर्द्धनदीधिति ।  
भमहृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पद्मजम् ॥ ४४ ॥

तत्त्वैकेवशब्दप्रयोगे वाक्यार्थापमामुदाहरति । तदाननेति ।  
अधीरे चक्षुसे अस्तिष्ठी च च तत् । अविराविर्भवन्ती वहिः

किञ्चित्स्वरूपमाणा इवनानां दीधितिर्थं तत् । आ ईशस्त्रयाः  
केसराः किञ्चल्ला यस्य तत् । अचाच्चिदशनदीधितिर्थपा-  
क्षुवतोऽङ्गिन आनन्दं स्मृतेसरस्पाक्षुवताङ्गिना पद्मजेन  
साम्यमिति तस्य बङ्गपदार्थस्पवाक्यार्थं गतलादाक्यार्थोपमा ।  
अच विश्विष्टयोरेवोपमानोपमेष्वत्प्रतीतिरित्येकेवशब्दप्रयोगः ।  
अचेवशब्दस्योपमानोन्तरप्रथक्तत्त्वनियमस्तुहनं प्राचां निरक्षु-  
ष्वत्विजृमितमिति श्लेषम् ॥ ४४ ॥

नलिन्या इव तन्वज्ञातस्याः पद्ममिवाननम् ।  
मया मधुघ्रतेनेव पायं पायमरम्यत ॥ ४५ ॥

अनेकेवशब्दप्रयोगे तामुदाहरति । नलिन्या इति । न-  
लिनो नलिनस्तम्भः नलिनस्मृहः नलिनयुक्तं तडागादिकं वा ।  
पायं पायं पुमःपुनः पौला । अरम्यतेति भावे स्तुत् । अचेव  
शब्दस्त्वयः प्रथुक्ताः, तेन च तन्वज्ञादीनां प्रत्येकं नलिन्या-  
दिभिः साम्यं शास्त्रवेधविषयोभवत् कमपि चमत्काराति-  
प्रयं जनयति, पूर्वोदाहरणे तु विश्विष्टयोरुपमानोपमेष्य-  
योः साम्यस्य शास्त्रवेधे ज्ञाते पद्मादिशेषणार्ना पर्यासोचनया  
. साम्यप्रतीतिरित्येकानेकेवशब्दप्रयोगस्तोभेदः ॥ ४५ ॥

वसु किञ्चिदुपन्यस्य न्यसनात् तत् सधर्माणः ।  
साम्यप्रतीतिरस्तोनि प्रतिवस्तुपमा यथा ॥ ४६ ॥  
नैकोऽपि त्वादग्नेऽस्यापि जायमानेषु राजसु ।  
ननु द्वितीयो नास्त्वेव पारिजानस्य पादपः ॥ ४७ ॥

प्रतिवस्तुपमामाह । वस्ति । किञ्चित् किमपि प्रस्तुतं  
वस्तु उपन्यस्य उत्कर्षयापकर्त्ताय वा पूर्वे वाक्येन प्रतिपाद्य  
तत्प्रमर्थनाय तस्य सधर्षणोऽप्रस्तुतवस्तुनरस्य न्यसनादाकारान्त-  
रेण प्रतिपादनात् शास्त्रप्रतीतिरसि इवाच्चभावेऽपि व्यसनया  
सादृश्यावग्नोभवति इति चेतोः सा वस्तुनोवाक्यार्थस्तोषमान-  
त्वात् प्रतिवस्तुपमेत्यन्यथः । तत्प्रधर्षण इति सधर्षण एक-  
धर्षणत इत्यर्थः सच धर्षणः कथितपदलक्ष्य दुष्टताभिधानात्  
भिन्नवाचकतया निर्देशनीयः । तदुक्तं प्रकाशहता । प्रति-  
वस्तुपमा तु सा । शास्त्रान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्तिति-  
रिति । शास्त्रप्रतीतिरसीति हेतुमन्त्रिगदेन प्रतिवस्तुपमाया नवी-  
नैकमलद्वारान्तरत्वं प्रतिविद्धुं शास्त्रप्रतीत्या उपमालबन्धके-  
नालद्वारान्तरत्वाभ्युपगमस्यानोचित्यात् । उदाहरति यथेति ।  
जायमानेचिति जातेचित्यस्तोषप्रस्तुतकं जातेषु जायमानेषु च  
राजसु मध्ये एकोऽपि लादृशस्तुत्सदृशो नासीत्यन्यथः । पा-  
रिजातस्तेति पारिजातपुण्यस्तोष्यर्थः, यदा राहोः चिद् इत्या-  
दिवद्वेदविवक्षया वहो, अच सदृशोनास्ति द्वितीयोनास्तीति  
शाधारणधर्षणो वस्तुत एक एव पौराणकनिराचाय अद्भवेदेन  
निर्दिष्टः । इत्यं वैधमर्येणापि भवति यथा, “एकोर्य एव चतु-  
राश्चन्त्रिकावानकर्त्तव्यि । विमावक्तीर्ण निपुणः सदृशोरतन-  
र्थं” इत्यादि, अच चातुर्यंचातुर्याभावो वाक्यार्थयोः शास्त्रं  
प्रयोजयतः ॥ १६ ॥ १७ ॥

अधिकेन समीक्षात्य चीनमेकक्रियाविधौ ।  
यद्ब्रुवन्ति सूता सेवं तुल्ययोगोपमा यथा ॥ ४८ ॥  
दिवो जागर्त्ति रक्षायै पुणोमारिभुवो भवान् ।  
असुरास्तेन इन्यन्ते सावलेपास्त्वया नृपाः ॥ ४९ ॥

तुल्ययोगोपमामाह । अधिकेनेति । एकसा एकजाती-  
यायाः क्रियाया विधौ करणे होनं न्यूनगुणम् अधिकेन गुणा-  
धिकेन समीक्षात्य, अत्र उदरं पूरयित्वा भुज्ञे इत्यादिवद  
प्राक्षाले क्वा, समीकुर्वन्तिर्थायै, यद्ब्रुवन्ति, यदित्यव्ययं सप्त-  
म्यन्ते यत्र वैचित्रे यदैचित्रबोधायेत्यर्थः ब्रुवन्ति कवयोवर्णयन्ति  
सा तादृशवैचित्ररूपा तुल्ययोगात् क्रियायामधिकहीनयोः  
समानसमन्वादुपमेयमिति तुल्ययोगोपमेत्यत्ययः । एकजातीय-  
क्रियाकरणेन प्रकृताप्रकृतयोः साम्यप्रतिपादनं तुल्ययोगोपमे-  
त्यर्थः । प्रकृतानामप्रकृतानां वा एकधर्मसमन्वरूपा नवीनैर-  
प्रुषोक्ता तुल्ययोगिता लितो भिन्नैव लक्षणभेदात् । उदाहरति  
यथेति । पुणोमारिरिक्षोदिवोरक्षायै जागर्त्ति, भवान् भुवो  
रक्षायै जागर्त्ति, तेजं पुणोमारिषा असुरा इन्यन्ते, तथा च  
सावलेपाः सर्वां नृपा इन्यन्ते इत्येकजातीयाभ्यां जागरक्ष-  
इन्यन्तक्रियाभ्यां हीनस्यापि प्रकृतस्तु राज्ञो गुणाधिकेनेत्रेण  
साम्यं वर्णनया प्रतिपादितम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

काम्या चक्रमसं, धाक्षा चर्यं, धर्येण चार्णवम् ।  
राजज्ञनुकरोषीति सैषा चेत्पमा मता ॥ ५० ॥

हेतुपमामाह । काम्येति । अत्र काम्यादिभिर्वैतुभिक्ष-  
द्वादिसाम्यप्रतीतिरिति हेतुत्वापितत्वादेषा हेतुपमा ॥५०॥

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापिवा ।

उपमादूषणायात्म यत्रोद्देशो न धोमताम् ॥५१॥

इत्यं सप्रभेदामुपमां निरूप प्रसङ्गात्मदीयदोषेषु वक्तव्येषु  
तत्र, हीनाधिकत्वं वचनलिङ्गभेदोविपर्ययः । असादृश्यासम्भवौ  
ए दोषाः सप्तोपमा गता इति प्राचीनोक्तानां सप्तामां दो-  
षाणां मध्ये स्वमते विपर्ययादिदोषवचयस्तोपमात्मचणे सादृ-  
श्यस्तोऽनुतत्वविशेषणेनैवाप्राप्तावसरत्वं प्रतिपाद्य सम्बृति सम्बद्धि-  
नोऽवशिष्टदोषचतुर्यस्यापि दूषकतत्त्वं सार्वचिकत्वं परिह-  
रति । न लिङ्गवचने इति । लिङ्गवचने इति प्रथमादिवच-  
नात्म । भिन्ने इति उपमानोपमेयपदयोः पृथग्भूते इत्यर्थः ।  
हीनाधिकतापि वेति । उपमानस्यैवेति बोध्यम्, उपमेयपेक्षया  
उपमानस्य जातिगतं प्रमाणगतत्वं न्यूनत्वमधिकत्वमेत्यर्थः ।  
उपमादूषणायात्मभिति अत्र तत्त्वेति बोध्यम् उत्तरवाक्ये यत्त्वेति  
अवणात् । यत्रोद्देश इति उद्देशः प्रतीतिमान्यर्थं स च लिङ्ग-  
वचनभेदस्य स्ते साधारणधर्मस्याभयान्यद्याभावेन साम्यस्य सम्ब-  
गनिर्वाहात्, हीनतात्मस्ते चोपमानस्यापहृष्टवज्ञानेन तदु-  
पमितस्य प्रस्तुतस्योक्तर्वाग्नुपस्थानात्, अधिकतात्मस्ते चाधिको-  
पमितस्य चुद्रोपमेयस्यायहसनीयवज्ञानात् जापते । स च यत्र  
न भवति तत्र सन्देशेतान्युपमादूषणात् अस्ते समर्थानि च भवन्ति ।

तथा हि सिङ्गवचनभेदेऽपि यत्र साधारणधर्मस्याभयान्वये  
बाधाभावः, हीनताधिकतयोऽस्मि नात्यन्तिकलं तत्र न दोष  
इति यथोदाहरिष्यते । नव्यास्तु कालपुरुषविश्वादिभेदस्याणु-  
पमादूषकतामाङ्गः । क्रमेण यथा “काप्यभिख्या तयोरासोद्भु-  
जतोः शुद्धवेशयोः । हिमनिर्मुकयोर्यागे चित्राचन्द्रसमोरिव”  
इति । अत्र चित्राचन्द्रसमोरभिख्या न खल्वासीदपि तु सर्व-  
दापि भवति । स्तेव राजसे तच्च इति, अत्र स्तता राजते व्यं  
राजसे इति । चिरं जीवतु ते सूनुर्मार्करङ्गयमुनिर्यथेति । अत्र  
मार्करङ्गयमुनेजीविनं न खलु विघेयमिति । एतेषाऽस्मि दूषकलं  
स्फुटं प्रतीयमानमपि प्रायेण कविभिर्न गणितमिति यन्वक्ता-  
णुपचित्तम् ॥ ५१ ॥

स्त्रीव गच्छति पण्डोऽयं, वक्त्येषा स्त्री पुमानिव, ।  
प्राणा इव प्रियोऽयं मे, विद्या धनमिवार्जिता ॥ ५२ ॥

लिङ्गवचनभेदस्यानुदेगकरतं दर्शयति । स्त्रीवेति । अत्र  
पूर्वार्त्ते गच्छतीति वक्त्रोति च तिङ्गमपदप्रतिपाद्यस्य क्रियारू-  
पसाधारणधर्मस्याभयचान्वयाङ्गिङ्गभेदो न श्रोतृणामुद्देगं अ-  
नेयति । एवमुभयान्वययोग्यक्रियया वचनभेदस्य दूषकत्वा-  
भावो यथा, “तद्देशोऽस्मद्देशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।  
दधते स्म परां श्रोभां तदीया विभ्रमा इव” इति, अत्र धादध-  
धातुभ्यामेकवचनवचनवचननिष्पत्ता दधते इति क्रिया झिष्टले-  
नोभयान्वययोग्या । यत्र प्रकृतोचितसिङ्गवचनपर्यायशब्दान्त-

राभावान्नियतलिङ्गवचनपदैरेवोपमानोपमेयभावोऽवश्च विधे-  
यस्त्रागत्या अत्ययेनान्वयमिद्दौ नोदेग इति दर्शयति  
प्राणा इवेत्यादि, अत्र प्राणपदं समूहवाचकलान्नियतवज्ञवच-  
नान्तं धनपदच्च नियतक्लीबलिङ्गम्, अनयोश्च प्रकल्पताचितसि-  
क्षुवचनपर्यायान्तरमप्रसिद्धं तस्मात् प्राणा यथा प्रियास्त्रायां  
प्रिय इति, धनं यथा अर्जितं तथा विद्यार्जितेति विपरिणा-  
मेनान्वयोऽगत्याकर्त्तव्य इति नोदेगः, एवं स लाहकारभस्त्रेव  
श्वसन्नपि न जीवतोत्यादीनि महाकविप्रयुक्तानि बह्यन्तेवंविधा-  
नि द्रष्टव्यानि, तथा चन्द्रेण तुन्यममलाङ्गि मुखं लदीयं  
मत्कातुकामृतपर्यान्निधिवृद्धिकारि इत्यादौ तुन्यादिशब्दप्र-  
योगे, मधुरः गुधावदधर इत्यादौ वदादितद्वितप्रयोगे, चन्द्र  
इव मुखमित्यादौ साधारणर्धाप्रयोगे वस्त्रपमायामंवंविमे-  
त्यन्तापि च लिङ्गवचनभेदस्यानुदेगकरत्वं बोधम् ॥ ५२ ॥

भवानिव महोपान्न द्वेराजो विराजते ।

अन्तमंशुमतः कक्षामारोढुं तेजसा नुपः ॥ ५३ ॥

उपमानस्य हीनत्वाधिकत्वयोरनुदेजकत्वं दर्शयति । भवा-  
निवेति । इवान्तस्योपमानत्वनियमात् भवश्चब्दवाच्या राजा-  
चोपमानं तस्य च मनुष्यत्वाद्वराजापेत्या हीनत्वमस्त्रेव  
परम्पुराङ्गो लोकपालांशसमृतत्वान्नात्यनं तदिति न आट-  
बुद्धिमात्राकुसयति तथा, यथा चण्डाल इव राजामें संयामेऽधि-  
कमाहस इत्यादावतिनिष्ठृष्ट्या चण्डालस्योपमानतायां । ननु

विषयांसोपमायामस्यां वर्षनोयस्य राजा उक्तं निश्चयार्थमे-  
वोपमानत्वप्रतिपादनं पर्यवमाने द्रुपमेयत्वमेव प्रतीयत इति  
चेत्तर्हि, उत्सज्जितकुरुद्गोऽयस्त्रिचमण्डलमध्यगः । विधुव्याघ्र इवा-  
भाति हन्तुं विरहदुर्बलानित्युदाहरणमत्र वोभम्, अत्र  
अस्त्रियेष्यमहिमा निकृष्टस्यापि व्याघ्रस्योपमानत्वं नोद्देगं जन-  
यति । एतच्च जातिगतन्यूनतायां, प्रमाणगतायान्तु, वासवा-  
शामुखे भाति विधुश्वन्दनविन्दुवित्युदाहरणम्, अत्र विभ्र-  
पेत्यया चन्दनविन्दोः प्रमाणगतन्यूनत्वेऽप्यस्ति कश्चिच्चमत्कारा-  
तिशयः येन न्यूनत्वकृतोद्देगस्त्रिरोधीयते । अत्तमिति । अत्र  
मनुष्यविशेषस्य नृपस्योपमानमंशुमान् जात्याधिकः, अधिकत्वे-  
नैव चोपमानत्वम् अन्यथापमायाविलोपप्रसङ्गात् निकृष्टेनोप-  
सीयमानतायां प्रस्तुतस्योत्कर्षप्रतीत्यनुपपत्तेः तस्मादत्यधि-  
कत्वं एवोद्देगः, यथा हरवन्नीलकण्ठोऽयं विराजति शिखावल  
इति, अत्र यक्षिणः शिखावलस्यात्यधिकोहर उपमानम्, एत-  
चाधिकं जातिगतम्, प्रमाणगतन्युं कुम्भाविव कुचावेतावित्या-  
दौ, अत्र कुचापेत्यया कुम्भस्य नात्यधिकत्वमिति नोद्देगः, उद्दे-  
गय, तालीफलमिदं भाति नोलं नोलाचलोपममित्यादौ, उप-  
मानस्य प्रमाणतोऽत्यधिकत्वात् ॥ ५४ ॥

इत्येवमादौ सौभाग्यं न जहात्येव जातुचिन् ।

अस्त्वये वक्त्विदुदेगः प्रयोगे वाग्विदां यथा ॥ ५४ ॥

हंसोव धवलश्वन्दः, सरोसीवामनं नभः ।

भट्टमक्तोभटः श्वेव खद्योतो भाति भानुयन् ॥ ५५ ॥

ईदृशं वज्र्यते सङ्क्षिः, कारणं तत्र चिन्मयताम् ।  
गुणदोषविचाराय स्वयमेव मनोषिभिः ॥ ५६ ॥

पूर्वस्थाकदये निमद्वेगं स्वयमेव दर्शयति । इत्येवमादाविति । सौभाग्यं न जहात्येवति, अत्र लिङ्गवचनभेदो हीनाधिकता चेति कर्त्तव्यपदमृच्छां । सौभाग्यं प्रस्तुतस्यात्कर्षं न जहाति न प्रतिबधाति । यत्रोद्देशो न धीमतामित्यत्र यत्रेत्यनेन कर्त्तव्यदुद्देशोऽप्यस्त्रोति सुचितं तदर्थनायाह अस्यवर्तति, कर्त्तव्यप्रयोगे वामिदामुद्देशोऽप्यत्येवत्यन्वयः । इंसीवेत्यादि, अत्र प्रथमपादे उपमानोपमेयपदयात्स्त्रिलिङ्गभेदः, दितीये वचनभेदः । इतीये उपमानस्य जात्या न्यूनता चतुर्थं चाधिकता, एतेषामुद्देशजनकत्वं पृष्ठमुक्तं ॥ ५.४ ॥ ५.५ ॥

ईदृशमिति । सङ्क्षिर्निर्पुणकविभिः । तत्र कर्त्तव्यजर्ज्यते कर्त्तव्यजर्ज्यते च कारणमुद्देशानुद्देशरूपं, गुणदोषविचाराय मनोषिभिः प्राप्तबुद्धिभिः स्वयमेव चिन्मयतामित्यन्वयः, एतेजस्य गुणदोषाः स्वयमेव सुबुद्धिभिर्ज्ञायन्ते, अतस्मैषां माकल्येन प्रदर्शनया यन्यवङ्गस्त्रोकरणमप्रयोजनमिति दिङ्गाचमेव दर्शितमिति सुचयता स्वयमेव न्यूनत्वं परिच्छतम् ॥ ५.६ ॥

इववदायथागद्वाः समाननिभमन्विभाः ।  
तु त्यसङ्काशनोकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ॥ ५.७ ॥

प्रतिपक्षप्रतिदन्तिप्रत्यनोकविरोधिनः ।  
 सट्टकसट्टशसंवादिमजानीयान् यादिनः ॥ ५८ ॥  
 प्रतिविम्बप्रतिच्छन्दसहृपसमसम्भिनः ।  
 सलन्नाणसट्टाभसपत्रोपमितेऽपमाः ॥ ५९ ॥  
 कल्पदेशीयदेश्यादिः प्रख्यप्रतिनिधी अपि ।  
 सर्वर्षतुनितौ शब्दौ ये चान्यूनार्थवादिनः ॥ ६० ॥  
 समासश्च वज्रबीहिः शशाङ्कवदनादिपु ।  
 स्यद्वते जयति देष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जन्ति ॥ ६१ ॥  
 आक्रोशात्यवजानाति कदर्थयति निन्दति ।  
 विडम्बयति सन्ध्यते ह्यसतीर्यत्यद्ययति ॥ ६२ ॥  
 तस्य मुषणाति सौभाग्यं तस्य कालिं विनुम्यति ।  
 तेन सार्हं विगृह्णाति तुला तेनाधिरोहति ॥ ६३ ॥  
 तत्यदव्यां पदं धन्ते तस्य कदां विगाहते ।  
 तमन्वेत्यनुबन्धाति तच्छीलं तच्छ्रेष्ठति ॥ ६४ ॥  
 तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादश्यस्त्वचकाः ।  
 उपमायामिमे प्रोक्ताः कवीनां बुद्धिसौख्यदाः ॥ ६५ ॥

उपमाखणे प्रतीयत इत्यत्र प्रतीतिरभिधया सत्त्वण्या  
 अच्छन्या च भवतीत्युक्तं, तत्र वाचकादिशब्दान्विद्विशति ।  
 इत्येत्यादि । वदिति तद्वितो वतिप्रत्ययः स च तत्र तस्येत्य-  
 नेन क्वचिदिवार्थं विहितः । तेन तु त्वं क्रिया चेदतिरित्यनेन

च क्वचिन्तुन्यार्थं विहितः । वा इति वशवदस्योपलक्षकः तस्या-  
पि सादृश्यवाचकलात् । निभादयः केचित् समाप्तमधगता  
एव प्रयुज्यन्ते । कल्पदेशीयदेशाः प्रत्ययाः । अन्यूनार्थवा-  
दिनोऽहीनार्थवाचकाः । समाप्तेति बङ्गबोहिः कर्मधारयो-  
पलक्षकः यथा शस्त्रीशामा, पुरुषव्याघ इत्यादै । शशाङ्कवद-  
नादिविति शशाङ्कमदृशं वदनं यस्या इति बङ्गबोहौ पूर्वाङ्ग-  
सम्बद्धोऽन्तरपदस्येत्यादिना सदृशपदलोपः । सन्धेन इत्यत्र  
रुहन्ते इति मुण्णातोत्यत्र च पुण्णातोति क्वचित्याठः । तस्य  
मुण्णाति मौभाग्यमित्यादिवाक्यप्रयोगदर्शनया प्रौढोऽक्षा मौ-  
भाग्यादिमोषणादिसापेक्षतयैव सादृशप्रतीतिर्नान्यथेति सु-  
चितम् अतएव चौरो धनं मुण्णातोत्यादै न साम्यप्रतीतिः ।  
मर्वन्त्र तच्छब्द उपमानपरः । तुलां तेनाधिरोहतोति तेन  
सह तुलां मानयत्वं स्वसमीकरणाद्याधिरोहति । तुलामा-  
दृशमानयोरिति मेदिनी । नत्रूपमां, तथात्रे अधिरोह-  
तीत्युपादानवैकल्यात् तुलाशब्देनैव साम्यप्रतीतेः, तद्यां तेन-  
त्वत्र द्वतीयानुपपत्तेश्च, अतएवाच तुलोपसावर्जनान्तुन्या-  
र्थेरित्यादिना द्वतीयाद्या अप्राप्तौ भव्यार्थविवक्षया द्वतीयेति  
गायोचद्रस्य प्रयासो विफल इव प्रतिभाति । तच्छीलर्मि-  
त्येकं, तच्छीलति परिचिनेतोति तस्य शीलं स्वभावो यत्वेति  
वा विद्यहः नतु तस्येव शीलं यस्ति, तथात्रे समाप्तय बङ्ग-  
बोहिःरित्यनेनैव चिद्धौ विशेषेणापादानमनर्थकं स्थान् । त-  
न्निषधति उत्कर्षकक्षायां प्रवेष्टुं वारयति । सादृशसूचकाः

सादृश्यस्य बोधकाः वाचका लक्षका व्यञ्जकास्त्वयर्थः । तत्र  
इत्यादयो वाचकाः, स्थूलत इत्यादयो लक्षकाः स्थूलादिधात्र-  
नां सादृशे सहेतिलाभावात्, तस्य मुष्णाति सौभाग्यामि-  
त्यादयो व्यञ्जकाः । सुचका इत्यत्र वाचका इति पाठम् न  
मनोरमः सर्वेषां वाचकलाभावात् । वाचकशब्देषु च इवादि-  
प्रयोगे श्रौती, तु न्यादिप्रयोगे त्वार्थात्युपमाभेदो नवोनैः प्र-  
दर्शितः । उपमायामिमे इत्याद्यद्वै न सर्वत्र पुस्तकेषु दृश्यते ॥  
५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

### इत्युपमाचक्रम् ।

उपमैव तिरोभृतभेदा रूपकमुच्यते ।

यथा बाङ्गलता, पाणिपद्मं, चरणपक्षवः ॥ ६६ ॥

अथ रूपकं सन्नयति । उपमैवेति । तिरोभृतोऽप्रकटः  
सन्धिपि प्रतिबन्धकलमंकोचात् स्तोऽनरकालोनाभेदेन नि-  
क्षुतप्राय इत्यर्थः, भेदः प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्भेदयहो यत्र तादृशो  
उपमैव सादृशमेव रूपकमुच्यते इत्यन्ययः । प्रस्तुताप्रस्तुतयोः  
• सादृशप्रस्तुतयजनभेदप्रतीतिसधीचीनाभेदप्रतीतिजन्यैवैचत्रं रू-  
पकमित्यर्थः इत्यज्ञाभेदप्रतीतिराहार्यरूपा, आहार्यतत्त्व-  
सन्धिपि बाधे प्रस्तुतिरिच्छाप्रयोज्यतं प्रतिबन्धतावच्छेदक-  
कोटावनाहार्यतत्त्वं निवेशनोयनेन तादृशाभेदप्रतीतेर्वाधा-  
प्रतिबन्धतात् सादृशस्त्राच गौणसारोपस्त्रज्ञागम्यं बोध्यं तेज

गैणसाध्वसानस्तत्त्वाणाबोधसादृशमुखायामनिष्ठयोकी जाति-  
व्याप्तिः नापि चन्द्रसदृशं मुखं चन्द्र इत्यादौ शब्दवाच्यमादृश-  
यहोत्तराभेदयहेऽतिप्रसङ्गः, अपकृतौ तु नेदं नभोमण्डल-  
मम्बुराश्चरित्यादौ न स्तत्त्वाणन्यमादृशप्रतीतिपूर्वकतमभेदा-  
ध्वसानस्य, नूनं मुखमिदं चन्द्र इत्यादावुप्रेक्षायामपि न  
तथाकं नायाहार्यात्मकलं सम्भावनायाः इत्यन्यत्र च निरुक्त-  
दिशातिप्रमङ्गोनिरसनीयः । प्रकृते मुखं चन्द्र इत्यादौ प्रथमं  
स्तत्त्वाय चन्द्रपदात् चन्द्रमादृश्येष्यप्रस्थित्या चन्द्रसदृशं मुख-  
मित्यन्यवोधः, तदन्तरमेव च स्तत्त्वाणाकृत्या व्यक्तनया च-  
त्रोमुखमित्यभिन्नतया मुखचन्द्रयोः प्रतीतिः साच्च मद्य एव  
विहजनहृदयोक्तादकरं किमपि वैचित्रमुद्भावयति येन च  
मादृशप्रतीतिजन्यमुपमावैचित्रं स्फुकुचौ निचिष्टते ततस्य ना-  
न्वेष्यमारुपकयोः साहृर्यमिति पूर्वमेवोक्तम्, इत्यस्ताहार्या-  
त्मिकाऽभेदप्रतीतिर्लक्षणायाः प्रयोजनभूता स्तत्त्वाणजनित्यमा-  
दृश्यप्रकारकश्चाद्वेधानन्तरम्पुरणात् । उक्ष्य प्रकारहृता ।  
भेदेऽपि ताद्रुष्यप्रतीतिः सर्वदैवाभेदावगमस्य प्रयोजनमिति ।  
स्तत्त्वाणजन्यमादृश्यप्रतीत्यनन्तरोत्यन्याया एव ताद्रुष्यप्रतीतैव-  
चित्रातिशयजनकत्वादेतदस्त्रारवमिति स्पष्टीकृतं । कण्ठा-  
भरणे यथा, “यदोपमानशब्दानां गैणदृक्तिव्यपाश्रयात् । उ-  
पमेये भवेहृत्तिस्तदा तद्रुपकं विदुः” इति । शारीरकसीमां-  
साभाव्याख्याने वाचस्यतिमित्रैरपि उपमानशब्दस्योपमेयतुच्छौ  
गैणस्तत्त्वायाः हेतुलमुक्तं यथा, अपिच परशब्दः परच-

सत्यमाणगणयोगेन वर्तते इति । विश्वनाथसु रूपकादौ  
शाम्यस्य वाङ्मूलं, रूपकस्य च गौणीमूलकलमाह, तत् स्ववचनद-  
येनैव प्रमादप्रतिपादनादुपेक्षणीयम् । उपमैवेत्येवकारेण सम-  
न्वान्तरव्याख्यातिः, तेन आयुर्वृतमित्यादौ लक्षणाजन्यकार्यका-  
रणभावादिप्रत्ययेन भिन्नयोरभेदो न रूपकम् । रत्नाकरसु  
सादृश्यप्रयुक्तः समन्वान्तरप्रयुक्तो वा यावान् भिन्नयोः सामा-  
नाधिकरण्यिर्देशः स सर्वोऽपि रूपकं, सारोपस्वक्षणामूलक-  
लस्य तुम्भवेन सादृश्यप्रयुक्तस्य तादात्यस्येव समन्वान्तरप्रयु-  
क्तस्यापि तादात्यस्य संयहीतमौचित्यात्, तस्माद्दुरायह एवाचं  
प्राचामुपमानोपमेययोरभेदोरूपकं न कार्यकारणादिक्यो-  
रितीत्याह । अपरे च कार्यकारणयोरभेदोहेत्वलङ्घारः, उप-  
मानोपमेययोरभेदोरूपकं, समन्वान्तरवतोरभेदसु वैचित्रा-  
जननाम्नालङ्घार इत्याङ्गः । नवोनतरासु रूपकस्य सादृश्य-  
प्रतीतिपूर्वकलमेव, तत्र सादृश्यं प्रत्यक्षादिप्रमाणाकरणम्, नतु  
गौणसारोपस्वक्षणथा इत्यप्रमाणगम्य, तत्र सादृश्यस्य इत्य-  
वेद्यतादुपमैव, अतएवामेये, उपमानस्य तत्र यदुपमेये तु  
रूपते । गुणानां समतां दृशा रूपकं नाम तदिदुरिति । अत  
दृष्टेत्युक्तं, तस्मात् सादृश्यस्य प्रमाणान्तरवेद्यत्वं एव रूपकं ।  
सत्याक्षरे तु सत्याक्षरलेनाभ्युपगताऽप्यभेदवृद्धिरदोच्य-  
वाधतया शास्त्रबोधविषयतां गतस्य सादृश्यस्य तत्काल एव  
प्रवृत्तमुपमायपदेशं न आइन्मुमीष्टे प्रवृत्तत्वात् तस्म, नहि नि-  
र्बाधं सम्बन्धाकं वसु कालान्तरीयेण प्रतिदिव्यान्यथाकर्त्तुं

शक्यत इति वदन्ति । इत्यं रूपकस्य सामान्यलक्षणमभिधाय  
तत्प्रभेदान् दर्शयन् तत्र समस्तव्यक्तिशब्दगतत्वेन दिविधस्त्वा  
तस्य प्रथमं समस्तगतत्वमुदाहरति । यर्थति । बाङ्गलतेत्या-  
दि, बाङ्गरेव लता, पाणिरेव पद्मं, चरण एव पद्मव इति  
सद्यूर्व्यसकादिलात् कर्मधारयः, अत्र बाङ्गलतेत्यादिवासवा-  
क्यवत् समाप्तवाक्येऽपि प्रथमं गौणसत्त्वेण लतादिपदात् तत्  
बाहृश्चप्रतीतिसद्वशेन च समुक्तिष्ठाया व्यञ्जनया ताहृष्टप्र-  
तीतिरिति वहवः । नव्यास्तु व्यस्तरूपकस्यैव गौणीमूलकत्वं न  
समस्तरूपकस्य, समस्ते तत्प्रतीतिमात्रमिति वदन्ति । के-  
चिन्तु बाङ्गलतेवेति उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोग  
इत्यनेन कर्मधारयसापि साम्यवाचकत्वेनोपमायाः सम्भवात्, अत-  
एवैवंविधस्त्वले साधकवाधकाप्रयोगे रूपकोपमयोः साहृद्य-  
मयोच्छन्ति तदन्यतरप्रयोगे तत्पत्रसेव, यथा मुखचन्द्रं चुम्ब-  
तीत्यादौ चुम्बनमुपमेयमुख एव सम्भवतीत्युपमासः एवं तेजा-  
त्र मुखं चन्द्रं इवेत्युपमितिसमाप्तः । “आकर्णं मे तमोहन्ति  
मुखचन्द्रस्त्रव प्रिये” इत्यादौ तमाहननमुपमानचन्द्रस्त्रैव धर्ष्य  
इति रूपकस्य साधकं तेजाच मुखमेव चन्द्र इति रूपकसमाप्तः ।  
मुखचन्द्रः ग्रीभत इत्यादौ तु इयोरपि ग्रीभासम्यवात् एकतर-  
साधकवाधकाभावेनोपमारूपकयोः सज्जरः तेजाच मुखं चन्द्र  
इवेति मुखमेव चन्द्र इति च समांशद्याम्रयष्म । एवं सुन्दरं  
वदनामुजमित्यादौ सामान्यधर्ष्यप्रयोगे उपमितिसमावाहावात्

सुन्दरमिति रूपकस्य साधकं, तेन वदनमेवाम्बुजमिति रूप-  
कमास्थः । अतु एमासस्य वाचकतां नाङ्गीकुर्वन्ति तेषां मते  
पुरुषव्याघ्र इत्यादौ आग्रादिपदं आग्रादिमद्वचे लाचणिक-  
मिति स्वशणाजन्यसाहृष्टवोधानल्लर्तं तयारभेदारोपे रूपकं  
सम्भवत्येव, परम् तदासङ्गारिकराहृष्टविहृष्टमेव मलयं ।  
प्रकृते तु बाङ्गलतेत्यादौ निरुक्तयुक्ता महार एव, शुद्धोदाह-  
रणम्, तव बाङ्गलता बाले पुष्पिता नखरश्रियेत्यादिकं बोधम्,  
अत्र पुष्पितलमुपमानलताया एव धर्म इति रूपकस्य साध-  
कम् ॥ ६६ ॥

अङ्गुल्यः पञ्चवान्यासन् कुसुमानि नखार्चिषः ।  
बाहू लते वसन्तश्रीस्त्वं नः प्रत्यक्षचारणी ॥ ६७ ॥

वस्त्ररूपकमुदाहरति । अङ्गुल्य इति । तं वसन्तश्रीरिति,  
नम्बुद्धुरसाहृष्टयोनीयिकावसन्तश्रियोः कथं विषयविषयि-  
भाव इति साहृष्टार्थं तदुभयवृत्तिवसन्तां प्रथमं विश्वप्रति-  
विमतया विषयविषयिभावं दर्शयति अङ्गुल्यः पञ्चवानीत्यादि,  
अत्र वाक्यत्रयेऽपि विषयविषयिणोर्विभिन्नलिङ्गलप्रदर्शनया  
रूपके लिङ्गभेदो न दूषणायेति सुचितं, क्वचिद्वचनभेदोऽपि  
यथा शास्त्राणि चक्षुर्विमित्यादौ, अत्र शास्त्राणीति बङ्गवसनेन  
सकलशास्त्रज्ञानवस्त्रज्ञापनाचमत्कारातिशयः, अनेवंविधस्यले  
तु दोष एव यथा मुखं पद्मानीति ॥ ६७ ॥

इत्येतदसमस्ताख्यं समस्तं पूर्वरूपकम् ।  
स्मितं मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेनि समस्तव्यस्तरूपकम् ॥ ६८ ॥

इत्येतदिति । एतद्रूपकमसमस्तशब्दगतत्वादसमस्ताख्यं ।  
पूर्वरूपकं बाङ्गलतेत्यादिपूर्वस्थोकप्रदर्शितरूपकं समस्तं सम-  
स्तशब्दगतत्वात् समस्तनामकम् । उभयगतत्वादुभयशब्दघटि-  
तनामकमण्याह । स्मितमिति । समस्तव्यस्तरूपकमिति मुखेन्दो  
रित्यत्र समाप्तः स्मितं ज्योत्स्नेत्यत्र च व्याप्तः ॥ ६८ ॥

तामाङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम् ।  
भ्रियते मूर्द्धि भूपालैर्भवच्चरणपद्मजम् ॥ ६९ ॥  
अङ्गुल्यादौ दलादित्वं, पादे चारोप्य पद्मताम् ।  
तदोग्यस्थानविन्यासादेतत् सकलरूपकम् ॥ ७० ॥

सकलरूपकमाह । तामाङ्गुलीति, तामाङ्गुलय एव दलानि  
तेषां श्रेणिर्थत्र तत् । नखानां दीधितय एव केसरा यत्र तत् ।  
दलादित्वं दलत्वादि । तदोग्यस्थानविन्यासादिति । तस्य  
पद्मजधारणस्य योग्यस्थानं मूर्द्धा तस्य विन्यासात् शब्देन प्रति-  
यादनात्, यदा तस्य पद्मजस्य योग्यस्थाने मूर्द्धि विन्यासाद्वा-  
रणात् तादृशधारणस्य वर्णनादित्यर्थः । अथवावः मूर्द्धि धा-  
रणं पद्मजस्त्रिवेचितमित्युपमानमाचगतत्वाद्रूपकम् वाधकम्,  
उपमेये च चरणेऽप्यमादुपमायावाधकम्, एतदनुपौ तु सा-

धकवाधकाभावात् पूष्टोऽप्निशा सहर एव स्मादिति । सकलरूपकमिति चरणस्य पद्मजलेन रूपणे तदगुणतया चरणावयवेष्टपि पद्मजावयवानां रूपणात् सकलरूपकता । इदमेव नव्याः साङ्गरूपकमाङ्गः । यथा दर्पणे, “अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्” इति, उदाहृतम् यथा, “रावणवयहक्कान्तमितिवागमृतेन सः । अभिष्टु भर्त्तुस्य लक्ष्ममेघस्त्रिरोदधे” इति ॥ ६८ ॥ ३० ॥

अकस्मादेव ते चण्डि स्फुरिताधरपञ्चवम् ।  
 मुखं मुक्तारुचो धन्ते घर्माभ्यः कणमञ्जरीः ॥ ७१ ॥  
 मञ्जरीकृत्य घर्माभ्यः, पञ्चवीकृत्य चाधरम् ।  
 नान्यथा कृतमन्त्रास्मतोऽवयवरूपकम् ॥ ७२ ॥

अवयवरूपकमाह । अकस्मादेवेति । हे चण्डि ! कोपने ! स्फुरित आकर्षितोऽधर एव पञ्चवोदसं यत्र तत् ते मुखं मुक्तारुचो मुक्ताकारा घर्माभ्यसां कणा एव मञ्जर्यः कर्णिकोपरित्यगुलिका इत्यर्थः, ता अकस्मादेव धन्ते इत्यन्यथः ॥ ७१ ॥

मञ्जरीकृत्येति । अत्र पश्ये घर्माभ्यो घर्माभ्यः कणान् मञ्जरीकृत्य मञ्जरीत्वेनारोप्य, एवमधरं पञ्चवीकृत्य च आस्मवयविभृतं मुखम् नान्यथाकृतं विषयान्तराभिन्नतया नारोपितम्, अतोऽवयवमान्तरूपणादवयवरूपकमिदमित्यन्यथः । अत्र प्रस्तुते मुखे पञ्चलारोपेऽर्थवद्वादवस्थेः, अतएवेदमेकदे-

श्विवर्जिरुपकमित्याङ्गर्भव्याः । यथा दर्शणे, “वच कस्त्रिदार्थत्वमेकदेश्विवर्जित तत्” इति ॥ ७२ ॥

वस्तिगतभु गलद्वर्मजलमालोहितेष्टणम् ।  
विवृणोति मदावस्थामिदं वदनपद्मजम् ॥ ७३ ॥  
अविकृत्य मुखाङ्गानि मुखमेवारविन्दताम् ।  
आसीङ्गमितमत्रेदमतोऽवयविरुपकम् ॥ ७४ ॥

अवयविरुपकमाह । वल्लितेति । वल्लितभु चक्षितभूयुगम् ।  
मदावस्थामिति मदो मध्योपयोगजनितविकारः स च मध्योहा-  
नन्दसम्बोदामदोमध्योपयोगज इत्युक्तुपः, तस्यावस्थां प्रादुर्भावं ।  
वदनपद्मजमिति, नन्दत्र वदनमेव पद्मजमिति रुपकपरि-  
यहे किं विनिगमकम्, उपमानपद्मजमात्राच्यथिधर्मान्तरा-  
नुपादानात् प्रत्युत वल्लितभुलादीनामुपान्तानामुपर्यवदन-  
मात्रमर्भित्वेनापमामाधकलादुपमैवाच भवितुमहतोति चे-  
त्तर्हि वदनमम्बुजमिति व्यस्तमेव पठनोयमिति ॥ ७५ ॥

अविकृत्येति । अत्र मुखस्थाङ्गानि भूप्रभूतीनि अविकृत्य  
उपमानान्तराभिन्नतया नारोष्य मुखमेवारविन्दतां गमितं  
पद्मजबेनारोपितमासेत् अतोऽवयविनो मुखमात्रस्यैव ताङ्ग-  
श्पद्मजलेन रुपणादवयविरुपकमिदम् । अत्र भुव्र उपमानं  
दक्षं, घर्षजस्थ मकरन्दः, सोहितेष्टणस्य च परागपिञ्चरभ्रम-  
रोऽनुपान्तः, इदं निरङ्गरुपकमिति नव्याः ॥ ७६ ॥

मदपाटलगण्डेन रक्तनेत्रोत्पलेन ते ।

मुखेन मुखः सोऽप्येष जनेरागमयः कृतः ॥ ७५ ॥

एकाङ्गरूपकच्छैतदेवं द्विप्रस्तीत्यपि ।

अङ्गानि रूपयन्त्यन्, योगायोगौ भिदाकरौ ॥ ७६ ॥

पूर्वोक्तावथवरूपकस्य भेदान् दर्शयन् प्रथममेकाङ्गरूपक-  
भेदमाह । भेदेति । एष जनो मङ्गलः रागमयः अनुराग-  
बङ्गलः अथ च लौहित्यमयः । एकाङ्गरूपकमिति रक्तनेत्रो-  
त्पलेनेत्यत्रैवारोपात्, मदपाटलगण्डेनेत्यत्र च तदभावादेका-  
ङ्गमात्ररूपणेनेदमेकाङ्गरूपकाख्यम् । एवमिति अत्र द्विप्रस्त-  
तीत्यङ्गान्येवं रूपयन्ति, तेन च द्वाङ्गरूपकं व्यङ्गरूपकमित्या-  
दीनि नामान्यवथवरूपकस्य इयानि । तेषु च विशेषावाह,  
योगायोगौ भिदाकराविति, योग आरोग्यमाणानां परस्परं  
युज्यमानः सम्भवः, आयोगस्तदभावः तौ भिदाकरौ भेदकौ,  
द्विप्रस्तवङ्गारैपेषु आरोग्यमाणानां परस्परसम्भासम्भाभार्यां  
युक्तरूपकमयुक्तरूपकमिति च भेदद्वयमित्यर्थः ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

स्मितपुष्पोऽज्ज्वलं लोलनेत्रमुङ्गमिदं मुखम् ।

इति पुष्पद्विरेफाणा सङ्गत्या युक्तरूपकम् ॥ ७७ ॥

तत्र प्रथमं युक्तरूपकमुदाहरति । स्मितेति । स्मितमेव  
पुष्पं तेजोऽज्ज्वलं, लोलनेत्रे एव भृङ्गी यज्ञ तत् । अत्र मुख-

स्त्रावयवयोरेव स्मितनेचयोः पुष्टभृज्ञाभिष्ठतया रोपणादवय-  
वरूपकम् । अवयवत्स्त्राधेयत्वं, तथात्मस्य स्मितस्य विद्यत एव ।  
इतीति, पुष्टद्विरेफाणां सङ्गत्या सम्भवता परत्यरयोगेन पुष्टेषु  
द्विरेफाणां समन्वयस्य युक्तत्वेनेत्यर्थः युक्तरूपकनामकमिदम् ॥

॥ ७३ ॥

इदमार्द्धस्मितज्योत्त्वं स्त्रिधनेत्रोत्पलं मुखम् ।  
इति ज्योत्स्नोत्पलायोगादयुक्तं नाम रूपकम् ॥ ७८ ॥

अयुक्तरूपकमुदाहरति । इदमिति । आर्द्धं सरसं स्मित-  
मेव ज्योत्स्ना यत्र तत् । ज्योत्स्नोत्पलायोगादिति, ज्योत्स्नोत्प-  
लयोरारोप्यमाणधेरयोगात् उत्पले ज्योत्स्नायोगस्थाभावाद-  
युक्तरूपकमिदम् ॥ ७९ ॥

रूपणादङ्गिनोऽङ्गानां रूपणारूपणाश्रयात् ।  
रूपकं विषमं नाम लिलितं जायते यथा ॥ ८० ॥  
मद्रक्तकपोलेन ममथस्त्वमुखेन्दुना ।  
नर्तितभूलतेनालं मर्दितुं भुवनत्रयम् ॥ ८० ॥

विषमरूपकमाह । रूपणादिति । अङ्गिनोरूपणात्, तथा  
अङ्गानां रूपणारूपणाश्रयात् कस्यचिदङ्गस्य रूपणात् कस्य-  
चिदरूपणात्यर्थः । आश्रयपदं भावसाधितम् । एवं रूपणा-  
रूपणरूपवैषम्यादिषमरूपकमिदम् ॥ ८१ ॥

उदाहरति । मदरकेति । मुखेन्दुनेत्यत्र मुखस्थाङ्गिनोरु-  
पणम् । अङ्गयोरु धूकपोलयोर्भव्ये भुवोरुपणं, कपोलस्थारुप-  
णमिति वैषम्यम् ॥ ८० ॥

हरिपादः शिरोलग्नजङ्गुकन्याजलाशुकः ।

जयत्यसुरनिःशङ्कसुरानन्दोत्सवध्वजः ॥ ८१ ॥

विशेषणसमयस्य रूपं केतोर्धटीदग्म ।

पादे तदर्पणादेतत् सविशेषणरूपकम् ॥ ८२ ॥

सविशेषणरूपकमाह । हरिपाद इति । शिरः पादस्य ध्व-  
जस्य चायभागः, तत्र लग्नं जङ्गुकन्याया मन्दाकिन्या जलमेवां-  
शुकं चेतपटाञ्चलं यस्य सः । असुरेभ्यो निःशङ्का बलिदमना-  
न्निर्भया ये सुरास्तेषामानन्दोत्सवस्य ध्वजः केतुर्दर्वीमनस्य  
पादो वामचरणः ॥ ८१ ॥

विशेषणेति । विशेषणसमयस्य विशेषणविशिष्टस्य, केतोर्ध-  
जस्य, विशेषणञ्चाच शिरोलग्नेत्यादि असुरनिःशङ्केत्यादि च ॥  
॥ ८२ ॥

न मीलयति पद्मानिं न नभोऽप्यवगाहते ।

तन्मुखेन्दुर्माघ्नां द्वरणायैव कर्त्तयते ॥ ८३ ॥

अक्रिया चन्द्रकार्याणामन्यकार्यस्य च क्रिया ।

अत्र सन्दर्भते यस्मादिरुद्धं नाम रूपकम् ॥ ८४ ॥

विरुद्धरूपकमाह । नेति । मानिनों प्रति नायकस्याक्रि-

रियं । न मोहयति न सहोषयति । अस्मां चरचायैवेति  
विग्रसमोहीपकलादिति भावः । कल्पत इत्यत्र यथातोति  
कचित्पाठः, यस्ति यतते ॥ ८३ ॥

अक्रियेति । चक्रस्यारोषमाणस्य कार्याणि पश्चमीस्तन-  
नभोऽवगाइनादीनि, अन्यस्यारोषमाणचक्रभिक्षुस्य यमस्य का-  
र्यमसुहरणहृपम् । विहद्गमिति, उपमानाभिक्षुतया हृपि-  
तस्योपमेयस्योपमानकार्यकरणमेवोचितं तदकरणात् प्रत्युत  
तदन्यकार्यकरणात् विरोधप्रतिभाषादिहद्गमिदं, विरो-  
धश्चाचानौचित्यहृपः ॥ ८४ ॥

गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः ।  
कामदलाच्च लोकानामसि त्वं कल्पपादपः ॥ ८५ ॥  
गाम्भीर्यप्रमुखैरत्र हेतुभिः सागरोगिरिः ।  
कल्पद्रुमस्य कियते तदिदं हेतुहृपकम् ॥ ८६ ॥

हेतुहृपकमाह । गाम्भीर्येति । गाम्भीर्यमज्जाभ्याशयत्वं,  
गौरवं सारशालित्वं । लृतीया पञ्चनी चाच हेतौ ॥ ८५ ॥  
गाम्भीर्यप्रमुखैरिति । कियते प्रस्तुते राजनि आरोषते,  
अत्र गाम्भीर्यादिसाधारणधर्माणां हेतुतयोपादानेन समु-  
द्राद्यारोपणाद्वेतुहृपकमिदं । विश्वनाथादयस्तु एकस्य प्रस्तु-  
तस्य गाम्भीर्यादिविषयमेदेनानेकधोऽस्त्रेष्वादुप्लेष्वालङ्घारोऽयमि-  
त्वाजः ॥ ८६ ॥

राजहंसोपभोगार्हं भमरप्रार्थसौरभम् ।

सखि ! वक्षाम्बुजमिदं तवेति स्तिष्ठृपकम् ॥ ८७ ॥

स्तिष्ठृपकमाह । राजहंसोपभोगार्हमिति । राजहंसानृ-  
पत्रेष्टः पच्चिविशेषस्य, भमरः कामुकोभृङ्गस्य । “राजहंसस्तु  
कादम्बे कलहंसे नृपोन्नतम्” इति । भमरः कामुके भृङ्गे इति  
च मेदिनी । स्तिष्ठृपकमिति साधारणधर्मस्य श्लेषनिष्पन्नत्वा-  
दिति भावः । साधारणधर्मप्रयोगाच्चात्र वक्षमम्बुजमिवेत्युप-  
मितिसमाप्ताभावात्मोपमाशङ्का ॥ ८७ ॥

इष्टं साधर्म्यवैधर्म्यदर्शनाद्गौणमुख्ययोः ।

उपमाव्यतिरिक्ताख्यं रूपकदितयं यथा ॥ ८८ ॥

अथमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमाः ।

सम्भवोदयरागस्य मुखस्य प्रतिगर्जति ॥ ८९ ॥

चन्द्रमाः पीयते देवैर्मया त्वन्मुखचन्द्रमाः ।

असमयोऽप्यसौ शशदयमापूर्णमण्डलः ॥ ९० ॥

उपमारूपकव्यतिरिक्तपके कमेणाह । इष्टमिति । गौणः

गुणसमन्वादारोप्यमाणस्यादिः, मुख्य आरोपविषयो मुखा-  
दिः, तयोः साधर्म्यदर्शनादुपमारूपकं वैधर्म्यदर्शनाङ्गतिरिक-  
त्तपकस्य इष्टं कविभिरभिलिपितम् । कमेणादाहरति । यथे-  
ति । अथमिति मदेन मस्तपानेन आलोहितच्छायः किञ्चि-  
त्तोहितकाञ्जिः । सम्भवः रुद्रकुदयराग उदयकालीनलोहितं

अस्य, तस्य चन्द्रस्य प्रतिगर्जति समानरागवच्चात् स्पर्हते न तु  
सदृशीभवतीत्यर्थः, तथा सत्युपमाया विश्रान्तिधामतया प्राधा-  
न्यात् तथा निगीर्लस्य मुखचन्द्रमा इत्यत्र सतोऽपि रूपवैचिचस्य  
व्यपदेशकलाभावेन भेदकरणानौचित्यात् चन्द्राभिनं मुखं  
चन्द्रसदृशमिति प्रतीत्यसङ्गतेष्व । वसुतस्तु, रक्तं तत्र मुखं  
चण्ड मात्तात् सन्ध्येन्दुमण्डलमित्युदाहरणमस्य बोध्यम्, अत्र  
रक्तत्र मुख्यगौणयोर्मुखेन्दुमण्डलयोः साधर्म्यमित्युपमारूपक-  
मिदं । न चोपमाया अप्रतीतौ कथमुपमारूपकमितिसमाख्या-  
लाभ इति वाच्यं, तस्य रूपरूपकयोः साधर्म्यसङ्गावरूपतया  
पारिभाषिकलात् । चन्द्रमा इति । असौ देवैः पीयमान-  
चन्द्रः शश्वदसमयोऽसम्पूर्णः, अयं यथा पीयमानस्वन्मुखचन्द्र-  
माः पुनः शश्वदापूर्णमण्डल इति मुख्यगौणयोर्मुखचन्द्रमसोः  
सम्पूर्णतापूर्णतरूपवैधर्म्यप्रयोगाद्वितिरेकरूपकमिदं व्यतिरेक-  
व्यतिरेकवाच्यं, सादृश्यप्रतीतिपूर्वकभेदपर्यवसानाभावात् यथा  
वच्यति । शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वसुनोर्दयोः । तत्र  
यद्देवकथं व्यतिरेकः स उच्यते इति ॥ ८८ ॥ ८८ ॥ ८० ॥

मुखचन्द्रस्य चन्द्रत्वमित्यमन्योपतापिनः ।

न ते सुन्दरि ! संवादोत्येतदात्तेपरूपकम् ॥ ८१ ॥

आचेपरूपकमाह । मुखचन्द्रस्येति । इत्यमितिपदं वाक्य-  
स्यास्य कमलमङ्गोचनहृतचन्द्रनिन्दाबोधकवाक्यानन्यं सूच-

यति । इत्यं कमलसहोचनेन अन्योपतापिनः परपीडयितुः, यदा इत्यमेवमतिनिर्द्यमेवेत्यर्थः, अन्योपतापिनो मादृशविरहिजनतापकस्य चक्रस्य चक्रलं तत्र मुखचक्रस्य न संवादि न द्युज्यते सर्वेषामाङ्गादकलेन परपीडकधर्माधासायोगादिति भावः । विलक्षणमेवेदं लक्ष्मुखचक्रस्य चक्रलमित्यर्थः । आचेपरूपकमिति आचेपः प्रतिषेधोक्तिः तदुपादाननियतत्वादाचेपरूपकमिदं । न चायं व्यतिरेकः सादृशप्रतीत्यभावात्, नायपङ्कुतिः प्रसुतस्थानिषेधात् चक्रलस्यारोथमाणतया प्रसुतत्वाभावात् ॥ ८१ ॥

मुखेन्दुरपि ते चण्डिः मां निर्द्वृति निर्द्यम् ।  
भाग्यदोषाक्षमैवेति तत् समाधानरूपकम् ॥ ८२ ॥

समाधानरूपकमाह । मुखेन्दुरपीति । अपिना निर्द्वृतस्यात्यनायोग्यत्वं सूचितं । तत्र स्वयं समाधत्ते भाग्यदोषाक्षमैवेति न इष्टप्रटनघटनायां भाग्यस्यातिभार इति स्वयमुत्त्यापितानुपर्णिसमाधानसहकृतत्वात् समाधानरूपकमिदम् ॥ ८२ ॥

मुखपङ्कजरङ्गेऽस्मिन् भूलतानर्तकी तत्र ।  
लीलानुत्यं करोतीति रस्यं रूपकरूपकम् ॥ ८३ ॥

रूपकरूपकमाह । मुखपङ्कजेति । मुखमेव पङ्कजं तदेव रङ्गो नाश्यात्य इति समापद्यम्, एवं भूरेव लता सैव नर्त-

कीति । रूपकरूपकमिति एकेन रूपितशास्यपरेण रूपणा-  
दिति भावः । यथा प्रथमं मुखस्य पद्मजलेन रूपणं ततस्य रङ्ग-  
लेन रूपणमिति एवं भूलतानन्तर्कीत्यचापि, इतच्च समाप-  
गतमेव, व्यासे तु एकस्य बङ्गभीरूपणे हेतुरूपादाने गाम्भीर्येण  
समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वत इत्यादौ हेतुरूपकं पूर्वमुक्तं  
तदनुपादाने मालावयविरूपकमिति । यथा सौन्दर्यस्य तर-  
क्षिणी, तरणिमेत्कर्षस्य दर्शाङ्गमः, कान्तेः कार्बणेकर्षः, नर्मर-  
हस्यामुक्तासनावासभृः । विद्या वक्तिगिरां, विधेरनवधिप्रावीष्य-  
साचात्क्रिया, वाणाः पञ्चशिलोमुखस्य, लक्ष्मानाचूडामणिः सा  
प्रिया, इति । रस्यमिति, यत्र बङ्गभीरूपणे रस्यता न भवति  
तत्र नेदं यथा, नागीवाङ्गलताव्याक्तोपरिरञ्चः, कुतः सुखो-  
त्यादि, अत्र वाहौ लतात्वारेषो न कापि रस्यता, अपकर्ष-  
प्रतिपादनस्येव प्रस्तावात्, प्रकृते तु मुखस्य पद्मजलारेषोत्कर्ष-  
प्रतिपादनं युक्त्यत एव ॥ ८३ ॥

नैतमुखमिदं पद्मं न नेत्रे भ्रमराविमौ ।  
एतानि केसराण्येव नैता दलार्चिषस्त्व ॥ ८४ ॥  
मुखादित्वं निवत्यव पद्मादित्वेन रूपणात् ।  
उद्घावितगुणोत्कर्षं तत्त्वापङ्गवरूपकम् ॥ ८५ ॥

तत्त्वापङ्गवरूपकमाह । नैतदित्यादि । मुखादित्वं मुखत्वा-  
दि, निवर्त्तेव प्रतिषिद्धैव, पद्मादित्वेन पद्मतादिना प्रस्तुतस्य  
रूपणात् उद्घावितः रूपकान्तरेभ्यः स्फुटतया व्यञ्जितोगुणो-

त्वर्षः तादाक्षारोपहेतुप्रस्तुतगुणाधिकं यत् तत्, अतएवेदं  
तत्त्वस्य प्रस्तुतखल्पसापङ्गवेनाप्रस्तुतखल्पपारोपात्तचापङ्गव-  
रूपकं, रूपकाल्परेषु सामानाधिकरणादिना उपमेयस्योपमा-  
नाभिज्ञतया प्रतिपादनाद् यावान् गुणोत्तर्षः अत् तु प्रति-  
षेधपूर्वकारोपेण ततोऽप्यधिक इति सहृदयमवेद्यं । न चापङ्गु-  
तिरेवेयं धर्मिंधर्मगतलेन द्योर्विभवित्विषयत्वात्, रूपके च्छमिन्  
प्रस्तुतस्य धर्मिणः प्रतिषेधेन धर्मज्ञतरारोपः, अपङ्गुत्यान्तु  
प्रस्तुतस्य धर्मप्रतिषेधेन धर्मान्तरारोप इति । विभागस्याय-  
मुदाहरणदर्शनादवसीयते, तथाहि रूपकेऽस्मिन् नैतन्युखमिदं  
पद्ममित्यादौ मुख्यादेर्धर्मिणः प्रतिषेधेन धर्मज्ञतरस्य पद्मादे-  
रारोपः, न पञ्चेषुः स्मरस्य सहस्रं पञ्चिणामितीयपङ्गुत्यु-  
दाहरणे स्मरस्य धर्मिणः पञ्चवाणताधर्मे प्रतिषिध्य सहस्र-  
वाणतारूपधर्मान्तरारोप इति बहवः । अन्ये तु सादृश्यप्रतीति-  
पूर्वकारोपेषारूपकम्, अपङ्गुतिस्तु न तथा, प्रकृते प्रतिषेधेऽपि  
सादृश्यप्रतीतिरस्यवेत्याङ्गः । न चास्तुभयचायपङ्गुतिमेव वदन्ति  
सत्यपङ्गवे रूपकायोगात्, अतएव दर्पणकृता, रूपकं रूपि-  
तारोपाविषये निरपङ्गवे इति निरपङ्गवेति विषयविशेषण-  
मुपन्यस्तम् ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

न पर्यन्तोविकल्पानां रूपकोपमयोरतः ।  
दिक्षाचं दर्शितं धीरैरनुकृतमनुभीयताम् ॥ ८६ ॥  
॥ इति रूपकचक्रम् ॥

रूपकमुपमंहरति । न पर्यन्त इति । विकस्याः किञ्चिद्दै-  
चित्रमालक्ष्य भेदकल्पनाः तेषां पर्यन्तः शेषसीमा । अनुक-  
मिति तथा हि परम्परितमपि रूपकभेद एव यथोक्तं प्रका-  
शकृता, नियतारोपणोपायः स्थादारोपः परस्य यः । तत्  
परम्परितं ज्ञाने वाचके भेदभाजि वेति । ज्ञानवाचके यथा “वि-  
द्वान्महंमदैरिकमलासङ्गोचदीप्तद्युत” इत्यादि, भेदभाजि  
यथा “आलानं जयकुञ्जरस्य दृशदां मेतुर्विपदारिधे�ः”  
इत्यादि । इदम्बाधिकारूपैश्चित्यमपि । यथा, “इदं वक्तं  
साक्षाद्विरहितकलङ्घः शशधर” इत्यादि । किञ्चिद्दैयधिकर-  
णेऽपि यथा, विदधे मधुपश्चेणीमिह भूलतया विधिरिति ।  
किञ्चिद्दैधर्म्येऽपि, यथा, मौजन्यामुमहस्यली, सुचरितालेख्य-  
द्युभिन्नि, गुणज्योत्स्नाकण्ठतुर्दशी, शरसतायोगश्चपुच्छच्छटा ।  
यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली मेविता तेषां शूद्रलि-  
नि भक्तिमाचसुलभे मेवा कियत् कौशलमित्यादि । एवम्भेदेपि  
भेदा नवीनैरुद्धाविता ज्ञातव्याः । मितेनोपायनं दूरदागतस्य  
कृतं मम । स्तनोपपीडमाद्येयः कृतोद्यूते पणस्येत्यादौ नवीनै-  
रुद्धीकृतः परिणामस्तु न रूपकेष्वन्नर्भवितुमर्हति गौणलक्षणा-  
मूलकत्वाभावात् रूपकस्य च तन्मूलकत्वस्य प्रतिपादितवात्  
तस्मादतिरिक्त एवायमलङ्घारः वैवित्रविशेषस्य स्फुटं प्रतीय-  
मानत्वादित्यवधेयम् ॥ ८६ ॥

जातिक्रियागुणाद्रव्यवाचिनैकत्र वर्जिना ।

सर्ववाक्योपचारस्येत् तमाङ्गर्दीपकं यथा ॥ ८७ ॥

अथ दीपकं सत्यति । जातीति । एकत्र वर्त्तना प्रवन्धघटके कस्मिंश्चिदेकस्मिन् आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये स्थितेन जाति-क्रियागुणद्रव्यवाचिना जात्याद्यन्तमवाचकेन पदेन यदि स-वर्वाक्योपकारः स्वार्थदारा वाक्यान्तरार्थान्वयस्योपपत्तिभवति, तदा तदीपकम्, एकान्तःपातिनोऽपि दीपवदाक्यान्तरोदीपक-लादीपकार्यमलङ्घारभाङ्गरित्यन्वयः । दीपो यथा एकदेश-स्थितोऽपि देशान्तरीयपदार्थान् दीपयति तर्यैकवाक्यगतमपि जात्याद्यन्तमवाचकपदं काकाचिन्वायेनानुष्ठेण तदादि-सर्वनाम्ना चकारादिना वा वाक्यान्तरे परामृष्टं सत् स्वार्थ-दारा तदर्थान्वयं सम्यादयतीति । इत्यञ्चैकवाक्योपात्तपद-प्रतिपाद्यस्य जात्याद्यन्तमस्य तत्रैव जनितान्वयतया निरा-काङ्गस्यापि पुनरनुष्ठङ्गादिना वाक्यान्तरार्थान्वितबं दीपक-मिति निर्गतिर्थात्, अतएवास्यार्थालङ्घारतं यथा श्रुतान्वये शब्दालङ्घारता स्यादिति बोध्यं । प्रस्तुताप्रस्तुतयोरेकधर्मस-स्वन्धरूपमपरैरङ्गोऽहतं दीपकमयनेकवाक्यगतत्वे निरुक्तदी-पकलचण्डचित्तमेव यथा, “किवणाणं धणं णाच्चाणं फण-मणी केसराणं सोहाणं ॥ कुलवालिष्णाणं त्यणच्चा कुतो चेष्णनि अमिष्णाणं” इत्यादौ । एकवाक्यगतत्वे तु भिन्नप्रकार-मेव तदिति बोध्यम् । एवमुपमारूपकर्योः साधारणधर्मस्था-भयान्वयित्वेऽप्यनुष्ठङ्गादिपरामृष्टपदोपस्थायत्वाभावान्वातिव्या-प्तिः । सर्ववाक्योपकार इति जात्यादिपदं यस्य वाक्यस्थान-र्गतं यत्र च परामृष्टं तयोर्द्वयोर्वाक्ययोरुपकार इत्यर्थः ।

एतेन चैकस्मिन् वाक्येऽस्य न सङ्घाव इति सुचितम् ॥ ८७ ॥

पवनोदक्षिणः पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम् ।

स एवावनताङ्गीनां मानभङ्गाय कल्पते ॥ ८८ ॥

एवं जात्यादिगतत्वेन चतुर्विधेऽस्मिन् प्रथमं जातिगत-  
मुदाहरति । पवन इति । जीर्णमित्यनेन पवनस्य मान्यं सुचि-  
तम् । अत्र पूर्ववाक्योपात्तस्य पवनस्यात्तरवाक्ये म एवेति  
तच्छब्देन परामर्शः, तेनैव च तदर्थान्वयनिर्बाहः । पवनश-  
ब्दस्य बज्ज्वलिक्वाचकलाज्ञातिवाचक इति जातिदीपकमि-  
दम् ॥ ८८ ॥

चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दण्डिनः ।

चक्रवालाद्विकुञ्जेषु कुन्दभासोगुणाश्व ते ॥ ८९ ॥

कियादीपकमुदाहरति । चरन्तोति । चक्रवालाद्विक-  
रिणः । चक्रवालाद्विलोकासोकाचलः । कुन्दभासः शुक्राः,  
गुणा यशांमि । तत्र यशांमि ब्रह्माण्डव्यापकानीर्यार्थः । अत्र च-  
कारेण परामृष्टायाः पूर्ववाक्यगतचरन्तोतिकियाया उत्त-  
रवाक्यगतेन गुणा इत्यनेनाप्यन्वय इति कियादीपकमि-  
दम् ॥ ८९ ॥

श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशोजोमूतपङ्किभिः ।

भुवस्य सुकुमाराभिर्नवशाह्वराजिभिः ॥ १०० ॥

गुणदीपकमुदाहरति । आमला इति । प्रावृषेष्ठाभिः  
प्रावृड्भवाभिः । प्रावृष एन्य इत्येन्यप्रत्ययः । नवशाङ्कुरारा-  
जिभिः नवहणहरितोङ्कतप्रदेशैः । अत्रापि सुवस्त्रेति चका-  
रेण पूर्ववाक्यगतस्य आमला इति गुणवाचकपदस्य परामर्श  
इति गुणदीपकमिदम् ॥ १०० ॥

विष्णुना विक्रमस्थेन दानवानां विभूतयः ।  
क्वापि नीताः, कुतोऽप्यासन्नानीता दैवतर्द्धयः ॥ १०१ ॥

इत्यदीपकमुदाहरति । विष्णुनेति, विक्रमस्थेन पादवि-  
क्षेपं कुर्वता, दानवानां बलिप्रभृतीनां । दैवतर्द्धय इत्त्रा-  
दीनां श्रियः कुतोऽप्यानीता आसन्नित्यन्वयः । अत्र विष्णो-  
रेकलादिष्णुनेति इत्यपदं तस्य चोच्चरवाक्ये काकाचिन्याया-  
दनुषङ्गादा परामर्श इति इत्यदीपकमिदम् ॥ १०१ ॥

इत्यादिदीपकान्युक्तान्येवं मध्यान्तयोरपि ।  
वाक्ययोर्दर्शयिष्यामः कानिचित्तानि तद्यथा ॥ १०२ ॥

एवं जात्यादिचतुष्टयगतवेन चतुर्विधस्यास्य पुनरपि आ-  
त्यादिपदानामादिमध्यान्तवाक्यगतत्वात् चैविष्णं दर्शयन्नाह ।  
इत्यादीति । इत्येषु चतुर्षु पूर्वस्थोकेषु आदिदीपकान्युक्तानि  
परामृश्यमानजात्यादिपदानामादिवाक्यनिवेशितत्वात् । एव-  
मित्यादि एवम्, आदिवाक्य इव मध्यान्तयोरपि वाक्ययो-  
र्दीपकानि कानिचिदर्दर्शयिष्यामः, कानिचिदिति यन्मवाङ्गस्य-

भिया नतु सर्वाणीत्यर्थः । तद्येति तानि यद्यत्यर्थः, तत्के-  
षाच्छिद्दर्शनं यथेति वा ॥ १०२ ॥

नृत्यन्ति निचुलोत्सङ्गे गायन्ति च कलापिनः ।  
बध्नन्ति च पयोदेश् दशाहर्षाश्रुगर्भिणीः ॥ १०३ ॥

नृत्यन्तीति । निचुलः स्यलवेतमद्गुमः तस्योत्सङ्गे तल्लप्रदेशे ।  
गायन्ति केकाघनिं कुर्वन्ति । हर्षाश्रुगर्भिणीरानन्दाश्रु-  
पूर्णाः । अत्र कलापिन इति जातिपदं चकारेण वाक्यान्तर-  
ेऽपि परामृष्टं, तत्र मध्यवाक्यगतमिति जातिगतं मध्यदीपक-  
मिदम् ॥ १०३ ॥

मन्दोगन्धवहः द्वारो, वक्षिरिन्दुश्च जायते ।  
चर्चाचन्दनपातश्च शस्त्रपातः प्रवासिनाम् ॥ १०४ ॥

मन्द इति । चारः चाररसोद्धारी क्षेशकर इत्यर्थः । चर्चा  
सजलवस्त्रनां विच्छेपः तद्रूपश्चन्दनसम्यातः । अत्र जायत इति  
मध्यवाक्यगतया क्रियया सर्ववाक्यदीपनमिति क्रियागतं मध्य-  
दीपकमिदं, किञ्चाच रूपकमपि, तदनयोः सङ्करः । एवं  
स्नोकदद्येन जातिगतं क्रियागतश्च मध्यदीपकमुदाहृतं, गुण-  
द्रव्यगतम् मध्यदीपकं स्थितमृहसीयम् । क्रमेण यथा, “तडि-  
द्विर्वारिवाहाणां योगः, स्त्रीभिः प्रवासिनाम् । सताभिः पाद-  
पानाश्च समायाते घनागमे” इति । अत्र योगः संयोगः  
सच गुणः, मध्यवाक्यगतेन च तेन सर्ववाक्यदीपनाहुणगतं

मध्यदीपकमिदम् । “मुङ्गर्विश्वं संसूजति विभर्त्ति च मुङ्गर्हर्षिः ।  
मुङ्गश्च नाशं नयति बालकोडनकौतुको” इति । अत्र हरिर्द्वयं  
तच्च मध्यवाक्यगतमिति द्रव्यगतं मध्यदीपकम् ॥ १०४ ॥

जलं जलधरोऽग्नोर्णि कुलं गृहश्चिखण्डिनाम् ।  
चलच्च तडिनां दाम, वलं कुसुमधन्वनः ॥ १०५ ॥

अन्तदीपकमुदाहरति । जलमिति । वलं मैन्यं तच्च जाति-  
वाचकमन्तवाक्यगतस्त्रे सत् वाक्यत्रयेऽपि विधेयमिति जाति-  
गतमन्तदीपकमिदम् ॥ १०५ ॥

त्वया नीलोत्पलं कर्णे, स्मरेणास्त्रं श्वरासने ।  
मयापि मरणे चेत्, स्त्रयमेतत् समं कृतम् ॥ १०६ ॥

क्रियागतमन्तदीपकमुदाहरति । त्वयेति । मानिनों प्रत्य-  
क्षिरियम् । अत्र कृतमित्यन्तवाक्यगतं क्रियापदं वाक्यत्रये-  
ऽप्यन्वितमिति क्रियागतमन्तदीपकमिदम् । एवं गुणद्रव्यगतं  
स्त्रयमूहनीयं, कर्मण यथा, “इदमुञ्जाभ्यते विश्वं भानोस्त्रा-  
पयितुं जगत् । ममैव इदयं चण्ड मुखस्त्र तव लोहितम्” ॥  
अचान्तवाक्यगतं लोहितमिति गुणपदं वाक्यद्वयं दीपयति ।  
“सत्यं विश्वं सन्तपति सत्यं कर्षति वै रसान् । तमांसि तु निह-  
न्तोति प्रार्थनीयोदयो रविः” ॥ अत्र रविरिति द्रव्यपदं स-  
र्वाणि वाक्यानि दीपयति ॥ १०६ ॥

शुक्रः श्वेतार्चिषोवृद्धौ पत्तः, पञ्चशरस्य सः ।

स च रागस्य, रागोऽपि यूनां रत्नुत्सवश्रियः ॥ १०७ ॥

इत्यादिदीपकल्पेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेच्छणी ।

वाक्यमाला प्रयुक्तेनि तन्मालादीपकं मतम् ॥ १०८ ॥

इत्यं जात्यादिचतुष्टयस्यादिमध्यान्तवाक्यगतलेन द्वादशविधं दीपकं प्रदर्श्य तच्चैव किञ्चित्किञ्चिद्दृच्छित्राद्वावनेन प्रभेदान्तराणि दर्शयन् सम्प्रति मालादीपकं दर्शयति । शुक्र इति । शुक्रः पत्तः श्वेतार्चिषश्वन्दस्य वृद्धौ भवति, स शुक्रः पत्तः पञ्चशरस्य, स च पञ्चशरो यूनां रागस्य, स रागोऽपि तेषां रत्नुत्सवश्रिय इत्यन्ययः । सर्वत्र वृद्धौ इत्यस्यानुषङ्गः । इत्यादिदीपकल्पेऽपि वृद्धौ इत्यस्यानुषङ्गमानपदस्यादिवाक्योपान्तवादादिदीपकल्पसङ्गावेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेच्छणी स्वोपकारकलेन पृथ्वे पूर्वमपेच्छमाणा वाक्यमाला उत्तरोन्तरवाक्यसमूहः प्रदर्शका । इत्यतो वैचित्रादिदं मालादीपकं मतमित्यन्ययः, इत्यस्य पूर्वपूर्वसापेच्छोन्तरोन्तरवाक्येषु जात्याद्यन्तमपदानुषङ्गामालादीपकमिति स्वच्छणम् । तादृशानुषङ्गमानपदस्य सापेच्छवाक्यैकतमनिष्ठमेवेति न नियमः वाक्यान्तरगतेनापेतस्मवात् । अतएव प्रकाशहृता, संयामाङ्गनमागतेन भवता चापे समारोपिते देवाकर्णय येन येन महसा यद्यत् समामादितम् । कोदण्डेन शराः शरैररिघिरस्तेनापि भूमण्डलं तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्त्या च सोकचयम्, इत्यत्रामादितेति किं

यापदस्य निरपेक्षवाक्यगतलेऽपि मालादीपकमङ्गोङ्गतम् ॥  
॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अवलेपमनङ्गस्य वर्द्धयन्ति वलाहकाः ।  
कर्शयन्ति तु घर्षस्य मारुतोङ्गूतशीकराः ॥ १०९ ॥  
अवलेपपदेनाच वलाहकपदेन च ।  
क्रिये विहङ्गे संयुक्ते, तदिरुद्धार्थदीपकम् ॥ ११० ॥

विहङ्गार्थदीपकमाह । अवलेपमिति । कर्शयन्ति कृष्णं तु-  
र्बन्ति, घर्षस्य योग्यस्य, मारुतोङ्गूतशीकरा इत्युभयत्र हेतुः ॥  
॥ १०९ ॥

अवलेपेति । अवलेपपदेन वलाहकपदेन चेति वर्द्धनाकर्श-  
नाक्रिययोः कर्षभूतेन कर्षभूतेन चेत्यर्थः । क्रिये वर्द्धनाकर्शना-  
रुपे, विहङ्गे इति अत्रापिर्बाधाः, विहङ्गे अपि असमानाधि-  
करणे अपीत्यर्थः, संयुक्ते सामानाधिकरणं प्रापिते । अत्राय-  
मर्थः, निरुक्तियादयफलभूतौ दृढिरुद्धासौ विहङ्गावपि एक-  
स्मिन् कर्षणवलेपे वर्त्तमानौ वर्णितौ । एवं तत्पत्तिक्रिया-  
दयस्त्रैकस्मिन् कर्त्तरि वलाहके वर्णितमिति । समभिभेदाचा-  
वलेपस्य विरोधप्रश्नमनम् । विहङ्गक्रिययोश्चानयोरेकस्मिन्  
कर्षणि कर्त्तरि च समभेदं वैचित्रविशेषोपलभादिरुद्धार्थदी-  
पकमिदम् । इदम्भादिदीपकम् आदिवाक्यगतयोः कर्षकर्ह-  
पदयोरवलेपवलाहकयोरुत्तरवाक्येऽनुषङ्गात् । तदपि चाव-

सेपस्य गुणवाचकलाद्गुणगतं, वलाहकस्य जातिवाचकला-  
जातिगतञ्च तदनयोः सङ्करोऽयम् ॥ ११० ॥

हरत्याभोगमाशानां गृह्णानि ज्योतिषां गणम् ।  
आदत्ते चाद्य मे प्राणानमै जलधरावली ॥ १११ ॥  
अनेकशब्दोपादानात् क्रियैकैवाच दीप्तये ।  
यतो जलधरावल्या तस्मादेकार्थदीपकम् ॥ ११२ ॥

एकार्थदीपकमाह । हरत्याभोगमिति । आशानां दिशा-  
माभोगं विस्तारं । ज्योतिषां गणं यहनचत्रममूहम् ॥ १११ ॥  
अनेकेति । अनेकशब्दोपादानात् उपात्तैर्गतिगङ्गात्या-  
दत्त इति चिभिः पदैरुपस्थाप्त्यर्थः, वस्तुतस्तु अनेकशब्दो-  
पादानेति प्रथमान्त एव पाठः सम्यक्, अनेकैः शब्देरुपादान-  
मुपस्थापनं यस्याः सेत्यर्थः । एकैव अर्थतोऽभिन्नैः क्रिया  
जलधरावल्या अन्तवाक्यगतेन जलधरावसीतिकर्त् इन यतो-  
दीप्तये निर्वृद्धान्वयः क्रियते, तस्मात् अनेकपदप्रतिपाद्यस्या-  
येकार्थस्य दीपनादेकार्थदीपकमिदम् । अनेकक्रियाणामेक-  
कारकलरूपं नव्येरङ्गीहतं दीपकन्वितो भिन्नमेव, यथा दूरं  
समागतवति त्वयि जीवमाथे भिन्ना मनोभवश्चरेण तपस्त्रिणी  
सा । उत्तिष्ठति खण्डिति वास्तवं लदीयमायाति याति  
इमति श्वसिति चण्ड, इति । अत्रोत्यानादिक्रिया भिन्ना एव  
॥ ११२ ॥

हृदयगन्धवहास्तुङ्गास्तमालश्यामलत्विषः ।

दिवि भ्रमन्ति जीमूता भुवि चैते मतङ्गजाः ॥ ११३ ॥

अत्र धर्मीरभिन्नानामव्याणां दण्णिनां तथा ।

भ्रमणेनैव सम्बन्ध इति शिष्टार्थदीपकम् ॥ ११४ ॥

शिष्टार्थदीपकमाह । हृदयेति । हृदोऽनुद्भूतो गन्धवहो वा-  
युर्यत्र ते इति जीमूतविशेषणम् । हृदयं गन्धं मदसौरभं वह-  
नोति मतङ्गजविशेषणम् ॥ ११३ ॥

अत्रेति । धर्मीरभिन्नानामभिन्नधर्मवताम्, अभिन्नवज्ञ ध-  
र्माणामेकशब्द प्रतिपाद्यते वस्तुत एकहृष्पतवज्ञ, तत्र हृदयगन्धवहा  
इत्यत्र प्रथमम्, अत्यत्र दितीयं । भ्रमणेनैव सम्बन्ध इति सा-  
मान्यत्वात्तण्णमङ्गमनार्थमिदम्, भ्रमन्तोतिक्रियाया वाक्यद्वयेऽपि  
योजनात् । शिष्टार्थदीपकमिति शिष्टयोः शिष्टगद्वप्रतिपाद्य-  
धर्मवतोरर्थयोर्जीमूतमतङ्गजयोः कर्त्तार्भमन्तोति क्रियया दी-  
पनात् शिष्टार्थदीपकमिदं । श्वेषश्वात् शब्दस्तेषोऽर्थश्वेषश्व बोधः  
तत्र हृदयगन्धवहा इत्यत्र शब्दस्तेषः, अत्यन्तार्थक्षेपः ॥ ११४ ॥

अनेनैव प्रकारेण शेषाणामपि दीपके ।

विकल्प्यानामवगतिर्विधातव्या विचश्लेषः ॥ ११५ ॥

इति दीपकचक्रम् ।

दीपकमुपमहरति । अनेनैवेति । प्रकारेण वैचित्रविशे-  
षण । शेषाणामुकावशिष्टानां विकल्पानां भेदानां जात्या-  
दानां दिकादिगतत्वेन समलक्षीयकानामावलिसंपुटप्रभृतो-

नाशेत्यर्थः । तच्चावलिदीपकं यथा, लभकस्त्रं सोमस्त्रमभि  
पवनस्त्रं ऊतवहस्त्रमापस्त्रं व्योम लभु धरणिरात्मा लभिति च ।  
इत्यादि, अचासीति क्रियया वाक्यावलिदर्पिते । एवमन्यदपि  
श्चेयम् ॥ ११५ ॥

अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च ।

दीपकस्थान एवेष्टमलङ्कारचयं यथा ॥ ११६ ॥

अथ दीपकनिरूपणानन्तरं तत्त्वजातीयमावृत्यनङ्कारं नि-  
रूपयति । अर्थावृत्तिरिति । अर्थः वाक्यान्तरीयपदप्रतिपाद्यः, तस्यावृत्तिर्वाक्यान्तरे तदर्थकपदान्तरश्वरेण पुनरुपलभि-  
रित्येकः । तथा पदस्य वाक्यान्तरीयस्य आवृत्तिर्वाक्यान्तरे  
पुनरुच्चारणमिति द्वितीयः । एवमेकचेभयोरर्थपदयोरावृ-  
त्तिरिति द्वितीयः । इत्यलङ्कारचयं दीपकस्य स्थानं सम्भव एवे-  
ष्टम् । अयमर्थः यत्र वाक्यान्तरे तत्त्वपदस्य नुपादानेऽपि  
वाक्यान्तरीयपदस्यानुषङ्गादिनात्मयनिर्वाहादीपकसम्भवस्त्रैव  
तदर्थकपदान्तरस्य तत्पदस्यैव वा पुनरपादानेऽयमावृत्य-  
स्त्रङ्कार इति, एतेन पदावृत्तेयमकादावतिप्रसङ्गः परिहृतः  
तत्र द्वितीयपदानुपादाने वाक्यान्तरीयपदानुषङ्गस्यायोग्यतेन  
विवक्षितात्मयानुपपत्तेः, द्योग्यते वा निरुक्तविषयगतत्वनियमे  
नास्थापवादतया तङ्काधकत्वादित्यवगत्याच्य । दीपकस्थानमें-  
वेष्टमिति पाठे हु दीपकस्य स्थानं स्थितिः सम्भवो यत्रेति  
समाप्तः । भोजराजस्तु “चिविधायावृत्तिर्दर्पिकस्यैव भेद”

इत्याह । यथा दीपकभेदप्रस्तावे, “अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभ-  
यावृत्तिरावलो । संपुटं रमना माला चकवालस्त्र तद्विदा”  
इति । एतन्मते वाक्यान्तरीयपदपदार्थयोर्वाक्यान्तरेऽनुष्ठान-  
दिना वा साक्षात्पुनःप्रयोगेण वाऽवगमोदीपकमिति । अत्रा-  
वृत्तिरर्थपदयोः पुनरावर्त्तनमित्यावृत्तिपदस्य योगार्थं एव  
सुच्छणमवगन्तयम् ॥ ११६ ॥

विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजद्रुमाः ।  
उन्मोलन्ति च कन्दल्यो दलन्ति ककुभानि च ॥ ११७ ॥

कमेणावृत्तिचयमुदाहरति । विकसन्तीति । कदम्बानि  
कदम्बमुकुलानि एवमन्यत्र । कन्दल्योगुल्मभेदाः, कन्दलीश-  
वस्य इरोतक्यादिपाठात् प्रसवेऽपि स्त्रीतं । ककुभान्यच्छुन-  
वृचमुकुलानि । प्रावृषीत्यधिकरणमत्र वाघम् । अत्र विक-  
सन्तीत्यादिक्रियाचतुष्टयं विभिन्नस्त्रपमयेकार्थमेवेत्यर्थसैवा-  
वर्त्तनादर्थावृत्तिरियम् ॥ ११७ ॥

उत्कण्ठयति मेघार्चा माला वृन्दं कनापिनाम् ।  
यूनाच्चात्कण्ठयत्येष मानसं मकरध्वजः ॥ ११८ ॥

उत्कण्ठयतीति । कल्पापिनां वृन्दमुत्कण्ठयति स्त्रदिवृत्या  
उद्गीवं करोति । यूनां मानसमुक्तण्ठयति मेघस्योदीपकलादु-  
स्तुकं करोति । अत्र पदमात्रसैवावृत्तिर्मत्वर्थस्य, दयोर्विभिन्ना-  
र्थकलात् ॥ ११८ ॥

जिला विश्वं भवानत्र विहरत्यवरोधनैः ।  
विहरत्यस्तरोभिस्ते रिपुवर्गो दिवं गतः ॥ ११८ ॥

जिलेति । अवरोधनैरन्तःपुरिकाभिः । दिवं गत इति  
युद्धमरणादिति भावः । अत्र विहरतीति पदस्य तदर्थस्य चा-  
न्तरवाक्ये आवृत्तिः, वाक्यहयेऽपि इयोरेकार्थलादित्युभया-  
वृत्तिः, नच तथाते कथितपदवदोषापात् इति वाच्यं त-  
स्योद्देश्यप्रतिनिर्देश्यतिरिक्तविषयलात्, उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यता-  
यान्तु प्रत्युतैकशब्दप्रयोगस्यैव युक्तलात् । यथा उदेति सविता  
तास्त्वात् एवास्तमेति चेत्यादि । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यत्वम्, एको-  
द्देशेन विधेयस्य उद्देश्यान्तरेऽपि विधेयत्वम्, एकविधेयसमु-  
द्दिष्टस्य विधेयान्तरेऽप्युद्देश्यत्वं, एकविधेयसमुद्दिष्टस्य उद्देश्या-  
न्तरे विधेयत्वमिति चिविधम्, प्रकृते च राजोद्देशेन विधेयस्य  
विहरणस्य रिपुवर्गोद्देशेनापि विधेयत्वमित्युद्देश्यप्रतिनिर्देश्यत-  
मिति युज्यत एवैकशब्दप्रयोगः ॥ ११९ ॥

इत्यावृत्तिगणः ।

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकान्त्यपेशया चिधा ।

अथास्य पुनराक्षेपस्त्रैकान्त्यादनन्तता ॥ १२० ॥

अथाक्षेपं लक्षयति । प्रतिषेधोक्तिरिति । प्रतिषेधस्य उक्ति-  
हक्तिमात्रं नतु वस्तुतः प्रतिषेधः तान्त्रिकप्रतिषेधस्य वैचित्रा-  
जनकवेनास्त्रारत्वाभावात्, प्रतिषेधाभास आक्षेप इत्यर्थः,

प्रतिषेधोक्ति श्व विशेषविवक्षानिबन्धनेति बोध्यं तत एव हि वै-  
चित्रातिशयः, प्रतिषेधश्व इष्टार्थस्यैव अनिष्टप्रतिषेधे वैचित्राभा-  
वात्, सर्वच्छैतदुक्तमाग्रेये । यथा, प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषा-  
भिधिस्या । तमाचेपं ब्रुवन्तीति । उक्तिरिति प्रतिपादनमि-  
त्यर्थः, नतु वाचकशब्देनाभिधानं, व्यञ्जनादिनापि प्रतिषेध-  
प्रतीतेराचेपवाभ्युपगमात् । अन्याध्यवसानाभावाक्षास्यापङ्कुता-  
वतिप्रसङ्गः । स चाचेपस्त्वैकाल्यापेत्यथा प्रतिषिध्यमानचैकालि-  
कवस्तुगतवेन वृत्तवर्त्तमानवर्त्तियमाणवस्तुनां प्रतिषेधप्रति-  
योगितेनेत्यर्थः, प्रथमं चिधा भवति । नव्यामु प्रतिषेधकर्त्तुः  
खोक्तस्ववक्ष्यमाणयोरेव प्रतिषेधोक्तिराचेपे न वस्तुमामान्य-  
स्येत्याङ्गः । चैविद्यच्छैतत् स्यूलभेदहृष्ट्या, वस्तुतस्वस्यामङ्गेयत्वमे-  
वेत्याह । अथेति, आचेयाः प्रतिषेधासेपां भेदा धर्मधर्मिका-  
र्यकारणादयस्तेषामानन्यादनन्तप्रतियोगिकस्याप्याचेपस्य पुन-  
रनन्तता अमङ्गेयत्वमित्यन्यथः ॥ १२० ॥

अनङ्गः पञ्चभिः पुष्पैर्विश्वं व्यजयतेषुभिः ।

इत्यसम्भाव्यमयवा विचित्रा वस्तुशक्तयः ॥ १२१ ॥

इत्यनङ्गजयायोगवुद्दिव्वित्तुबलादित्व ।

प्रवृत्तैव यदाच्चिप्ता वृत्ताचेपः स ईदृशः ॥ १२२ ॥

क्रमेण चिविधमाचेपमुदाहरति । अनङ्ग इति । पुष्पैरर-  
विन्दादिभिः, यदुक्तम्, ‘अरविन्दमशोकश्च चूतश्च नवम-  
लिका । मीलात्पलश्च पञ्चते पञ्चवाणस्य सायका’ इति । अस-

आव्यमिति अनुपपत्त्या अविश्वसनीयमित्यर्थः, तथा हि विजेता तावदङ्गरहितः, वाणास्य पञ्चैव, ते च पुष्पाणि न त्वायमाः, विजेतव्यम् विश्वं ब्रह्मोद्भादिधीरवीरपूर्वं समस्तं जगदिति सर्वथा विजयोऽपद्वेष्ट इत्यनुपपत्तिस्थिरोक्तं विजयामम्भाव्यत्वं प्रतिषेधति, अथवेति, वस्तुनां शक्यः कार्यमम्भादनयोग्यताः विचित्रा दुर्बाधाः, अन्वयव्यतिरेकादिना तर्कयितुमशक्या इत्यर्थः । तस्मात् सम्भवत्येवानङ्गस्य पुष्पवाणकरणकविश्वविजय इत्यमभाव्यत्वबुद्धेः प्रतिषेधः ॥ १२१ ॥

अत्र दृक्ताचेपं मङ्गमन्यति । इत्यनङ्गेति । प्रदृक्तैव दुर्बाध-यानुपपत्त्या पूर्वमुत्पन्नैव, अनङ्गजयस्यायोगोऽमभाव्यत्वं तस्य बुद्धिः, हेतुबलात् वस्तुशक्तीनां विचित्रतरुपकारणमहिन्द्रा दह यदाचिन्ता प्रतिषिद्धा म ईदृशो दृक्ताचेप इत्यन्वयः । अत्र वाक्यकशब्दाप्रयोगात् प्रतिषेधो व्यङ्ग्य एव, विशेषस्थाच जन-मात्रस्य कामपरतत्वता, तत्प्रतिपादनेच्छैव वाक्यस्यास्य भ-योगात्, एवमन्वचापि वोधम् ॥ १२२ ॥

कुतः कुवलयं कर्षेण करोषि कन्त्वार्पणा ॥

किमपाङ्गमपर्याप्तमन्मिन् कर्मणि मन्यसे ॥ १२३ ॥

स वर्त्तमानानेषोऽयं कुर्वत्येवासितोत्पलम् ।

कर्षेण काचित् प्रियेणैवं चाटुकारेण रुध्यते ॥ १२४ ॥

कुत इति । कुवलयं नीलोत्पलं, करोषि धारयसि, अपर्याप्तमसमर्थम्, अस्मिन् कर्मणि कर्षेणाभासम्भादने । अत्र

कर्णे कुवलयकरणस्य कुत इत्यनेन कैमर्थ्यं प्रतिषेधः न कुर्वित्वर्थः ॥ १२५ ॥

स इति । सोऽयं वर्ज्ञमानाक्षेपः, यतोऽस्मितोत्पलं कर्णे  
कुर्वत्वेव काचित्, एवं कुत इत्यादिवाक्येन, प्रियेण रुधते  
प्रतिषिधते, इति हेतुहेतुमङ्गावेनाच्यदः । अत्र कुर्वत्वेवेव-  
कारेण न तु कृतवती न वा करिष्यन्तीति प्रतिषेधस्य करण-  
समानकालीनताप्रत्यायनया वर्ज्ञमानप्रतियोगिकत्वं सूचितं ।  
विशेषश्चाच अपाङ्गकुवलययोरतिसाम्यप्रतिपादनेन नायिका-  
सन्नाषणम् ॥ १२६ ॥

सत्यं ब्रवीमि, न त्वं मां द्रष्टुं वज्रभः लस्यसे ।  
अन्यचुम्बनसंक्रान्तालाक्षारक्तेन चशुपा ॥ १२५ ॥  
सोऽयं भविष्यदाक्षेपः, प्रागेवातिमनस्त्विनो ।  
कदाचिदपराधोऽस्य भावोत्येवमरुन्ध यत् ॥ १२६ ॥

सत्यमिति । द्रष्टुमिति, ज्ञादिभिर्युक्तादक्षियार्थाच्चेति  
तुमड् । दर्शनमित्यर्थः, मां द्रष्टुं न लस्यसे न द्रक्ष्यसीत्यर्थः,  
तत् कुत इति चक्रुर्विशिनृष्टि, अन्येति, अन्यस्यासुम्बनेन सङ्क्रा-  
न्ता तदधरतः सङ्क्रमिष्यन्तो या लाचा तयेव रक्तेन लोहि-  
तोभविष्यता अथचानुरक्तीभविष्यता । अत्र लस्यम इति प्रधा-  
नक्रियाया भविष्यत्कालबोधकलात् सङ्क्रान्तेति रक्तेतिक्रान्त-  
क्रियादयस्यापि भविष्यत्कालबोधकलमेवाप्रधानलात्, तदुक्तं  
जुमरनन्दिना, कदादिभिस्त्विणा वा विहितं कर्वत्वाद्युक्तवादि

च कालविशेषश्च परम्परमात्माकाङ्क्षाविरोधेन प्रधानत्वान्तिङ्गा  
बाध्यत इति ॥ १२५ ॥

सोऽयमिति । अतिमनस्त्विनी सुप्रशस्तमनस्त्वा सुनिपुले-  
त्वर्थः । अपराधो नायिकान्तरानुरागरूपः, अहम् प्रतिवि-  
षेध, अत्र सत्यं ब्रवीमीद्यादिवाच्यभज्या नार्यकस्य वर्त्तिष्य-  
माणनायिकान्तरानुरागस्य प्रतिषेधात् वर्त्तिष्यमाणाच्चेपोऽयं ।  
विशेषश्चाच नायकस्य चिरं स्ववशे स्वापनम् ॥ १२६ ॥

तव तन्वङ्गिः : मिथ्येव रुढमङ्गेष मार्द्वम् ।

यदि सत्यं स्वदून्येव, किमकाण्डे रुजन्ति माम् ॥ १२७ ॥

धर्माच्चेपोऽयमादिप्रमङ्गनागात्रमार्द्वम् ।

कामुकेन यदत्रैवं कर्मणा तद्विरोधिना ॥ १२८ ॥

इत्यमाचेषस्य म्यूलभेदत्रयं दर्शयित्वा, आचेषभेदानन्त्या-  
दनन्ततेत्यनेन तत्प्रभेदानामशक्यनिरूपणत्वमुक्तापि जिह्वांश्च  
किञ्चित्तत्प्रकारोपदेशार्थं कतिचिद्देदान् दर्शयति । तवेति ।  
स्वदून्येवेत्यत्र अङ्गानोति विशेष्यम् । अकाण्डे निष्कारणं रुजन्ति  
तापयन्ति । स्वदूनां तापकत्वासम्भवांश्च तात्त्विकमेषां मार्द्व-  
मिति प्रतिषेधः ॥ १२९ ॥

धर्माच्चेपोऽयमिति । तद्विरोधिना मार्द्वविरुद्धेन । कर्मणा  
तापदानक्रियया ॥ १३० ॥

सुन्दरी सा नवेत्येष विवेकः केन जायते ।

प्रभामात्रं हि तरनं दश्यने न तदाश्रयः ॥ १३१ ॥

धर्म्याचेपोऽयमाक्षिप्नो धर्मो, धर्मं प्रभाक्षयम् ।

अनुज्ञायैव यद्गूपमत्याश्वर्यं विवक्षता ॥ १३० ॥

धर्म्याचेपमाह । सुन्दरीति । अत्र अचेति विद्यत इति  
चाधारायै । सुन्दरीत्यस्य नायिकेत्यर्थः नतु सौन्दर्यवतीति  
तथावे सौन्दर्यर्थस्यैव प्रतिषेधेन धर्माचेप एव स्थात् ।  
ततश्चैवमन्वयः, अत्र सा सुन्दरी नायिका विद्यते न वा इत्येषः,  
संशय एवेति शेषः । विवेकः नायिका विद्यत इति निश्चयः पुनः  
केन कथं जायते । वसुतसु ‘सा सुन्दरीयमित्येष’ इत्येव पाठो  
लिपिकरप्रमादादन्यथा जातः सङ्गतलात् । यथा श्रुते संशयप्र-  
दर्शना निष्प्रयोजना अन्वयस्य न सम्यक् सङ्गच्छत इति  
बोधम् । ननु प्रत्यच्चिषयं कथमपलपसीत्यत्राह । प्रभामा-  
त्रमिति, हि यतस्सरलं चञ्चलं समन्वात् प्रसरदित्यर्थः प्रभा-  
मात्रं हृश्चते नतु तस्याः प्रभाया आश्रयोऽधिकरणं नायि-  
केति, नहि प्रभामात्रस्य प्रत्यचेण तदाश्रयनायिकासङ्गावः  
शक्यते ज्ञातुं, प्रभायाः प्रतिनियताश्रयलाभावात् तस्यान्वा-  
यिकानिश्चयोदुरुपपाद इति प्रभारूपधर्मं संख्यायैव तद्वर्त्मि-  
भूताया नायिकाया एव प्रतिषेधाद्वर्त्म्याचेपः ॥ १३१ ॥

अत्र धर्मिणः प्रतिषेधं सङ्गमयति । धर्म्याचेपोऽयमिति ।  
अत्याश्वर्यं रूपं प्रभाधिक्यवर्णनेन नायिकायाः सौन्दर्याति-  
श्यं विवक्षता प्रतिपिपादयिषता चाटुकारेण प्रभाक्षयं धर्म-  
मनुज्ञायैव अनुमन्यैव अप्रतिषिष्ठैवेत्यर्थः यद्यसाद्वर्त्मी नायि-  
कारूप आचिप्तस्तस्याद्वर्त्म्याचेपोऽयमित्यन्ययः ॥ १३० ॥

चक्षुषी तव रज्येते, स्फुरत्यधरपञ्चवः ।  
भुवौ च भुग्नौ, न तथाप्यदुष्टस्यास्ति मे भयम् ॥ १३१ ॥  
स एष कारणात्मेयः प्रधानं कारणं भियः ।  
स्वापराधो निविद्वोऽन्त यत् प्रियेण पटीयसा ॥ १३२ ॥

कारणात्मेपमाह । चक्षुषी इति । रज्येते स्वयं रक्ते भवतः ।  
अदृष्टस्य नायिकान्तरानुरागादिरूपदोषाभाववतः । प्रधान-  
मिति, साक्षात्जनकलान्मुख्यमित्यर्थः तादृशजनकलम्ब स्वापरा-  
धस्यैव, चक्षुरागादीनान्तु कोपयच्छकानामपराधोऽन्तावनदारा  
परम्परया, एतेन प्रधानकारणाभाव एव कारणात्मेपस्य  
विषयः अप्रधानकारणाभावस्तु वक्ष्यमाणविभावनाया इति  
सुचितम् । अन्यथा इयोरपि समानविषयलेन भेदव्यवस्थाया-  
मनन्यः प्रयासोभवेदिति वोषं । किञ्चाच न भयमस्तीत्यनेन  
भयरूपकार्यप्रतिषेधात् कार्यात्मेपोऽपोति इयोः मङ्गोऽयं ।  
शुद्धोदाहरणन्तु । अस्माकं सखि वासमी न हर्चिरे गै वकं ने-  
ज्ज्वलं नो वका गतिरुद्धतं न इमितं नैवास्ति कश्चित्प्रदः । कि-  
न्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो दृष्टिं  
निचिपतीति विश्वमित्यता मन्यामहे दुःस्थितम्, इति । अत्रो-  
न्तराद्वयज्ञस्य वशीभृतपतिकलरूपकार्यस्य वासोहर्चिरत्वादि-  
रूपकारणान्येवाच्चिप्रान्ति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

दूरे प्रियतमः, सोऽयमागतो जलदागमः ।  
दृष्टात्र फुक्षा निचुला, न मृता चास्ति, किं च्चिदम् ॥ १३३ ॥

कार्यान्तेषः स, कायस्य मरणस्य निवर्त्तनात् ।

तत्कारणमुपन्यस्य दाहणं जलदागमम् ॥ १३४ ॥

कार्यान्तेषेषमाह । दूर इति । सोऽयमिति प्रत्यभिजया ज-  
लदागमस्य प्रसिद्धदुःखदत्तं स्मृचयति । जलदागमः प्रावृट्-  
कालः, कथमस्यागमनं ज्ञातमित्यचाह दृष्टास्तेति, अत  
चदयं फुजनिचुलदर्शनमरणाभावयोः सामानाधिकरण्यं बोध-  
यति, एतच्चासम्भवमित्याह किं च्चिदमिति, इदं निरुक्तमा-  
मानाधिकरण्यं किं न अत्यसम्भवमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

कार्यान्तेषेष इति । निवर्त्तनात् प्रतिषेधकथनात् । तत्कार-  
णमिति । सत् विरहिमारकत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः, नतु तस्म  
कारणमित्यर्थः उपन्यस्तेति क्वान्तक्रियाघटितस्योन्तरार्हस्य यो-  
जनया पूर्वार्हरूपत्वेन तदन्तर्वर्त्तना तच्छब्देन मरणपरा-  
मर्शासम्भवात् । एतेन च प्रसिद्धकारणोपन्यासेन कार्याभाव-  
वर्णनेऽयं कार्यान्तेषः, अप्रसिद्धकारणोपन्यासेन तु विशेषोक्ति-  
रिति दयोर्भेदोऽपि प्रतिपत्तिः, कारणस्य प्रसिद्धत्वाप्रसिद्धत्वाभ्यां  
भेदस्य सुवचत्वादन्यथा तदर्थे दुरवस्था स्त्रादिति खेयम् ।  
वस्तुतस्तु निवर्त्तनादित्यत्र निवर्त्तनमिति तदित्यत्र चदिति  
पाठः सम्यक् । एतत्पाठे तु विशेषोक्तिरभेदाय कारणपदस्य  
प्रसिद्धकारणपरत्वं वक्तव्यम् ॥ १३६ ॥

न चिरं मम तापाय तव याचा भविष्यनि ।

यदि यास्यसि यानव्यमलमाशङ्क्याऽत्र ते ॥ १३७ ॥

इत्यनुज्ञामुखेनैव कामस्याच्चिष्ठते गतिः ।  
मरणं सूचयन्त्वैव सोऽनुज्ञाक्षेप उच्यते ॥ १३६ ॥

अनुज्ञाक्षेपमाह । न चिरमिति । याचा विदेशगमनं । न  
चिरं तापायेति विरहवेदनया इटितिमरणसम्भवेन चिर-  
जीवनाभावादिति भावः । अत्र याचायाम् । आशद्धयेति  
मदीयचिरतापस्थेति शेषः ॥ १३५ ॥

इत्यनुज्ञेति । अनुज्ञामुखेनैव गमनानुमतिद्वारेषैव न तु  
निषेधार्थकशब्दादिना । गतिराच्चिष्ठते इत्यत्र हेतुः मरणं  
सूचयन्त्वैवेति अनिष्टस्य विधेयतासम्भवेन प्रतिषेधपर्यवसाना-  
दिति भावः । अनुज्ञाक्षेप इति नव्याक्षेपेभेदानक्षादनक्षते-  
त्युक्तेराक्षेपेभेदेनैव व्यपदेशायुक्तते कथमत्रानुज्ञाक्षेपेति व्यप-  
देश इति चेत्र आक्षेपेभेदानां भेदकरणं प्रत्येव तत्र हेतुल-  
स्योक्तवात्, न तु व्यपदेशं प्रति, व्यपदेशस्तु आक्षेपोत्यापकानु-  
ज्ञादिनापि भवतीति वोध्यम् । नव्यास्तु एवंविधस्यले विकाष्ठेप  
इत्याङ्गः ॥ १३६ ॥

धनञ्च वज्रं लभ्यं ते सुखं क्षेमञ्च वर्त्मनि ।

न च मे प्राणसन्देहस्तयापि प्रिय मासम् गाः ॥ १३७ ॥

इत्याचक्षाण्या चेत्रन् प्रिययाचानुबन्धिनः ।

प्रभुत्वेनैव रुद्धस्तत् प्रभुत्वाक्षेप उच्यते ॥ १३८ ॥

प्रभुत्वाक्षेपमाह । धनञ्चेति । चकारो भिन्नक्रमे सुखमि-  
त्यनक्षत्रं योज्यः । यदा सुखमनायामेनत्यर्थः, लभ्यमिति

विदेषे इति शेषः, तथा वर्तमनि ज्ञेमच्च विदेशगमनवर्त्त्यापि  
निरुपद्रवमित्यर्थः । तथा न च मे प्राणसन्देहः, तत्र धनलाभा-  
दिना लरितागमनसम्भावनया वा प्राणान् धारयिष्यामी-  
त्यर्थः । तथापि धनलाभादिसङ्घावेऽपि मासा गाः देशान्तरं  
मा गच्छ ॥ १३७ ॥

इत्याचक्षाणयेति । इत्यस्मिन् शोके, प्रियस्य आचार्याः  
अनुबन्धिनोऽनुकूलान् अवश्यकर्त्तव्यताबोधकानित्यर्थः, हेतुन्  
धनलाभादीन् आचक्षाणया उपन्यस्यत्यापि, अत्र प्रत्याचक्षा-  
णयेति पाठस्तु न सम्यक् । सङ्घो गमनान्वितारितः प्रिय इति  
शेषः । अत्र हेतुसङ्घावादवश्यकरणीयमपि गमनं प्रभुत्वेनैवा-  
चिप्रमित्याचेपस्य प्रभुत्वप्रयुक्तवात् प्रभुत्वाचेपः । न चाच हेतुप-  
न्यासेनावश्यकर्त्तव्यतयाभ्यनुज्ञातस्य गमनस्य प्रतिषेधे विरुद्ध-  
हेतुन्तरानुपादानान्विर्हेतुतदोषापात इति वाच्यम् अनुरक्त-  
नायिकाया नायकविदेशगमनाभ्यनुज्ञानस्य हेतुसाधितस्या-  
यनभिमतत्वेन प्रस्तुतद्रूपतया तत्प्रतिषेधाप्रतिवन्धकत्वात्  
खतःसिद्धायमानस्य च प्रतिषेधस्य विधानस्यानुवादरूपतया  
हेतुपेक्षाभावाचेति बोध्यम् ॥ १३८ ॥

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।

गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ॥ १३९ ॥

असावनादराज्ञेपो यदनादरवद्वचः ।

प्रियप्रयाणं रूपत्या प्रयुक्तमिच्च रक्षया ॥ १४० ॥

अनादराचेपमाह । जीविताग्नेति । जीविताशा बस्तवतीति  
तव साक्षिणे चिरं जीवितुमिच्छामि, तव विदेशगमने तु  
मरिष्यामीतिभवनिः । स्वावस्था लद्विदेशगमननिबन्धनमरण-  
रूपा ॥ १३८ ॥

असाविति । अनादरवदचः गच्छ वा तिष्ठ वेत्यनास्थाव-  
दाक्यं । हन्त्या, जीविताशा बस्तवतीति वाक्यव्यञ्जकमरणप्रति-  
पादनेन प्रतिषेधन्त्या ॥ १४० ॥

गच्छ गच्छसि चेत् कान्त, पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।  
ममापि जन्म तचैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥ १४१ ॥  
इत्याशीर्वचनाचेपो यदाशीर्वादवर्त्मना ।  
स्वावस्था सूचयन्त्यैव कान्तयाचा निषिद्धते ॥ १४२ ॥

आशीर्वचनाचेपमाह । गच्छेति । ममापि जन्मेति तव  
गमनानन्तरमेव मरिष्यामि मरणानन्तरञ्चावस्थं जन्म भवेत्  
तत्र लद्वियगमनव्यदेशे भवतु तथा सति पुनस्तद्वर्णं प्राप्या-  
मीत्यर्थः ॥ १४१ ॥

इत्याशीर्वचनाचेप इति । आशीर्वादवर्त्मना आशीर्वाद-  
प्रकाशनद्वारा, आशीर्वादस्य पन्थानः सन्तु ते शिवा इत्य-  
नेन । यदा आशीराशंसा साच प्रियार्थस्य प्राप्तोच्छारूपा,  
तस्या वादः ममापोत्याद्युत्तराद्द्वेषं प्रकाशनं, तद्वारेणैव स्वा-  
वस्थां भाविमरणरूपां सूचयन्त्या सत्या कान्तस्य याचा निषि-

धत इत्याशीर्वचनस्य भाविष्यमरणसूचनदारा प्रियथाचा-  
चेपकलादाशीर्वचनाचेपोज्यम् ॥ १४२ ॥

यदि सत्यैव याचा ते, कायन्या मृग्यतां त्वया ।

अहमद्यैव रुद्गास्मि रन्ध्रापेत्तेण मृत्युना ॥ १४३ ॥

इत्येष परुषाचेपः परुषाचरपूर्वकम् ।

कान्तस्थाच्चिप्तते यस्मात् प्रस्थानं प्रेमनिभ्रया ॥ १४४ ॥

परुषाचेपमाह । अदीति । कायन्या प्रियतमा मृग्यताम-  
न्नियतां । ननु त्वमेवैका मे प्रियतमा, किमन्यथेत्यचाह, अह-  
मद्यैवेत्यादि, रन्ध्रापेत्तेण द्विद्रानुमन्धायिना, रन्ध्राचेषणमृत्यु-  
नेति क्वचित्याठः । रन्ध्राच्चाच तत्र विदेशगमनरूपं दारं ।  
रुद्गास्मि आकान्ता भवामि ॥ १४१ ॥

इत्येष इति । परुषाचरपूर्वकं, कायन्या मृग्यतामिति अ-  
द्यैव मृत्युना रुद्गास्मीति कठोरवाक्यप्रयोगपुरःसरं । प्रेमनि-  
भ्रया प्रणयमाचावलम्बनजीवनया ॥ १४४ ॥

गन्ता चेद्गृह त्रैर्ण, ते कस्या यान्ति पुरा रवाः ।

आर्तवन्धुमुखोद्दीर्णः प्रयाणपरिपन्थिनः ॥ १४५ ॥

साच्चिव्याशेप एवैष यद्दत्र प्रतिषिध्यते ।

प्रियप्रयाणं, साच्चिव्यं कुर्वत्येवानुरक्तया ॥ १४६ ॥

साच्चिव्याच्चेपमाह । गन्तेति । गन्ता भाविगमनवान्,  
भविष्यति दण्ड । कथमियं ते मां गमयितुं लरेत्यचाह कर्षा-

वित्यादि, रवाः मन्त्ररण्डोधका वर्षाः ते कर्णा पुरा यानि  
यास्तन्ति, पुरायोगे भविष्यति स्तु । अतः प्रथाणपरिपन्थिनो  
याचाप्रतिकूलाः ॥ १४५ ॥

साचिवाचेप इति । साचियं कुर्वत्येव दृष्टं गच्छेत्यनेन  
प्रयाणे स्वसहायतां दर्शयन्त्येव यत् प्रयाणं प्रतिषिधते स्वम-  
रणद्योतनया निवार्यते अत एष साचिवाचेप इत्यन्वयः ॥  
॥ १४६ ॥

गच्छेति वक्तुमिच्छामि त्वत्प्रियं, मत्प्रियैषिणो ।

निर्गच्छति मुखाद्वाणी मागा इति, करोमि किम् ॥ १४७ ॥

यद्वाचेपः स, यद्बस्य छतस्यानिष्टवस्तुनि ।

विपरीतफलोत्पत्तेरानर्थक्योपदर्शनात् ॥ १४८ ॥

यद्वाचेपमाह । गच्छेतीति । त्वत्प्रियं धनस्ताभादिप्रयोजक-  
लाज्ञवानुकूलं गच्छेति पदमहं वक्तुमिच्छामि, किम् मत्-  
प्रियैषिणी मागा इति वाणी मम मुखानिर्गच्छति, किं करो-  
मीत्यन्वयः । अत्र मत्प्रियैषिणीत्यनेन तव गच्छ एव चिराव-  
स्थानं मम प्रियं, तत् मर्बया मागच्छेति ध्वनिः ॥ १४९ ॥

यद्वाचेप इति । अनिष्टवस्तुनि गच्छेतिगमनविधानरूपे  
छतस्य छतस्यापोत्यर्थः, यद्बस्य विपरीतं यत् फलं मागा इति  
वाणीनिःसरणरूपं तस्यात्पत्तेर्वतोरानर्थक्योपदर्शनात् गमने  
उनर्थमभावनाद्वचनात् गमनमाचिन्तमिति सोऽयं यद्वाचेप  
इत्यन्वयः ॥ १४९ ॥

क्षणं दर्शनविम्बाय पद्मस्थन्दाय कुप्ततः ।

प्रेमणः प्रथाणं त्वं ब्रूहि, मया नस्येष्टमित्यते ॥ १४९ ॥

सोऽयं परवशाक्षेपो यत् प्रेमपरतन्त्रया ।

तया निषिध्यते याचेत्यन्यार्थस्योपदर्शनात् ॥ १५० ॥

परवशाक्षेपमाह । चण्डमिति । प्रथाणेऽनुज्ञां प्रार्थयन्तं  
प्रति नायिकाया उक्तिरियं । चण्डं व्याय दर्शनस्य विम्बाय प्र-  
तिबन्धकाय । क्षचित् चण्डदर्शनेति समस्त एव पाठः । पद्म-  
स्थन्दाय कुप्ततः पद्मस्थन्दमभिमत्यानस्य प्रेमणः प्रथाणं स्वीय-  
विदेशयाचां ब्रूहि निवेदय । प्रेमण इति कर्षबाविक्षार्थां सम्ब-  
न्धविवक्षया षष्ठी । प्रेमाणमनुज्ञापयेत्यर्थः । ननु लासेवानुज्ञा-  
पयामि किं प्रेमणेऽनुज्ञापयेत्यचाह, मयेत्यादि । यतो मया  
तस्य प्रेमण इष्टमभिमतमित्यते अभिमन्यते, प्रेमपरवशास्त्रि  
प्रेमणो यदभिमतं तदेव भमाभिमतं, तत्र प्रथाणं प्रेमणेऽभि-  
मतस्तेज्जदनुष्ठोयतां, नाच प्रतिकूलायिष्ये परन्तु चण्डविच्छेदा-  
ष्टहिष्णुना प्रेमणा तज्जानुमन्यते इति भावः ॥ १४९ ॥

सोऽयमिति । प्रेमपरतन्त्रया स्वस्य प्रेमपरवशत्वं प्रतिपाद-  
यन्त्या सत्या इति अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण अन्यार्थस्य प्रेमानु-  
मतियहेणस्य उपदर्शनादुपदेशात् याचानि निषिध्यत इति सोऽयं  
परवशाक्षेप इत्यन्ययः । तस्यार्थस्यैव सूचनादिति क्षचित्तुर्थ-  
पादः, तत्र तस्यार्थस्यैव याचानि षेष्यस्यैव सूचनात् पद्मस्थन्दाय  
कुप्तत इति प्रेमविशेषणेन व्यञ्जनादित्यर्थः ॥ १५० ॥

सहिष्ये विरहं नाय ! देहूदश्याञ्जनं मम ।

यदक्तनेचां कन्दर्पः प्रहर्तुं मां न पग्यति ॥ १५१ ॥

दुष्करं जीवनोपायमुपन्यस्योपरुध्यते ।

पत्युः प्रस्थानमित्याङ्गरूपायात्मेपमीदगम् ॥ १५२ ॥

उपायात्मेपमाह । सहिष्ये इति । अदृश्याञ्जनमहृश्चता-  
जनकसिद्धकञ्जलविगेषं । मम मह्यं । यदक्तनेचां येनाञ्जने-  
नाक्ते सच्चिते नेचे यस्यास्तां । पग्यति पग्येत् । तव प्रयाणेऽप्यमे-  
कन्दर्पप्रहारशङ्कैव परं मां व्याकुलयति, सा यदि निवार्यत  
तर्हि विरहे का चतिस्तसुखेन गम्यतामित्यर्थः ॥ १५१ ॥

दुष्करमिति । दुष्करं दुर्धटं । जीवनोपायं कामप्रहार-  
निवारकसिद्धाञ्जनदानरूपम् । उपरुध्यते तादृशाञ्जनदाना-  
सम्भवात् प्रतिषिध्यते ॥ १५२ ॥

प्रवृत्तैव प्रयामीति वाणी वक्त्रभः ते मुखात् ।

अयतापि त्वयेदानीं मन्दप्रेमणा ममास्ति किम् ॥ १५३ ॥

रोषात्मेपेऽयमुद्दित्तस्त्वेहनिर्यन्त्रितात्मना ।

संरब्धया प्रियारब्यं प्रयाणं यन्निपिध्यते ॥ १५४ ॥

रोषात्मेपमाह । प्रवृत्तैवेति । अत्र एवकारेण क्रप्रत्ययेन  
चातिविक्षयो ध्वन्यते । ईदृशे प्रेमिण तव मुखात् प्रयामीति  
वाणीनिःसरणमतिविक्षयनीयं सर्वथा प्रेमानुरोधस्तथा शि-  
थिलीकृतस्तस्मादिदानीं मन्दप्रेमणा अयतापि गच्छतापि त्वया

किं भम प्रयोजनमस्तोत्रव्याप्तयः । अयतेति, इगताविविष्य  
परम्पैषदिनो भौवादिकस्य रूपम् ॥ १५३ ॥

रोषाच्चेषाऽयमिति । उद्दिक्त उद्देकं गतो यः स्वेहः प्रेम  
तेन निर्यन्तितो विवशीकृत आत्मा मनो यस्ताः सा तथा तथा  
अतएव संरक्षया अयतापीत्यादिना प्रकाशितरोषया सत्या,  
विशुद्धस्य प्रेमणः स्वलितमविषहङ्गं हि भवतीति प्रेमभङ्गे युच्यते  
एव रोषः ॥ १५४ ॥

मुखा कान्तस्य याचेत्किञ्चवणादेव मूर्च्छिता ।

बुद्धा वक्ति प्रियं दृष्ट्वा किं चिरेणागतो भवान् ॥ १५५ ॥

इति तत्कालसमूत्पद्यास्थिष्यते गतिः ।

कान्तस्य कातराच्या यन्मूर्च्छाचेपः स ईदृशः ॥ १५६ ॥

मूर्च्छाचेपमाह । मुखेति । बुद्धा मूर्च्छापगमात् प्राप्त-  
मंजा, बुद्धेति द्वान्तपाठे मंजां लभ्वा । शोकदयमिदं न बङ्गयु  
पुस्तकेषु दृश्यते, अधिकल्पु प्रविष्टमिति सङ्गृतमिति चाच  
गद्दीतम् ॥ १५५ ॥ १५६ ॥

नाभ्रातं न कृतं कर्षे स्त्रीभिर्भृनि नार्पितम् ।

त्वद्विषां दोर्धिकाखेव विशीर्णं नोलमुत्पलम् ॥ १५७ ॥

असावनक्रोशाचेपः सानुक्रोशमिवोत्पले ।

व्यावर्त्य कर्म तदोग्यं शोच्यावस्थोपदर्शनात् ॥ १५८ ॥

अनुक्रोशाचेपमाह । नाभ्रातमिति । मधुनि मध्ये । त्वद्वि-  
षामित्यस्य काकाच्चिन्यायात् श्वीभिरित्यनेन दोर्धिकाखित्य-

नेन च समन्वयः । विशीर्षमिति अनुदृततया परिणामेन शु-  
क्रतामुपगतमित्यर्थः, द्विषां पलायनादिति भावः ॥ १५७ ॥

असाविति । उत्पले सानुक्रोशमिव सकृष्टमिव यथा  
स्थान्तथा तस्मात्यलस्य योग्यं कर्म स्तोजनकर्वकाघाणादिकं  
व्यावर्त्य प्रतिषिध्य शोच्यावस्था अनुपभागपूर्वकविशीर्षता  
तस्मा उपदर्शनात् प्रकाशनात् असावनुक्रोशाचेप इत्यन्वयः ।  
आचेपस्थानुक्रोशजनकत्वादनुक्रोशाचेप इत्यर्थः । वस्तुतस्तु नी-  
लोत्पलानुक्रोशेन लद्विषस्तुत्र न सन्तीत्याचेपसूचनादनुक्रोशा-  
चेपः, व्यपदेशकस्य व्यपदेश्यं प्रति साच्चात्यरम्यरथ्या वा हेतुता-  
सङ्गावस्थौचित्यादिति अंगम् इत्यनुक्रोशनाचेप इति क्वचित्,  
क्वचिच्च सानुक्रोशाऽयमाचेप इति पाठः ॥ १५८ ॥

अस्तुतात्मनि, पद्मानां देष्टरि स्त्रिभतारके ।

मुखेन्द्रा तव सत्यस्मिन्नपरेण किमिन्दुना ॥ १५९ ॥

इति मुखेन्द्रराज्ञिसा गृणान् गौणेन्द्रवर्जिः ।

तत्समान् दर्शयित्वेह स्त्रिएषान्तेपस्त्राविषः ॥ १६० ॥

स्त्रिएषाचेपमाह । अस्तुतात्मनोति । अस्तुतात्मनि अस्तुतस्ये-  
वात्मा आङ्गादकलस्त्रह्यं यस्य तस्मिन् अन्यत्रास्तुतमये, तथा  
पद्मानां देष्टरि सदृशे, अन्यत्र सङ्गोचके । तथा स्त्रिरधे तारके  
चक्रःकनीनिके यस्य तस्मिन् । अन्यत्र स्त्रिरधाः प्रेमास्त्रदानि  
तारका अश्विन्दादयो यस्य तस्मिन् । अस्मिन् मुखेन्द्रा मुख-  
ह्ये चन्द्रे सति अपरेणेन्दुना किं स मा तिष्ठतित्यर्थः ॥ १५८ ॥

इतीति । तस्मान् मुखेन्दुगुणमदृशान् । शादृश्चाच  
शिष्टैकशब्दप्रतिपाद्यते । गैणेन्दुर्गाणलक्षणयेन्दुपदप्रतिपाद्य  
मुखं तदर्जनो गुणान् अस्तास्तादीन् दर्शयिता मुखेन्दु-  
राचिप्तो निष्प्रयोजनलेन प्रतिषिद्धः । शिष्टाचेप इति शिष्टपद-  
प्रतिपाद्यधर्मदर्शनपूर्वकलादिति भावः ॥ १६० ॥

अर्था न सम्भवः कश्चिन्विद्या काचिदर्जिता ।

न तपः सच्चितं किञ्चिद्गतस्य सकलं वयः ॥ १६१ ॥

असावनशयाक्षेपो यस्मादनशयोत्तरम् ।

अर्थार्जनादेव्यावृत्तिर्दर्शितेह गतायपा ॥ १६२ ॥

अनुशयानेपमाह । अर्थ इति । अर्था धनं कसित् सुवर्ण-  
रजतभूम्याद्यन्तमः ॥ १६१ ॥

अमाविति । अनुशयोक्तरं मानुशयं यथा तथा यस्माद्-  
र्थार्जनादेव्यावृत्तिरभावो दर्शिना अतोऽसावनशयाचेप इत्य-  
त्यः ॥ १६२ ॥

किमयं शरदभोदः, किं वा हंसकदम्बकम् ।

रुतं नपरसंवादि श्रयते तन्न तोयदः ॥ १६३ ॥

इत्यं संशयादेपः संशयो यज्ञिवर्त्थते ।

धर्मेण हंससुलभेनास्पष्टघनजातिना ॥ १६४ ॥

संग्रहयात्प्रेपमाह । किमयमिति । शरदभोदः शरत्का-  
लीजः श्रीतो मेघः । इसकदम्बकं शरस्वत्यामानसादागच्छतां  
इंसारां श्रेष्ठो । नृपरसंवादि नृपरशिर्जितसदृशम् ॥१६१॥

इत्ययमिति । अस्युपघनजातिना मेघेभ्यो व्याटुत्तेन, हंस-  
सुलभेन हंसमाचगामिना धर्मण नूपुरसंवादिरुतेन । संशयो  
यन्निवर्त्तयत इति, संशयस्थाक्षेपः संशयाक्षेप इति षष्ठीतत्प-  
रुषः ॥ १६४ ॥

चित्रमाकान्तविश्वोऽपि विकमस्ते न ग्राम्यति ।

कदा वा दृश्यते वृप्तिरुदीर्षस्य वृविर्भुजः ॥ १६५ ॥

अर्थमर्थान्तराक्षेपः प्रकान्तो यन्निवार्यते ।

विस्मयोऽर्थान्तरस्यह दर्शनात्तत्परधर्मणः ॥ १६६ ॥

अर्थान्तराक्षेपमाह । चित्रमिति । आकान्तविश्वोऽपि विश्वं  
व्याप्तुवन्नपि ते विकमः प्रतापो न ग्राम्यति विषयान्तराकमणे-  
स्त्राया न विरमति एतच्चित्रमहृतमित्यव्ययः । अर्थान्तरोपन्या-  
मेन चित्रते प्रतिषेधति, कदाचेति । कदा वा नैवेत्यर्थः ॥ १६५ ॥

अयमिति । तत्परधर्मणो विकमस्तुत्यस्य अर्थान्तरस्याऽर्द-  
वज्ज्ञेस्तुप्यभावरूपस्य दर्शनादर्शनातः, णिङ्गन्तमिदं, प्रकान्तः  
प्रस्तुतच्चित्रमितिपदप्रतिपाद्यो विस्मयो यन्निवार्यते, अतोऽर्था-  
न्तरेण प्रकृतस्थाक्षेपादर्थान्तराक्षेपोऽयम् ॥ १६६ ॥

न सूयसे नरेन्द्र । त्वं ददासीति कदाचन ।

स्वमेव मत्वा गृह्णन्ति यतस्वद्वन्मर्थिनः ॥ १६७ ॥

इत्येवमादिराक्षेपो हेत्वाक्षेप इति स्मृतः ।

अनयैव दिशान्योऽपि विकल्पः शक्य ऊहितुम् ॥ १६८ ॥

इत्याक्षेपचक्रम् ॥

हेताच्छेपमाह । न स्थयस इति । स्वमेव मता स्वस्य स्वच्छा-  
स्यदमेव बुद्धा । एतेन दातुरौदार्थातिशयो धनितः ॥ १६७ ॥

इत्येवमादिरिति । स्वमेवेत्यादिहेतुपन्यासेन प्रस्तुतस्य गरे-  
द्ग्रस्तवस्याचेषाद्गुलाचेषिऽयं । पूर्वमुक्तः कारणाच्छेपस्तु कारण-  
स्यैवाचेषो नतु कारणेनाचेप इति नानयोरैकहृष्णं । विकल्पो  
भेदः ॥ १६८ ॥

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन ।

तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ॥ १६९ ॥

अथार्थान्तरन्यासं स्वच्छयति । ज्ञेय इति । किञ्चन कि-  
मपि वस्तु वाक्यार्थं प्रस्तुत्य प्रकृतत्वेनोपन्यस्य, तस्य प्रस्तुतवस्तुनः  
साधने अप्रामाण्यासम्भवशङ्कानिरासाय सोपपत्तिकलमन्या-  
दने समर्थस्यान्यस्य कस्यचिदप्रस्तुतस्य वस्तुनो वाक्यार्थस्य यो  
न्यासः सोऽर्थान्तरन्यासो ज्ञेय इत्यन्ययः । अत्र प्रस्तुत्येति क्ला-  
प्रत्ययेन प्रथमं समर्थनीयस्य प्रस्तुतस्योपन्यासः पश्चात् सम-  
र्थकस्याप्रस्तुतस्येत्यायातम्, एतच्च प्रायिकं दैपरीत्यस्यापि इ-  
र्शनात्, यथा शिग्गुपालवैधे । ‘प्रतिकूलतामुपगते हि विघै  
‘विफलतमेति बड्डसाधनता । अवलम्बनाय दिनभर्त्तरभूत्व  
पतिष्ठतः करवहस्तमपि’ । अत्र सन्ध्यावर्षनस्य प्रस्तुतवादुत्त-  
रादुर्वाक्यार्थः समर्थनीयः पूर्वाद्गुवाक्यार्थस्तु समर्थकः । भोज-  
राजस्त्वयं विपरीतार्थान्तरन्यास इत्याह । इत्यस्य प्रस्तुतवा-  
क्यार्थस्याप्रस्तुतवाक्यार्थेन समर्थनमर्थान्तरन्यास इति स्वच्छणं

बोधम् । अत्र च समर्थसमर्थकयोः सामान्यविशेषभाव आद-  
रणीयः, सच छक्षित् साधमर्येण छक्षिद्विधमर्येण च भवति ।  
तदुक्तं प्रकाशहता । ‘सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन सम-  
र्थते । यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधमर्येणतरेण वा’ इति । केचिच्चु  
कार्यकारणयोरपि समर्थसमर्थकलेऽर्थान्तरन्यासमाङ्गः यथा,  
‘पृथिवी ! स्थिरा भव भुजङ्गम् । धारयैनां लं कृष्णराज ! तदिहं  
द्वितयं दधीयाः । दिक्षुञ्जराः । कुरुत तच्चितये दिधीर्षामार्यः  
करोतु हरकार्मुकमाततज्जम्’ । अत्र कारणभूतं हरकार्मुकात-  
तज्जीकरणं पृथ्वीस्थीर्यादेः कार्यस्य समर्थकम् । ‘सहमा विद-  
धीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् । वृणते हि विस्त-  
श्कारिणं गुणलुच्याः स्वयमेव सम्यदः’ । इत्यत्र सम्पदरण्ण  
कार्यं एहसा विधानाभावस्य विस्तश्कारित्वस्तुपस्य कारणस्य  
समर्थकम् । अयन्तु वक्ष्यमाणहेत्वलङ्घार एवेत्यन्ये । अत्र तु  
वाक्यार्थयोर्न भामान्यविशेषभावो न वा कार्यकारणः । दस्तत्र  
साधारणधर्मयोरभिन्नते प्रतिवस्तुपमा, भिन्नयोस्तुयोर्विवानु-  
विम्बते दृष्टान्त इति बोधम् । क्रमेण यथा ‘धन्यामि वैदर्थ्यं !  
गुणैरुदारैर्यया समाकृत्यत नैषधाऽपि । इतः स्तुतिः का खलु  
चन्द्रिकाया यदभिमण्युत्तरस्ती करोति’ । अत्र ममाकर्धणमुन्तर-  
स्तीकरणस्तु क्रिया एकैवेति प्रतिवस्तुपमा । ‘अविदितगुलापि  
सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् । अनधिगतपरिम-  
स्तापि हि हरति दृश्म मालतीमाला’ । अत्र कर्णे मधुधारावम-  
स्त्वा नेत्रहरणस्य च साम्यमेव नलैकस्तुपमिति दृष्टान्तः ॥१६६॥

विश्वायापि विशेषस्यः स्नेषाविहो विरोधवान् ।  
 अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्ययः ॥ १७० ॥  
 इत्येवमादयो भेदाः प्रयोगेष्वस्य लक्षिताः ।  
 उदाहरणमालैषां रूपव्यक्तौ निर्दर्शते ॥ १७१ ॥

एवमर्थात्तरन्यासस्य शामान्यलक्षणमुक्ता समर्थकार्थभेदेन  
 कतिचिद्देशान् दर्शयन्नाह । विश्वायापीति । विश्वायापि सर्वत्र  
 गम्भययोग्यः । विशेषस्यासर्वविषयः । स्नेषाविहुः स्निष्टविशे-  
 षणसम्यन्नः । विरोधवान् विरुद्धधर्मदृश्यवान् । अयुक्तकारी  
 स्वभावत एवासत्कर्मकर्ता । युक्तात्मा आचित्येन युज्ञमान-  
 स्वरूपः, युक्तार्थ इति क्वचित्प्याठः । युक्तायुक्तः युक्ताऽप्ययुक्त-  
 कारी । विपर्ययः अयुक्तकार्यादित्रितयविपरोतः अयुक्तः सत्र-  
 युक्तकारीत्यर्थः । एते चाष्टविधाः समर्थकार्थभेदाः । आदिना  
 भोजराजाद्युक्तानामनोकप्रत्यनीकादीनां यहणम् । एषाऽन्न  
 योगार्थवलादेव लक्षणलाभ इति लक्षणमङ्गलैवोदाहरणानि  
 दर्शयन्नाह उदाहरणमालैषामिति । रूपव्यक्तौ खरूपप्रदर्श-  
 नाय ॥ १७० ॥ १७१ ॥

भगवन्तौ जगन्नेत्रे रूप्याचन्द्रमसावपि ।  
 पश्य गच्छत एवास्तं, नियतिः केन लड्यते ॥ १७२ ॥

कमणेदाहरति । भगवन्नाविति । भगवन्तौ ऐश्वर्यवीर्या-  
 यतिशयवन्तौ, जगन्नेत्रे तगत्वांशकौ । नियतिरिति, अत्र

ब्रह्मादिकोटपर्यन्तानां नियत्यधीनवमिति समर्थकस्तुर्थ-  
पादार्थो विश्ववापो, तेन च सामान्येन पादचयगतविशेषार्थः  
सोपपत्तिकः लतः ॥ १७२ ॥

पयोमुचः परीतापं हरन्त्येव शरीरणाम् ।  
नन्वात्मलाभोमहता परदुखोपश्चान्तये ॥ १७३ ॥

पयोमुच इति । परीतापमिति, (प्रादेवं बज्जलमिति)  
दीर्घः । आत्मलाभः शरीरपरियहः । अत्र महतामेवैतादृशी-  
रीतिर्न प्राणिमात्रस्येति विशेषस्ता । अत्रापि सामान्येन  
विशेषसमर्थनम् ॥ १७३ ॥

उत्पादयनि लोकस्य प्रीतिं मनयमासुतः ।  
ननु दाच्छिष्यसम्बन्धः सर्वस्य भवति प्रियः ॥ १७४ ॥

उत्पादयतोति । दाच्छिष्यसम्बन्धो दक्षिणदिग्ं । अ-  
थ च सारस्यादिगुणवान् इति स्फेषावष्टमेनैवाच्चराह्वार्थः सम-  
र्थक इति स्फेषाविद्धः, अत्रापि समर्थसमर्थकयोः सामान्य-  
विशेषता ॥ १७४ ॥

जगदानन्दयत्येष मलिनोऽपि निशाकरः ।  
अनुगृह्णाति हि परान् सदोषोऽपि द्विजेश्वरः ॥ १७५ ॥

जगदिति । मलिनोऽपि कलहितोऽपि । अनुगृह्णाति  
अनुयहेषोपकरोति, सदोषोऽपि दूषणवानपि, द्विजेश्वरो

ब्राह्मणश्चेष्टः, निश्चकरस्यापि द्विजराजत्वेन सामान्यरूपेऽयं  
समर्थकः । एष च सदोषलानुप्रवृत्तेषोपकारकवृपविहृद्धधर्मदिव्य-  
वान्, नहि सदोषा जना उपकुर्वन्तीति विरोधात् । अत्र  
सदोषाऽपीतिपदस्य सराचिरपि सदूषणाऽपीत्यर्थद्वयेन शेषस-  
म्भवात् शेषाविद्वत्वमाशङ्कितमलौः तत्र हचिरं तादृशशेषस्य  
प्रकृतानुपयोगितेनानभ्युपगमात् मत्तिनलसदूषणलयोरेव सम-  
र्थसमर्थकयोः साधमर्थात् ॥ १७५ ॥

मधुपानकलात्काण्डान्निर्गतोऽप्यनिनां ध्वनिः ।  
कटुर्भवनि कर्णस्य कामिनां, पापमीदृशम् ॥ १७६ ॥

मधुपानेति । मधुपानेन कलात् सुखरात् कण्डान्निर्गतो-  
ऽपि तादृशकण्डन्निर्गतवान्नधुरोऽपीत्यर्थः । कामिनां विरहि-  
णाम् । पापमीदृशमिति, ईदृशं सुखदवस्थुनोऽपि दुःखदत्तम-  
स्यादकम् । अत्र सामान्यस्य पापरूपसमर्थकार्थस्य मधुरस्या-  
ऽपि भ्रमरध्वनेः कटुलसम्यादनादयुक्तकारिता ॥ १७६ ॥

अयं मम ददृत्यज्ञमम्भोजदत्तसंस्तरः ।  
ङ्गताशनप्रतिनिधिर्दाहात्मा ननु युज्यते ॥ १७७ ॥

अयमिति । अम्भोजदत्तसंस्तरः अम्भोजदत्तकन्तिता श्वाया ।  
नैतदयुक्तमित्याह ङ्गताशनप्रतिनिधिरिति, दाहस्तापकता आ-  
त्मा खभावो यस्य सः । अत्र ङ्गताशनप्रतिनिधिर्दाहकत्वभा-  
वेयुक्त इति समर्थकस्य युक्तात्मता ॥ १७७ ॥

चिषेत् कामं शोतांशुः किं वसन्तो दुनोति माम् ।  
मलिनाचरितं कर्म सुरभेन्वसाम्प्रतम् ॥ १७८ ॥

चिषेत्विति । चिषेत् हिनसु, शोतांशोः कलङ्किलात्  
परहिंसन् युक्तमित्यर्थः । वसन्तः पुनः किं कथं दुनोति नैतन्या-  
यमिति सामान्यार्थेन इदयति मलिनाचरितमिति मलिनेन  
कलङ्किना अथव पापिना, सुरभेर्विख्यातस्य अथव वस-  
नतस्य । तथाच, मधौ कामदुघायाच्च विख्याते सुरभिर्दयोरिति  
कोषः । असाम्प्रतमयुक्तम् । अत्रोल्लटस्यापि सुरभेरपकृष्ट-  
कर्मकरणाद्युक्तायुक्ता । किञ्चाच मलिनसुरभिशब्दयोः अ-  
स्त्रात् शेषाविद्वतापि तदनयोः सङ्करः ॥ १७८ ॥

कुमुदान्यपि दाहाय, किमयं कमलाकरः ।  
नहीन्दुग्धेषुप्रयेषु द्वर्यगृह्णो मृदुर्भवेत् ॥ १७९ ॥  
इत्यर्थान्तरन्यासचक्रम् ।

कुमुदान्यपोति । अपिना शोतांशुबोधितवेन शोतलानां  
दाहकत्वमत्याश्र्यमिति ध्वनितं । किमयमिति जगद्वाहक-  
स्त्र्यवोधितवेन दाहस्त्रभावस्य कमलाकरस्य विरहिजनदाह-  
कत्वं नाश्र्यमित्यर्थः । कमलाकरः कमलानीत्यर्थः कुमुदा-  
नोति प्रकमात् । नहीन्दुग्धेष्विति । गृह्णः पञ्चः (पदपञ्च-  
परतन्त्रेषु यह इति क्यः) अत्र अयुक्तस्वैवायुक्तकर्मकरणमिति  
अयुक्तकारि, युक्तात्म, युक्तायुक्तेतित्रितयादिपर्ययः । एतानि  
साधमर्येणादाहरणानि, (वैधमर्येण यथा, “इत्यमाराध-

मानोऽपि क्रिआति भुवनचयम् । शास्त्रे प्रत्यपकारेण नोप-  
कारेण दुर्जनः” इति । अत्तराधनापकारयोः समर्थसम-  
र्थकधर्मयोर्विरोधितं, प्रदेशस्थताख्योऽयं भेदः दुर्जनस्य सार्व-  
त्रिकत्वाभावात् ॥ १७६ ॥

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्दयोः ।  
तत्र यद्वेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥ १७० ।

अथ व्यतिरेकं लक्ष्यति । शब्दोपात्ते इति । इयोर्वस्तुनो-  
रूपमानोपमेययोः सादृश्ये शब्दोपात्ते साधारणधर्मवाचक-  
शब्दप्रयोगेण इटितिबोधिते तथा प्रतीते वा साधारणधर्मवाच-  
कस्यानुपादानात् पर्यालोचनयावगते वा सति, तत्रेति, न तत्र  
करुणा हेतु, रित्यादिवत् षष्ठ्यर्थं सप्तमी तयोरित्यर्थः, तयोरुप-  
मानोपमेययोर्यद्वेदकथनं केनचिदसाधारणधर्मान्तरेणोपमा-  
नादुपमेयस्योत्कर्षायापकर्षाय वा वैधर्म्यप्रतिपादनं स व्यतिरेकः  
कथ्यत इत्यन्यः । असाधारणधर्मान्तरञ्ज्ञ उत्कर्षापकर्षहेतु-  
भृतं तत्र क्वचिदुपात्तं क्वचिदनुपात्तञ्ज्ञ भवति तेन व्यतिरेकस्य  
भेदचतुष्टयमन्यैरुक्तं ज्ञेयं, तथाहि अकलङ्कं मुखं तस्या न  
कलङ्की विधुर्यथा, इत्यादौ अकलङ्कत्वकलङ्कित्वरूपहेतुद्यो-  
पादानादेकः, प्रत्येकानुपादानात् ही, समुदायानुपादानादेक  
इति चलारोभेदाः । भेदकथनञ्ज्ञ क्वचित्प्रादिवाचकप्रयो-  
गेण क्वचिद्विद्वद्धर्मोपादानमात्रेण च शब्दं सम्भवति, क्वचिच्च  
पर्यालोचनागम्यम्, एतत्र वस्त्यमाणोदाहरणेषु सष्टीभविष्यति ।

इत्यस्तोपमानाद् परमेष्ठस्तोत्रकर्त्ता वा वैष्णवविशेषजनक-  
तथा प्रतिपाद्यमानोव्यतिरेक इति सत्ततम्, तत्रोत्तर्कर्त्तव्यतिरे-  
कस्य वच्चयमाणोदाहरणानि, अपकर्त्तव्यतिरेकस्य यथा, ‘चोणः  
चोणोऽपि गशो भूयोभूयोऽभिवर्द्धते नित्यम्। विरम प्रसीद  
सुन्दरि! यौवनमनिवर्त्ति यातन्तु’। अत्रोपमेययौवनस्तोपमान-  
चन्द्रापेच्छापकर्त्तः; यथा वा ‘हनूमदादैर्यशसा मया पुन-  
र्दिषां हसैर्दूतपथः मितोक्तः’। अत्र यशस्विहनूमदादैर्यपेच्छा  
दौत्यफलामम्यादितया नक्षत्रायशस्विलादपकर्त्तः ॥ १८० ॥

धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वतः ।

गुणैस्तुन्दोऽसि, भेदस्तु वपुष्वेदशेन ते ॥ १८१ ॥

इत्येकव्यतिरेकोऽयं, धर्माणैकच वर्त्तना ।

प्रतोतिविषयप्राप्तेभेदस्योभयवर्त्तनः ॥ १८२ ॥

इत्यं व्यतिरेकस्य मामान्यलक्षणमुक्ता बङ्गप्रभेदस्य प्रथमं  
शब्दोपात्तमादृशप्रभेदान् क्रमेण दर्शयन्त्रेकव्यतिरेकमाह ।  
धैर्यति । धैर्यं पाण्डित्यमनुज्ञातवेलत्वस्त्र, लावण्यं मैन्दर्यं  
स्तवणाक्तजलमयत्वस्त्र, गाम्भीर्यं दुर्बोधाश्यत्वं गभीरत्वस्त्र, गा-  
म्भीर्यत्यच माहात्म्येति कचित्पाठः । तत्र माहात्म्यं महाश्यत्वं  
विपुलत्वस्त्र । भेदस्त्रिति भेदोवैधमर्थम्, ईदृशेन अतिसुन्दरकर-  
चरणादिमता । अत्र धैर्यादिसाधारणधर्मप्रयोगात् सादृश्यं  
शाद्भम् । उपमेयमाचनिष्ठेन च शब्देन विलक्षणवपुश्चलधर्म-  
णाप्रसुतात् समुद्रात् प्रस्तुतस्य राज्ञ उत्कर्षः ॥ १८३ ॥

इत्येकेति । इत्यस्मिन् स्नोके एकत्र वर्त्तिना एकस्मिन्नुपमेय  
एव वर्तमानेन धर्मेण सुन्दरवपुश्चत्रहृषेण उभयवर्त्तिन  
उपमानोपमेयनिष्ठस्य भेदस्य उत्कर्षापकर्षहृषपैधर्म्यस्य उप-  
मेयोत्कर्षस्य उपमानापकर्षस्य चेत्यर्थः प्रतीतिविषयप्राप्तेः  
प्रतीयमानलाद्देतोर्यमेकव्यतिरेक इत्यन्ययः । अत्र विषयपदं  
विषयत्वपरम् । एकमात्रनिष्ठधर्मेणोभयोर्मिष्टाव्यतिरिच्यमा-  
नलादेकव्यतिरेक इति वर्तुलार्थः ॥ १८२ ॥

अभिन्नवेलौ गम्भीरावस्तुराश्चिर्भवानपि ।

असावच्छनसङ्काशस्त्वन्तु चामोकरद्युतिः ॥ १८३ ॥

उभयव्यतिरेकोऽयमुभयोर्भेदकौ गुणा ।

कार्ण्यं पिशङ्गता चैभौ यत्पृथग्दर्शिताविच्च ॥ १८४ ॥

उभयव्यतिरेकमाह । अभिन्नवेलाविति । अभिन्नवेलौ  
अनुसङ्गितमर्थादौ । असावस्तुराश्चिरच्छनसङ्काशः श्वामलान्  
मलिनः, तन्तु चामोकरद्युतिः सुवर्णकाञ्जिः । अत्र भवानिति  
त्वमिति च प्रक्रमभङ्गः सोऽव्यः ॥ १८५ ॥

उभयेति । अत्रोपमानोपमेयोभयगतावेव निकर्षोत्कर्ष-  
वोधकौ अच्छनसङ्काशत्वचामोकरद्युतिलहृषभेदकावुपात्तावि-  
त्युभयव्यतिरेकोऽयम् ॥ १८४ ॥

त्वं समुद्रश्च दुर्बारौ महासन्चौ सतेजसौ ।

अयन्तु युवयोर्भेदः स जडात्मा पटुर्भवान् ॥ १८५ ॥

स एष स्मेष्टुपत्वात् सम्प्रेष इति युद्धताम् ।  
साक्षेपश्च सहेतुश्च दर्शने तदपि द्वयम् ॥ १८६ ॥

सम्प्रेषव्यतिरेकमाह । लभिति । दुर्बारावित्यादि, दुर्बा-  
रत्वमनभिभवनीयत्वमवार्यपूरत्वश्च. सत्रं गुणविशेषस्त्रिमिप्रभ-  
तिजन्मुश्च, तेजः प्रतापोवाडवाग्निश्च, जडात्मा जलमयत्वात्  
शोतलखभावोमूर्खश्च, पटुस्तीक्ष्णेण निपुणश्च ॥ १८५ ॥

स एष इति । स्मेष्टुपत्वात् जडात्मेतिपटुरितिञ्चिएष-  
दकधर्मद्वयसम्यादित्वात् । न चाच दुर्बारावित्यादिसाधा-  
रणविशेषणानामपि चिष्ठत्वेन सम्प्रेषत्वमस्येति वाच्यं तादृश-  
विशेषणानां सादृशनिर्बाहकतया शब्दार्थान्यतरशेषाव्यभि-  
चारित्वेन सर्वत्रापि सम्प्रेषत्वापत्तेः तस्माद्भेदकविशेषण-  
स्त्रैव सम्प्रेषत्वेन सम्प्रेषत्वपदेशः । अत्र प्रस्तुताप्रस्तुतयोरहत्क-  
र्षकापकर्षकविशेषणद्वयस्त्रैव छिष्ठत्वं, क्वचिदेकतरनिष्ठविशेषणस्य  
चिष्ठत्वेऽप्ययं भवति यथा एतत्पद्यस्त्रैव, तथापि भवतः कक्षां  
जडात्मा नायमर्हतीत्युत्तराद्वंपाठे, अत्रोपमानमात्रगतं जडा-  
त्मेति चिष्ठविशेषणम् । इत्यं भेदकविशेषणस्त्रैकगतत्वेनोभय-  
गतत्वेन चिष्ठत्वेन च भेदत्रयमुक्ता पुनरपि भेदद्वयमाह ।  
साक्षेपश्चेति । आक्षेपः विरह्वधर्मान्तरोपन्यासेन सादृशप्रति-  
षेधः तत्प्रहितः । सहेतुकः इत्युपन्यासेन साध्यमानः, इतु-  
श्चाच इत्यर्थविहितपञ्चम्यादिविभक्त्यन्पदप्रतिपाद्यरूपः अत-  
एव इतुविशेषणप्रयोगे न सहेतुकव्यतिरेकः ॥ १८६ ॥

स्थितिमानपि धोरोऽपि रत्नानामाकरोऽपि सन् ।  
तव कक्षा न यात्येव मलिनोमकरात्मयः ॥ १८७ ॥

कमेणोदाहरति । स्थितीति । अत्र मलिनत्वरूपविरह्दु-  
धर्मप्रयुक्तसादृशात्मेषेण प्रस्तुतस्तोत्रकर्त्तव्यतिरेकः,  
न चात्मेष एवायमिति वाच्यं तस्यात्राङ्गतया व्यपदेशकलाभा-  
वात् ॥ १८७ ॥

वहन्नपि मर्द्दी कृत्स्ना सशैलद्वोपसागराम् ।  
भर्त्तभावाङ्गज्ञानां शेषस्त्वत्तोनिकृष्टते ॥ १८८ ॥

वहन्नपीति । भुजङ्गानां उर्पाणाम्, अथ च विटानां । नि-  
कृष्टते निकृष्टीभवति । लक्ष इति सार्थाङ्गीयत इत्यादिवद-  
पादानसंज्ञकस्याऽपि कर्वत्वविवचया निकृष्टत इति कर्मणि  
प्रयोगः । अत्र भर्त्तभावादिति पञ्चम्यन्तपदप्रतिपादेन हेतुना  
प्रस्तुताप्रस्तुतयोरहत्कर्त्तव्यनिकर्षबोध इति वहेतुव्यतिरेकः ॥ १८८ ॥

शब्दोपादानसादृश्यव्यतिरेकोऽयमीदशः ।  
प्रतीयमानसादृश्योऽप्यस्ति सोऽयमिधीयते ॥ १८९ ॥

इत्यं शब्दोपादानसादृश्यव्यतिरेकमुक्ता प्रतीयमानसादृश्य-  
व्यतिरेकं दर्शयन्नात् । शब्दोपादानेति । शब्दस्य साधारण-  
धर्मप्रतिपादकपदस्योपादानेन यत् सादृश्यं तत्पूर्वकोव्यति-  
रेक ईदृशः निरक्षरूपः । शब्द उपादानं प्रतिपादको यस्य

तादृशं सादृशं चत्रेति केचित् । प्रतीयमानेति, प्रतीयमानं  
साधारणधर्माप्रयोगेऽपि सामर्थादवगम्यमानं सादृशं चत्र सः  
साधारणधर्मप्रयोगभावेऽपि प्रसिद्धमादृशेऽरुपमानोपमेय-  
योर्भेदकथनरूप इत्यर्थः । तादृशो व्यतिरेकोऽप्यस्ति सम्भवति,  
सोऽप्यभिधीयते अनन्तरमेव इर्षते ॥ १८८ ॥

त्वनुखं कमलच्छेनि द्वयोरत्यनयोर्भिदा ।  
कमलं जलसंरोहि त्वनुखं त्वदुपाश्रयम् ॥ १९० ॥

अभूविलासमस्तुष्टुमदरागं मृगेत्तणम् ।  
इदनु नयनदन्त्वं तव तद्वुणभूषितम् ॥ १९१ ॥

त्वनुखमिति । इतीति भिदाया विशेषणम् एषेत्यर्थः,  
जलसंरोहि सलिलोत्पन्नम्, त्वदुपाश्रयं त्वन्नाचनिष्ठम् । विभि-  
त्वापादौनत्वात्त्वनुखकमलयोर्भेद इत्यर्थः । अब साधारण-  
धर्माप्रयोगनुखकमलयोः सादृशमग्राव्यमपि प्रसिद्धत्वात्  
प्रतीयते ॥ १८० ॥

अभूविलासमिति । अस्तुष्टुमदरागमप्राप्तमद्यपानकृतसौ-  
हित्यं । मृगेत्तणं मृगस्य चक्षुः । तद्वुणभूषितं तैभूविलासा-  
दिभिर्गुणैरस्तद्वुतम् । अचापि विश्वधर्ममाचप्रयोगात् सादृ-  
शमार्थम् ॥ १८१ ॥

पूर्वस्मिन् भेदमात्रोक्तिरस्मिन्नाधिक्यदर्शनम् ।  
सदृशव्यतिरेकस्य पुनरन्यः प्रदर्शयते ॥ १८२ ॥

उदाहरणदर्शनायाः प्रयोजनं दर्शयति । पूर्वस्मि-  
न्निति । पूर्वस्मिन् लन्मुखमित्याद्युदाहरणे, भेदमानोक्रि-  
तिः न तु प्रस्तुतस्योत्कर्षोक्तिरित्यर्थः । उत्कर्षबोधकवैधर्म्या-  
नुपादानादत्रोत्कर्षस्य व्यञ्ज्यतमेवेति भावः । भेदशाच्च कारण-  
भेदरूपः । उक्तच्च, अयमेव हि भेदोभेदहेतुर्बाह्यदिरुद्ध-  
धर्माभ्यासः कारणभेदस्येति । न च जलसंरोहीत्यस्य जड-  
मंरोरोहीतिशिष्टतया जडोपादानात् कमलादजडोपादानस्य  
मुखस्योत्कर्षः गद्बादेवापस्थित इति कथं भेदमानोक्तिरित्यु-  
क्तिमिति वाच्यम्, तात्पर्याभावेन जलपदस्य जडार्थबोधक-  
त्वाभावात् वस्तुतस्य जलसंरोहीत्यत्र नीरसंरोहीत्येव पठनी-  
यम् । अस्मिन्निति । अस्मिन्ननन्तरोक्ते अभूविक्षासमित्यादिपद्ये,  
आधिक्यदर्शनम् उपमानोपमेयनिकर्षोत्कर्षबोधकविशेषणैरुप-  
मेयस्योत्कर्षमात्रप्रतिपत्तिः न तु साधारणविशेषणमस्ति । सा-  
हृश्चप्रतिपत्तिरिति । भेदशाच्च दयोर्विरुद्धधर्मवत्तया प्रती-  
यते न तु स्फुटशब्देनाभिधीयते । इत्यं विरुद्धधर्मप्रयोगेण  
नन्तादिवाचकशब्देन वा स्फुटभेदव्यतिरेकं प्रदर्श्य सहृश्चध-  
र्ममात्रप्रयोगेणास्फुटभेदव्यतिरेकं दर्शयति । सहृश्चव्यतिरेक-  
स्येति, सहृश्चेन सहृश्चधर्ममात्रप्रयोगेण व्यतिरेकं आधिक्यं  
सहृश्चव्यतिरेकं दृत्यर्थः ॥ १८२ ॥

त्वमुखं पुण्डरीकच्च फुले सुरभिगम्भिनो ।

अमङ्ग्लमरमध्मोजं लोलनेचं मुखन्तु ते ॥ १८३ ॥

सदृशव्यतिरेकोऽपि सादृश्यं शब्दोपाचलेन प्रतीयमा-  
नलेन च द्विविधसत्र शब्दोपादानसादृश्यमेदमुदाहरति ।  
लक्ष्युखर्मिति । फुङ्गलं स्थितशोभितलं विकसितलञ्ज । अत्र  
फुङ्गलसुरभिगच्छिलयोः साधारण्यात् सादृश्यं शब्दोपाचलं ।  
भ्रमदिति, भ्रमद्भ्रमरत्वं लोलने चतुञ्ज धर्मदद्यमसाधारण-  
मपि विम्बानुविम्बतया सदृशमेव नतु विरुद्धं, तेन च मुख्यपु-  
ण्डरीकथोर्भेदः प्रतीयत एव परन्तु विरुद्धधर्मोपादानेन यथा  
स्फुटतरः, नात्र तथेति युज्यत एव भेदविधानम् अत्र भ्रमरा-  
पेचया नेत्रस्थात्कर्षः पर्यालोचनया प्रतीयत इति मुख्याधि-  
क्यालक्षणममन्यः ॥ १८३ ॥

चन्द्रोऽयमस्वरोक्तसंसोहंसोऽयं तोयभूषणम् ।

**भोनक्त्रमालीदमुत्फुङ्गकुमुदं पयः ॥ १८४ ॥**

प्रतीयमानशौक्यादिसाम्ययोश्चन्द्रहंसयोः ।

कृतः प्रतीतशुद्धोश्च भेदोऽस्मिन् वियदम्भसोः ॥ १८५ ॥

पूर्वच शब्दवक्षाम्यमुभयत्रापि भेदकम् ।

मृङ्गनेत्रादि तुल्यं, तत् सदृशव्यतिरेकता ॥ १८६ ॥

प्रतीतशादृश्यं सदृशव्यतिरेकमुदाहरति । चक्र इति ।  
इदमिति काकाचिन्यायान्नभः पयमोर्विशेषणं । नभो नक्त्र-  
मालीदमिदमुत्फुमुदं पय इत्यपि कर्चित्याठः ॥ १८४ ॥

अत्र प्रतीयमानसादृश्यलं सदृशव्यतिरेकलञ्ज सङ्गमयति ।

प्रतीयमानेति । अस्मिन् पदे प्रतीयमानं वाचकाभावेऽपि प्रसिद्धलादवगम्यमानं यत् शोङ्क्यादि आदिना मितपत्तश्चोभितलादीनां यहणं । तेन साम्यं यथोस्तादृश्योश्चन्द्रहंसयोरुपमानोपमेयभृतयोः, तथा प्रतीता गुद्धिर्विस्वानुविस्वलबोधिका स्वच्छता यथोस्तथाविधयोर्वियदम्भसोऽस्य आश्रयतया उपमानोपमेयधर्मभृतयोरित्यर्थः, भेदः कृतः प्रदर्शित इत्यन्ययः । अथर्वः साधारणधर्माप्रयोगात् प्रतीयमानमादृश्योश्चन्द्रहंसयोः स्वच्छतामाधर्म्येण सदृशाभ्यां वियदम्भोरुपविभिन्नधर्माभ्यां व्यतिरेचनं प्रदर्शितमिति प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेकस्य सदृशव्यतिरेकाख्योभेद इति । अत्र पूर्वार्द्धान्ते वियदम्भसोरिति, उत्तरार्द्धान्ते चन्द्रहंसयोरिति पाठो न मनोरमः ॥ १६५ ॥

पूर्वं च तत्त्वमुखमित्यादिज्ञोके शब्दवत् शब्दविज्ञिष्टं साम्यं फुज्ञे इति सुरभिगम्भिनी इति च साधारणधर्मबोधकशब्दाभ्यां मुखपुण्डरीकयोः सादृश्यं प्रतिपादितमिति शब्दोपादानसादृश्योऽयं सदृशव्यतिरेक इत्यर्थः । उभयच सदृशव्यतिरेकत्वं सङ्गमयति उभयत्रापीति, उभयत्रापि ज्ञोकदिव्येऽपि तुत्यं ज्ञाणलादिना स्वच्छत्वादिना च प्रणिधानगम्यमादृश्यं भृङ्गनेत्रादि आदिना वियदम्भसोर्यहणं, भेदकम् उपमानोपमेययोर्भिन्नव्यतिपादनेन निकर्षात्कर्षबोधकं, तत्त्वमात् सदृशव्यतिरेकतेत्यन्ययः । अन्ये लेवंविधस्यले उत्कर्षनिकर्षयोः स्फुटप्रतीतेरभावात् तस्मा एवच व्यतिरेकव्यपदेशस्य जीवातुभृत-

तात्र व्यतिरेकलमुचितं किन्तु धर्मयोर्विभानुविभत्तादुपमा-  
ध्वनिरेवाथमिति वदन्ति ॥ १८६ ॥

अरब्लासोकसंहार्यमवार्यं स्वर्यरज्जिमभिः ।  
दृष्टिरोधकरं यूना यौवनप्रभवं तमः ॥ १८७ ॥  
सजातिव्यतिरेकोऽयं, तमोजातेरिदं तमः ।  
दृष्टिरोधितया तुल्यं, भिन्नमन्त्यैरदर्शिं यत् ॥ १८८ ॥

### व्यतिरेकचक्रम् ।

सजातिव्यतिरेकमाह । अरब्लासोकेति । दृष्टिरोधकर-  
मिति, दृष्टिसञ्ज्ञानम्, तमामाहोऽन्यकारश्च, सेषवशादेव  
तमः पदेनोपमानोपमेयभूततमोदयप्रतिपादनात् मामान्यलक्ष-  
णसमन्त्यः, व्यञ्जनया उपमानतमः प्रतीतेरच व्यतिरेक इति  
केचित् । अत्र दृष्टिरोधकरमितिविशेषणस्तोभयहृत्तत्वात्  
मादृशं ग्रावदं । अरब्लासोकेत्यादिविशेषणदयस्तोभयमाच-  
हृत्तित्वाङ्गेदकम्, एतदेव दर्शयति सजातिव्यतिरेकोऽयमिति  
समाना जातिर्थं स सजातिः सजातितोव्यतिरेचनं सजातिव्य-  
तिरेक इत्यर्थः । इदं प्रस्तुतं यौवनप्रभवं तमः, तमोजातेर्जान-  
प्रतिव्यक्तत्वरूपतमस्त्रधर्मवतोऽप्रस्तुततमः मामान्यस्य दृष्टिरो-  
धितया दृष्टिरोधित्वरूपसाधारणधर्मसम्बन्धितया तुल्यं, तथा  
चन्तौः अरब्लासोकेत्याद्यसाधारणधर्मर्भिन्नम् हता अदर्शि-  
तत् सजातिव्यतिरेकोऽयमित्यर्थः । अत्र अन्तैरिति वज्ञ-

वचनेन अहोरात्रवृत्तिलादीनां परियहः अन्यथा विरुद्ध-  
धर्मद्वयस्त्रैपापादानाद्भवचनानुपपत्तेः । भिन्नमित्यनेनान्ये  
त्वं तमोजातेरित्यस्य विपरिणामेन पञ्चम्यन्तता ज्ञातव्या, अन्ये  
तु तम एव तम इति शिष्टरूपकमिदं विरुद्धधर्मोपादाना-  
दधिकारूढवैशिष्ठमित्याङ्गः ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

प्रसिद्धहेतुव्याख्यात्य्या यत्किञ्चित् कारणान्तरम् ।

यत्र स्वाभाविकत्वम्बा विभाव्यं सा विभावना ॥ १६९ ॥

विभावनां लक्षयति । प्रसिद्धेति । यत्रेति वैचित्रे इत्यर्थः ।  
प्रसिद्धस्य सामान्यतोलोकविस्त्रातस्य न तु तात्त्विककारण-  
तापत्रस्य हेतोर्व्याख्या असङ्गावप्रदर्शनेन यत्किञ्चिदतिगूढं  
कारणान्तरं यत्र वैचित्रे विभाव्यं फलोत्पत्त्यनुपपत्त्या निपु-  
णाभिनिवेशेनानुसन्धानीयं, तथा स्वाभाविकत्वम्बा निपुणानु-  
सन्धानेनापि कारणान्तराप्रतीतेः फलस्य स्वतःसम्बद्धमान-  
त्वम्बा विभाव्यं, सा द्विविधवैचित्ररूपा विभावनेति योजना,  
इत्यस्य विना प्रसिद्धहेतुमुत्पन्नस्य फलस्य गूढकारणान्तरवि-  
भावनजन्मं कारणान्तरानुपसन्ध्या नैसर्गिकलभिन्नस्य यजन्मं वा  
वैचित्रं विभावनेति लक्षणं, ततस्य कारणान्तरं स्वाभाविकत्वं  
वा विभाव्यतेऽस्याभिन्नधिकरणप्रत्ययान्तो योगरूढोऽयं वि-  
भावनाशब्दः असङ्गारमंज्ञानां प्रायेण योगरूढत्वात् । न-  
व्याप्तु कारणाभावे फलोत्पत्तिवर्णनं विभावनेत्याङ्गः तत्र  
विभावनेतिसंज्ञाया नान्यर्थतेति नैतत् सम्बक् । अत्र कार-

णान्तरस्य क्वचिच्छाब्दं, यथा, “अनायासहृष्टं मध्यमशङ्कत-  
रसे दृश्ये । अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभुवः” । इति, अत्र  
वयोरूपं कारणान्तरमुक्तं तस्य च कारणतयाऽनिर्देशादिभा-  
व्यत्वं । क्वचिदार्थं, यथोदाहरिष्यते अपीतचीवकादम्बमि-  
त्यादि, अत्र शरत्कालस्थपकारणान्तरमनुपातं विभावनोयं ।  
खाभाविकलमपि क्वचिच्छाब्दं यथा, वक्त्रं निसर्गसुरभोत्यादि  
क्वचिच्छार्थं यथा, अनञ्जितामिता दृष्टिरित्यादि । प्रसिद्धका-  
रणाभावस्य क्वचिच्छाब्दः, यथा, अपीतचीवेत्यादि । क्वचि-  
च्छार्थः यथा वक्त्रं निसर्गेत्यादि । यत्र तु कारणविरुद्धमङ्गा-  
वेन कारणाभावप्रतिपादनं तत्रापीयं भवति परन्तु न स्फुट-  
तरा, यथा, यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैवत्त्वपा-  
क्षे चाक्षीलितमालतीसुरभयः प्रोढाः कक्षानिलाः । सा  
चैवाक्षि तथापि तत्र सुरत्वापारलोकाविधौ रंवारोधसि  
वेतसोत्तरसे चेतः समुक्तण्ठते । इति, अत्रोक्ताण्ठाका कार्यस्य  
प्रसिद्धेत्वानां पत्यभावादीनामभावोविरुद्धेन पत्वा, इसङ्गावेन  
प्रतिपादित इति नात्र स्फुटत्वमस्याः अत एताव ग्रकाशङ्कता,  
अत्र स्फुटोन क्वचिदलङ्घार इत्युक्तं ॥ १८८ ॥

अपीतशीवकादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम् ।

अप्रसादितशुद्धाम्बुजगदासीमनोहरम् ॥ २०० ॥

तत्र कारणान्तरविभावनामुदाहरति । अपीतेति । अ-  
पीताः मधून्यपीतवक्त्रोऽपि छीवा मत्ताः कादम्बाः कस्त्वंसा

यत्र तत् । अपीतेति, भोजनार्थतात् पिवते: कर्त्तरि तः ।  
तथा अमंस्युमपि अमलमवरं यत्र तत् । अप्रसादितं कत-  
कादिना प्रमादमप्रापितमपि शुद्धं स्वच्छमम् यत्र तत् ।  
अत्र पानं चोवलस्य, मार्जनममलत्वस्य, प्रमादनं शुद्धत्वस्य,  
प्रमिद्धं कारणं तदमङ्गावेऽपि चोवलादिफलोत्तर्त्तिरिति प्र-  
मिद्धकारणाभावः शाब्दः, तादृशफलोत्तर्त्तिश्च प्रमिद्धकार-  
णाभावेऽप्युपनिवध्यमाना प्रसवलद्वूपतया कारणान्तरमपेत  
इति शरत्कालरूपं कारणान्तरं विभावयति, तदत्त्वार्थं का-  
रणान्तरम् ॥ २०० ॥

अनञ्जिताऽसिता दृष्टिभूरनावर्जिता नता ।  
अरञ्जितोऽरुणायामधरस्तव सुन्दरि ॥ २०१ ॥

स्वाभाविकत्वविभावनामुदाहरति । अनञ्जितेति । अन-  
ञ्जिता अञ्जनेनालिप्तापि दृष्टिरसिता श्यामला । तथा अनाव-  
र्जिता अनाञ्जयोटिदियापि भूर्नता वका, अरञ्जितो लाचा-  
दिभीरागमप्रापितोऽपि अधरोऽहणः । अत्र अञ्जितत्वमसि-  
तत्वस्य, आवर्जनं नम्रतायाः, रञ्जितत्वमरुणत्वस्य प्रसिद्धं  
कारणं, तञ्चित्तावप्युत्पद्यमानमसितत्वादि कार्यं दृष्टकार-  
णान्तराभावादिधिनिर्मितत्वरूपस्वाभाविकत्वं विभावयति ।  
तत्र स्वाभाविकत्वमिह गम्यं । प्रसिद्धकारणाभावस्य शाब्दः ॥  
॥ २०१ ॥

यदपीतादिजन्यं स्यात् चीवत्वाद्यन्येतुजम् ।  
अहेतुकस्त्र तस्येह विवक्षेत्यविहृत्वा ॥ २०२ ॥

उदाहरणदये निहकनक्षणदयं सङ्गमयम् कारणाभावे  
कथं कार्योत्तत्तिरिति विरोधं वारयति । यदपीतादीति ।  
पीतं पानं भावे कः, आदिना उत्तरस्त्राकगतानामयन-  
च्छित्वादीनां परियहः, एवं चीवत्वादीत्यादिना अस्मित-  
लादीनाम् । अपीतादिजन्यं पानाद्यजन्यं किन्तु अन्येतुजं  
शरन्त्कालस्त्रपकारणालजन्यं, तथा अहेतुकस्त्र कारणमन्त-  
रेण स्वतःसिद्धुञ्च यत् चीवत्वादि स्याद्वति तस्येह विवक्षा  
इत्यतोऽविहृत्वा व्यभिचाराभाव इत्यस्ययः, अयमर्थः, दण्डा-  
रणिन्यायेन प्रत्येकपर्याप्तकारणतायां व्यभिचारापत्या कार्य-  
गतं पैजात्यमवग्यमङ्गीकरणीयं, ततस्त्र प्रकृते पानादिजन्यं  
चीवत्वादिकमन्यत् शरन्त्कालजन्यमन्यदिति पानादिकारणा-  
भावेऽपि शरन्त्कालं विजातीयमिदं चीवत्वादिकं तस्माच्च  
व्यभिचारसम्भवः, एवमस्त्रनलेपादिलौकिककारणजन्यमसित-  
त्वादिकमन्यत् स्त्रभावसिद्धुञ्चान्यदिति नाचापि व्यभिचार-  
गङ्गेति, वैचित्रन्तु विभिन्नानामपि चीवत्वादीनामेकताध्व-  
सानेन अहो असत्यपि कारणे कार्यमिति चमत्कारोदया-  
दिति विवेचनोयम् ॥ २०३ ॥

वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुरव्याजसुन्दरम् ।  
अकारणरिपुश्वन्द्रो निर्निमित्ताऽसुहृत् स्मरः ॥ २०४ ॥

निसर्गादिपदैरत्र चेतुः साशान्निवर्जितः ।  
उक्तच्च सुरभित्वादि फलं, तत् सा विभावना ॥ २०४ ॥  
॥ इति विभावनाचक्रम् ॥

शाब्दं स्वाभाविकलमुदाहरति । वक्त्रमिति । निसर्गेण  
स्वभावेन, न तु केनापि कर्पूरादिगम्भवस्तुना सुरभि । अव्याजे-  
नाकपटेन सुन्दरं, न तु वसनाभरणादिना कृत्तिमसौन्दर्यवत् ।  
अकारणरिपुः विरोधादिकारणं विनैव विरहिषां ताप-  
कारी । एवं निर्निमित्ताऽसुइदिति । अत्र सुरभित्वादीनां  
स्वाभाविकलं निसर्गादिपदवोधमिति शाब्दमेव । नन्तरं प्र-  
मिद्धुहेतुव्याघृत्यभावात् कथं लक्षणसमच्चय इत्यचाह, निस-  
र्गादिपदैरिति । साचाक्षत्रादिवाचकशब्दवत् । सुरभित्वादि-  
फलं सुरभित्वादिफलस्य स्वाभाविकलम्, उक्तच्च वोधितच्च ।  
निसर्गादिपदाति हेतुषङ्गावं निवर्त्यन्ति, सुरभित्वादि-  
फलस्य च स्वाभाविकलं वोधयस्तीत्यर्थः । तत्त्वात् कारणा-  
भावफलस्वाभाविकलयोः प्रतीतत्वादित्यर्थः । सा निरुक्तलक्षणा  
विभावना अत्र वर्तते इत्यच्चयः । तस्मा इत्यत्र तस्मादिति  
कृचित् पाठः ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

वस्तु किञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्थान्यवस्तुनः ।  
उक्तिः संशेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ॥ २०५ ॥

अथ समासोक्तिं लक्षयति । वस्तुति । किञ्चित् किमपि प्रस्तुतं

वसु अभिप्रेत्य चमत्कारितप्रतिपिपादयिष्यदा व्यञ्जनया  
प्रतिपादयितुमभिलष्य तच्चल्यस्य तदुपमानभृतस्यान्यवस्तुनः  
कस्यचिदप्रस्तुतस्योक्तिः शब्देन प्रतिपादनं सा समामोक्तिरित्य-  
स्ययः । शब्दया प्रतिपादनापेक्षया व्यञ्जनया वस्तुनः प्रतिपा-  
दनं हि चमत्कारविशेषं जनयति, यदुकं ध्वनिकृता ‘वाच्यो-  
र्जीयो न तथा स्वदते प्रतीयमानः स एव यद्येति, संज्ञावीज-  
माह, संचेपहृपलादिति समामः संचेपः, संचेपश्च एकस्य प्र-  
योगेणोभयप्रतीतिः, प्रकृतेच प्रस्तुताप्रस्तुतस्याद्यारकस्याप्रस्तु-  
तस्य प्रयोगेण प्रस्तुतस्यापि प्रतिपक्षिगतिः । एतनोपमाना-  
काव्यादतिप्रसिद्धेहृपमेयम् प्रतीतिः समामोक्तिरित्यर्थः ।  
तदुकं भोजराजेन, ‘यद्यापमानादैवेतदुपमेयं प्रतीयते । अति-  
प्रसिद्धेस्तामाङ्गः समामोक्तिं मनोपिणः । प्रतीयमानं वाच्ये  
वा साहृदये मोपजायते । आघां गर्वामुभे नाभे तदपाधीन् प्र-  
चक्षते । विशेषमात्रभिन्नापि तु न्याकारविशेषणा । अस्यमा-  
वपराण्यस्ति तु चातुर्भवित्तिष्य । संक्षेपणांश्चते यस्मात् य-  
मामोक्तिरित्यं ततः । मेवान्याकिरनन्याकिरभयाकिय कर्त्तते  
इति । वस्तुतस्तु समामोक्तावस्यामुपमानस्त्रै वाच्यलमुपमेय-  
स्यैव गम्यत्वमिति न नियमः उपमेयादयुपमानप्रतीतो तद-  
भ्युपगमस्त्रैचित्यात् । यथा, ‘वाधूय यदुमनमम्बुजस्त्रोचनाया  
वच्छाजयोः कनककुम्भविलासभाजोः । आस्त्रिङ्गमि प्रमभमङ्ग-  
मशेषमस्त्राद्यन्यस्त्रैव मस्त्रयाचलगम्यवाह’ इति । अत्र ज्ञाव्य  
मस्त्रयानिलस्योपमेयत्वं गम्यस्त्र च इठकामुकस्त्रोपमानलमिति ।

अतएवाद्येऽपमानमुपमेयं वानज्ञभाव्यैव स्वच्छं कृतं यथा,  
 ‘यत्रोक्ताङ्गस्यतेऽन्यार्थस्तस्मानविशेषणः । सा समामोक्ति-  
 दिता संज्ञेपार्थतया बुधैः’ इति । नव्यास्तु प्रस्तुतादप्रस्तुत-  
 प्रतीतौ समामोक्तिः, अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसे-  
 त्याङ्गः । वाच्ये प्रस्तुतेऽप्रस्तुतयवद्वारसमारोपः समामोक्ति-  
 रिति विश्वनाथादयः । स्वमते समामोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसयोर्भेद-  
 मप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरणे विवेचयिष्यामः ॥ २०५ ॥

पिवन्मधु यथाकामं भमरः फुलपङ्कजे ।  
 अप्यसन्नद्वैरभ्यं पश्य चुम्बति कुद्धलम् ॥ २०६ ॥  
 इति प्रौढाङ्गनावद्वरतिलोलस्य रागिणः ।  
 कम्याच्चिदित्त वालायामिच्छावृत्तिर्विभाव्यते ॥ २०७ ॥

अत्र वाच्याङ्गस्यप्रतीतौ तयोः कार्यस्तिङ्गविशेषणानामन्य-  
 तस्य साम्यं हेतुरिति प्रथमं कार्यमास्ये उदाहरति । पित्र-  
 ऋति । असन्नद्वैरभ्यमसञ्चातमधुगम्भम् । स्वच्छं सङ्गम-  
 यति । इतीति । इतीह इत्यस्मिन् पदे, वालायामनुद्धिष्ठ-  
 योवनायाम्, इच्छाटत्तिः सुरताभिसाषप्रटृत्तिः, विभाव्यते  
 कार्यमास्येन व्यज्यते । अत्राप्रस्तुतस्य भमरस्य कार्यं फुलपङ्कज-  
 मधुपात्रपूर्वकपङ्कजकोरकमधुपानेच्छा, प्रस्तुतस्य कामुकस्य च  
 प्रौढाङ्गनारतिलोलापूर्वकवालासुरतेच्छा तयोश्च विभानुवि-  
 भतास्येवेति साम्यमेव तेन चाप्रस्तुताद्भमरात् प्रस्तुतस्य कामु-  
 कस्य प्रतीतिः ॥ २०६ ॥ २०७ ॥

विशेष्यमात्रभिन्नापि तुल्याकारविशेषणा ।  
अस्यसावपराप्यस्ति भिन्नाभिन्नविशेषणा ॥ २०८ ॥

विशेषणसाम्यनिबन्धनां समासोक्तं दर्शयन् विशेषणात्-  
स्थाभिन्नत्वेन भिन्नाभिन्नत्वेन च भेदद्वयमाह । विशेष्येति ।  
विशेष्यमात्रं विशेष्यपदमेव भिन्नं स्मेषानवष्टुमादेकमात्रबोधकं  
यत्र सा । मात्रपदाद् विशेषणभिन्नत्वादासः । अपिना पू-  
र्वोक्तकार्यसाम्यसमासोक्तिसमुच्चयः । विशेष्यपदस्य द्विष्टत्वे तु  
द्वयोः प्रस्तुतत्वे स्मेषास्तद्वाराः, एकस्य तथात्वे तु ग्रन्थकिमूलो  
धनिरिति वोध्यम् । तुल्येति, तुल्याकारं स्मेषावष्टुमेन वाच्य-  
व्यञ्ज्याभयधर्मबोधकं विशेषणं यत्र सेव्यका, अत्र स्मेषवशा-  
देकाकारग्रन्थप्रतिपाद्यत्वेन विशेषणधर्माणां साम्यम् । अपरा-  
यस्तीति । अत्रापि विशेष्यमात्रभिन्नत्वादुपज्यते । भिन्नमेक-  
मात्रगामि अभिन्नमुभयगामि च विशेषणं यत्र सा । भिन्न-  
विशेषणस्य तु व्यञ्ज्यधर्मेण विमप्रतिविमतया साम्न्, इत्यस्य  
द्विष्टविशेषणा द्विष्टाद्विष्टविशेषणा चेति हौ भेदावित्यर्थः । स्मे-  
षसात्र ग्रन्थगतोऽर्थगतस्त्वेति द्विविधा बोधन्तेनापर्यैरङ्गोहनं  
विशेषणसाधारण्यगर्भभेदान्तरं पृथक्कृत वक्तव्यम् अर्दद्वेषाव-  
ष्टुभविशेषणस्यैव साधारण्यात्, यथा ‘निःर्गमौरभोऽस्त्राम्भङ्ग-  
सङ्गोत्तराज्ञिनी । उद्दिते वासराधीष्ठे स्मैराजनि सरोजिनी’ ।  
अत्र निःर्गत्वादिविशेषणं साधारणं तेन च नायिकाप्रतीतिः।  
केचित्तु औपस्थगर्भत्वेन च विशेषणसाम्यं भवति, औपस्थगर्भ-

तस्य उपमारूपकतस्याहरणव्यालरूपं तेन च विशेषणसाम्बे  
भेदचयान्तरं ज्ञातव्यमित्याङ्गः तत्र हचिरं तथाविधस्त्वा ए  
एकदेशविवर्त्युपमातादृशरूपकयोरेवाङ्गीकारस्त्रिचित्यात् अ-  
न्यथा, ‘ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरहधानार्दनखलताभम् ।  
प्रमोदयन्तो मकलाहमिन्दुं तापं रवेरयधिकं चकार’। इत्या-  
दावार्दनखलताभेदधनुधीरशरूपविशेषणस्य नायिकाया अम-  
मवेन विशेषणसाम्बाभावात् कथं नायिकाप्रतीतिः तस्मा-  
देवमादावेकदेशविवर्त्युपमैव, एवं ‘लावण्यमधुभिः पूर्णमा-  
स्यमस्याविकस्तरम् । लोकलोचनरोस्तम्बकदम्बैः कैर्न पीयते’।  
इत्यादावेकदेशविवर्त्युपकमेव ॥ २०८ ॥

रुद्धमूलः, फलभरैः पुष्णनिश्चर्थिनः ।

सान्द्रच्छायो महावृक्षः सोऽयमासादितो मया ॥ २०९ ॥

अनल्पविटपाभोगः फलपृष्ठसम्बृद्धिमान् ।

सुच्छायः स्थैर्यवान् दैवादेप लभ्यो मया द्रुमः ॥ २१० ॥

उभयत्र पुमान् कश्चिद्वृक्षत्वेनोपवर्णितः ।

सर्वे साधारणा धर्मान् पूर्वचान्यत्र तु दयम् ॥ २११ ॥

कमेणोदाहरति । रुद्धमूल इति । रुद्धं प्रदृढं मूलं शिफा,  
अन्यत्र मूलधनं यस्य सः । फलभरैः अस्यातिशयैः, अन्यत्र  
धनस्त्राभैरर्थिनः पुष्णम् । माङ्गा बज्जला छाया आतपाभावः,  
अन्यत्र कान्तिर्थस्य सः । सोऽयं प्रसिद्धः । अत्र मूलादिवस्त्रा-  
नामनेकार्थत्वेन विशेषणानामभिन्नतं । तथाच मेदिनी ‘मूलं

शिफाद्योः, मूखविज्ञेऽन्तिके वा नेति । फलं जातीफले शस्ये  
हेतुत्ये शुष्टिसाभयोरिति । क्वाचा स्थादातपाभावे प्रतिविम्बा-  
कर्योषितोः । पालनोत्कोचयोः कान्तिसच्छोभापङ्गिषु स्ति-  
याम् इति च । महाट्वपदस्त्वेकार्थमेवेति वाच्यज्ञवाक्या-  
र्थयोर्विशेषं भिन्नमेव ॥ २०८ ॥

अनन्तेति । अनन्तो विटपद्य शाखाविस्तारस्याभोगः पू-  
र्णता यस्य सः । फलानां शस्यानां पुष्पाणां शस्य सम्भृः प्राचुर्यं  
त्रिद्यते यस्य सः । अत्र पुष्पसाहचर्यात् फलपदस्य शस्यमात्र-  
वाचकलेनैकार्थत्वमेव । सुच्छायः पञ्चवनैविद्यादधिकातपाभा-  
वः, अन्यत्र शोभनकान्तिः । स्त्रैर्यमविचलितमूलत्वम्, अन्यत्र  
सत्यपि विघ्ने व्यवसायादचलनं, तदान् । दैवाद्भाग्यात् ॥  
॥ २१० ॥

उभयत्रेति । उभयत्र पद्यदये, कश्चित् प्रमुतः पुनान्, द्रुत-  
त्वेन उपमानभृतवृक्षस्यापमेयत्वेन, उपवर्जितः त्रिष्टुप्त्रणसा-  
धारण्योत्पत्तया व्यञ्जनया बोधितः । पूर्वं च पद्य सर्वे धर्मा  
विशेषणभृताः साधारणाः शिष्टपदप्रतिपाद्यत्वेनैकरूपत्वाद्-  
भयान्वयित्वेनाभिन्नाः । अन्यत्र परं च पद्ये तु दयं सुच्छायत्व-  
स्त्रैर्यवच्चधर्मयोर्युग्मं शिष्टपदप्रतिपाद्यत्वादभिन्नं । विटपदम्-  
युष्पाणान्वेकार्थपदप्रतिपाद्यत्वाङ्गिन्नत्वमेव, तेषां साधारण्यन्  
प्रतीयमानपुरुषगतैस्मात्प्रजातीयधर्मैः सह विम्बप्रतिविम्बतयेति  
बोध्यम् अन्यथा तेषां व्यञ्जनानुत्पापकत्वेनापुष्टवदोषापन्नः ।  
शयस्त्र चरमभेदो वैचित्रविशेषाजनकत्वात्मव्यैर्हपेतितः ॥ २११ ॥

निवृत्तव्यान्संसर्गो निसर्गमधुराश्यः ।  
 अयमस्मोनिधिः कष्टं कालेन परिगृह्यते ॥ २१२ ॥  
 इत्यपूर्वसमासोक्तिः पूर्वधर्मनिवर्जनात् ।  
 समुद्रेण समानस्य पुंसो व्यापत्तिमृच्चनात् ॥ २१३ ॥  
 ॥ इति समासोक्तिचक्रम् ॥

अभिन्नविशेषणसमासाकौ रुद्धमूल इत्याद्युदाहरणप्रद-  
 शनेन विशेषणानां तात्त्विकतं प्रतिपादितं । मम्यति विपरीत-  
 धर्मार्थेण भेदान्तरं दर्शयनुदाहरति । निवृत्तेन । निवृत्तेन  
 व्यालानां सर्पणाम्, अन्यत्र खलानां संसर्गो यस्मात् सः ।  
 तथा निसर्गेण मधुराश्यः सुम्बादजलाधारः, अन्यत्र मदयह-  
 दयः, कालेन ममयविशेषण अन्यत्र यमेन, परिगृह्यते नि-  
 र्जलीक्रियते अन्यत्र विनाश्यते । अत्र व्यालसंसर्गवलवणाश्य-  
 त्वे एवास्मोनिधिः पूर्वमिहृधर्मो तत्त्विवर्जनेन तदिपरीतव्याल-  
 संसर्गाभावनिसर्गमधुराश्यत्वधर्मो वाच्येऽस्मोनिधावारोपितैः,  
 व्यञ्जे च तात्त्विकावित्यभिन्नौ, ततश्च प्रस्तुतपुरुषविशेषप्रतीति-  
 रित्यपूर्वसमासोक्तिरित्यम् । एतदेव मङ्गलमयति । इत्यपूर्वेति ।  
 अपूर्वते हेतुः पूर्वधर्मनिवर्जनादिति, पूर्वधर्मो पूर्वमिहृ-  
 धर्मो व्यालसंसर्गवणाश्यत्वरूपौ तयोर्निवर्जनादपलापात्  
 तदपलापेन तदिपरीतधर्माध्यासादित्यर्थः । समासोक्तिमङ्गावे  
 हेतुः समुद्रेणेत्यादिः । इत्यं कार्यविशेषणयोः साधारण्यकृतभेदा  
 दर्शिताः । लिङ्गमाधारणभेदो यथा, ‘असमाप्तजिगीवस्य स्त्री-

चिन्मा का मनस्त्वः । अग्राकम्य अग्रत् हत्तं नो सन्धां  
भजते रविः । अत्रोच्चराहैं स्त्रीपुंलिङ्गसाधारणेन नायक-  
नायिकाप्रतीतिः, एवमनेऽपि समासोऽपि भेदा भोजराजादि-  
भिरुक्तास्तेषां प्रबन्धे पु जातया ॥ २१२ ॥ २१३ ॥

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी ।

असावतिश्योऽक्तिः स्याद्लङ्घारोत्तमा यथा ॥ २१४ ॥

अथातिश्योऽक्तिं स्वत्ययति । विवक्षेति । विशेषः प्रस्तुतवस्तुत  
उत्कर्षः तस्य या लोकसीमातिवर्त्तिनी लोकमर्यादातिरिक्ता  
अत्यधिकेत्यर्थः, विवक्षा उक्तिः भङ्गा प्रतिपादनमित्यर्थः,  
असावतिश्योऽक्तिः स्यादित्यन्वयः । विवक्षेति खार्यं सन् इत्या-  
या अलङ्घारत्वाभावात् । विवक्षाया लोकसीमातिवर्त्तिं लभ्य-  
परम्परया विशेषस्यैव लोकसीमातिवर्त्तिं लेन प्रतिपादितस्य  
चमल्कारजनकत्वात् । स्यष्टमुक्तमाग्रेयं, ‘लोकसीमातिवर्त्तिं स्व  
वस्तुधर्मस्य कीर्तनम् । भवेदतिश्यो नाम सम्भवेऽस्मवेद दिधा’  
इति । वस्तुधर्मस्य प्रस्तुतवस्तुतो गुणाद्यापि कृपतो त्वकर्त्तव्य-  
र्थः । क्वचिच्च लोकसीमातिवर्त्तिं इत्येवं पाठः । इत्यस्य  
प्रस्तुतवस्तुतोऽत्यधिकोत्कर्षोऽक्तिरतिश्योऽक्तिरिति स्वत्वम्, अ-  
तिश्य उत्कर्षस्याक्तिरित्यन्वर्यता । एवस्य लोकसीमाति-  
वर्त्तिं लभ्य विशेष एवान्वयात् प्रस्तुतवस्तुति चानन्वयास्त्राच-  
काक्तिगुणवत्वाभावदङ्गा, प्रस्तुतवस्तुत एव तथाते काक्तिम-  
न्वयामात् वार्त्ताभिधानादावेव वा काक्तिसङ्गावभियमेनान्वयव-

तदभावे दोषाभावात् । एवमपि वक्ष्यमाणोदाच्चेनास्या न  
ममानविषयलम् । अत्र प्रसुतोत्कर्षातिशयप्रतिपादनस्ताप्रसु-  
ताभेदाध्यवमानादिना । अतिशयोक्ति प्रशंसति । अलङ्कारोत्त-  
मेति सर्वालङ्कारजीवातुभूतलादर्थनीयार्थात्कर्षातिशयबोध-  
कर्त्तव्य च मत्कारविशेषजनकलाच्चेत्यर्थः ॥ २१४ ॥

**मञ्जिकामानभाग्यिः सर्वाङ्गीणार्दचन्दनाः ।**  
**क्षैमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्ञेन्स्त्रायामभिसारिकाः ॥ २१५ ॥**

उदाहरति । मञ्जिकेति । मालाशब्दस्यैकादिलाच्चद-  
न्तस्य चेति हस्तः । ईदृशं सामान्यालङ्कारभिच्छन्दने । अत्र  
ज्ञातद्वैत्र वर्णनीयत्वात् प्रसुता, तस्या शेतिमा मञ्जिकामाला-  
दिलतनायिकाश्वेतिमाभिन्नतया वर्णनादत्यधिकत्वेन प्रतो-  
यते, यदा ज्ञात्वां रजन्यां ताइश्चाभिसारिकाणामलक्ष्यत्वस्या-  
मन्वन्येऽपि तत्कर्त्तव्यात् प्रसुतज्ञात्वायाः शेतिमोत्कर्षः प्रतो-  
यते ॥ २१५ ॥

**चन्द्रातपस्य वाङ्गच्यमुक्तमुत्कर्षवत्तया ।**  
**संशयातिशयादोनां व्यक्तौ किञ्चिन्निदर्शयते ॥ २१६ ॥**

अत्र स्वच्छं सङ्गमयति । चन्द्रातपस्ये ति । चन्द्रातपस्य प्रसुत-  
ज्ञात्वाया उत्कर्षवत्तया उत्कृष्टत्वप्रतिपादनार्थे वाङ्गस्य गाढ-  
त्वमुक्तम् अभिसारिकाणां ताइश्चशेतिमा सहाभिन्नत्वप्रतिपा-  
दनेन सत्यपि स्वक्ष्यत्वेऽस्त्वयत्वप्रतिपादनेन वा बोधितमित्यर्थः ॥

भेदान्तराणि प्रदर्शयन्नाइ । संशयेत्यादि । संशयेनाति-

श्यः प्रसुतोत्कर्षः । आदिना निर्जनादिपरियहः । अको  
प्रकाशनाथ, निमित्ते सप्तमी । किञ्चिङ्गदान्तरं एव बाहुभ्य-  
भिया न तु वहवो भेदा इत्यर्थः ॥ २१६ ॥

स्तनयोर्जघनस्यापि मध्ये मध्यं प्रिये तव ।  
अस्ति नास्तीति सन्देहो न मेऽद्यापि निवर्तते ॥ २१७ ॥

स्तनयोरिति । स्तनयोरतिस्युलयोः, एवं जघनस्यातिस्यु-  
लस्य, अपिभिन्नक्रमे मध्ये वर्त्तमानमपि, अपिना मन्देहा-  
सम्भवः सृचितः । तथापि मध्यस्यातिकृगतेन मध्यगलच्यत्वात्  
सन्देहावतारः । अत्र तथाविधमंशयस्याममन्त्रेऽपि तत्कलमन्त्र-  
कल्पनेन मध्यस्य कृशत्वातिशयः प्रतिपादित इति संशयाति-  
श्योऽकिरियम् ॥ २१७ ॥

निर्षेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नित्यिनि ।  
अन्यथा नोपपद्येत पद्योधरभरस्याति ॥ २१८ ॥

निर्षयातिशयोऽकिमुदाहरति । निर्षेतुमिति । तव मध्यम्  
अस्तीति निर्षेतुं शक्यम्, अन्यथा मध्यमद्वावं विना पद्योधर-  
भरस्यितिर्नापपद्यते, निरवलम्बनस्य गुहवस्तुमः स्यतेरममवा ।  
दित्यस्ययः । अन्यथानुपपत्त्यैव पद्योधरभरस्यितेति कर्त्तव्य-  
पाठः । अत्र निरपलम्बनपद्योधरभरस्यित्यनुपपत्तिकृतग्राम्या-  
क्षिलविषयस्याममन्त्रेऽपि तत्कल्पनेन मध्यस्य कृशत्वातिशयो-  
क्षेर्निर्षयातिशयोऽकिरियम् ॥ २१८ ॥

अहो विशालं भूपालभुवनत्रितयोदरम् ।  
माति मातुमग्निः पि यशोराश्चिर्यदत्र ते ॥ २१८ ॥

आश्रयाधिक्यातिशयोक्तिसुदाहरति । अहो इति । अहो  
अस्तुतमत्यन्तमित्यर्थः, मातुमग्निः पि अपरिमितोऽपि ।  
अत्राश्रयभृतस्य भुवनत्रितयस्याधिक्यप्रतिपादनेनाश्रितस्य य-  
शोराश्चिर्यदत्राधिक्याक्तेराश्रयाधिक्यातिशयोक्तिरियम् । अतएवा-  
त्राधिकालङ्कारमिच्छन्ति नव्याः । एवमस्यां प्रस्तुतस्य निगर-  
णेनाप्रस्तुताध्यवमानादत्कर्षात्मो चमन्त्रारातिशयः, यथा ‘लता  
मूले लीनो हरिणपरिहीनो हिमकरः स्फुरन्ताराकारा ग-  
स्ति जलधारा कुवलयात् । धुनीते बन्धुं तिलकुसुमजन्मा-  
पि पवनो वहिर्दारे पुण्यं परिणमति कस्यापि कृतिनः’ । अत्र  
मुखादीनां निर्गीर्लानां हिमकराद्यध्यवमानेनात्कर्षातिशयः ।  
नव्यास्तु कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययेऽप्यतिशयोक्तिमि-  
च्छन्ति, यथा ‘हृदयमधिष्ठितमादौ मालयाः कुसुमचाप-  
वाणेन । चरमं रमणीवलभ सोचनविषयं त्वया भजता’ इत्या-  
दो । स्वमतेत्वत्र वच्यमाणैहेत्वलङ्कार एव ॥ २१९ ॥

अनङ्कारान्तराणामण्येकमाङ्गः परायणम् ।  
वागोश्महितामुक्तिममामतिशयाङ्ग्याम् ॥ २२० ॥  
॥ इत्यतिशयोक्तिचक्रम् ॥

अस्या अलङ्कारोन्तमत्वं व्याकरोति । अलङ्कारेति । वा-  
गोश्महितां दृहस्यतिनापि प्रशंसितां वास्मीक्यादिमहाकवि-

भिराहृतां वा इमामतिशयाङ्ग्यामुक्तिशयोक्तिम् अलङ्कारान्तराणामयेकमहितीयं परायणमवलम्बनमाङ्गः प्राक्तननिवन्धार इति शेषः । प्रस्तुतोऽल्पर्थातिशयरूपाया अस्या एव वैचिच्छृपत्वात् सर्वचायभिचारित्वाच्च अलङ्कारान्तराणामुपजीव्यत्वम् एतदभावे च वैचिच्छाभावेन विद्यमानानामयुपमादीनां नालङ्कारत्वं, यथा ‘गौरिव गवय इत्यादौ’ यदुकं । ‘सैव सर्वत्र वक्तोकिरनयार्थो विभावते । यद्वाऽस्यां कविनाकार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना’ इति । अन्यच्च, ‘कस्याप्यतिशयस्योक्तिरित्यन्वर्थविचारणात् । प्रायेणामी अलङ्कारा भिन्नानातिशयोक्तिः’ इति । एवं सर्वत्रैवातिशयोक्तिसङ्घावेऽपि वैचिच्छान्तरेणालङ्कारान्तरव्यपदेशाः, वैचिच्छान्तराभावे त्वतिशयोक्तिव्यपदेश इति बोध्यम् । अलङ्कारान्तरामयीयपिण्डाउक्तोदाधरणगतालङ्काराणां समुच्चयः, तथाहि मक्षिकामालभारिण्य इत्यादौ सामान्यं, स्तनयार्जघनस्यापीत्यादौ पन्देहः, निर्षेतुं शक्यमस्तीत्यादौ निश्चयः । संशयनिष्ठयोऽप्यमानोपमेयविषयकत्वाभावेऽप्यलङ्कारत्वं बङ्गभिर्वैचिच्छजनकत्वादङ्गीकृतम् । अद्वा विशालमित्यादावधिकम् । एते खालङ्कारा अन्यैकता ज्ञातव्याः ॥ २१० ॥

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।

अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥ २११ ॥

अथोत्प्रेक्षां स्वच्छयति । अन्यथैवेति । चेतनस्येतरस्याचेतनस्य

वा प्रस्तुतविषयस्यान्वया स्वाभाविकबेनैव स्थिता दृक्तिर्गुण-  
क्रियादिवर्तनं यथावत्स्वरूपस्त्र, अन्वया प्रकारान्तरेण अप्र-  
स्तुतस्वरूपत्वेन च यत्र वैचित्रे, यदैचित्रवोधायेत्यर्थः, उत्प्रेक्ष्यते  
सम्भाव्यते तां तादृशवैचित्ररूपामुत्पेचां विदुरित्यान्वयः । अ-  
धिकरणसाधनोऽयमुत्प्रेक्षाशब्दः । यच्चिति पाठेतु क्रियाविशे-  
षणं तदा भावसाधनः । तदुकं प्रकाशकृता, ‘सम्भावनमयोत्प्रे-  
क्षति’ । सम्भावना चोत्कटकोटिकः संवयः, अप्रस्तुतकोटेरु-  
त्कटलञ्ज्व प्रस्तुतकोटेर्निंगरणेन, निगरणञ्ज्व क्वचिदनुपादानेन  
क्वचिदपात्तस्यायधःकरणेन च । यदुकं ‘विषयस्यानुपादाने-  
ऽपुपादानेऽपि स्त्रयः । अधःकरणमात्रेण निगीर्खत्वं प्रचक्षते’  
इति । उपमेये उपमानसम्भावनमेवोत्प्रेक्षति नव्यैहकां तत्प्राचो-  
नानामनभिमतमित्यये स्फुटीभविष्यति । अस्यास्येत्प्रेक्षणीया-  
र्थानां जातिक्रियागुणद्रव्यात्मकत्वेन तेषां च भावाभावाभि-  
मानेन जात्यादित्रयस्य च स्वरूपफलाहेतुरूपत्वेन द्रव्यस्य स्व-  
रूपमात्रगतेन च उत्प्रेक्षानिमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वेन एवं  
प्रकारान्तरेण च बहवो भेदा अन्यैस्तका यन्यगौरवभिद्याच-  
नोक्ताः स्वयमनुमन्वातव्याः ॥ २२१ ॥

मध्यन्दिनार्कसन्तप्तः सुरसीं गाहते गजः ।

मन्ये मार्त्तण्डगृद्धाणि पद्मानुद्वर्त्तमुद्यतः ॥ २२२ ॥

स्वातुं पातुं विसान्यन्तुं करिणो जलगाहनम् ।

तदैरनिष्क्रयायेति कविनोन्प्रेक्ष्य वर्णते ॥ २२३ ॥

चेतनस्येतरस्य विद्युकं तत्र चेतनवृत्त्युप्रेक्षामुदाहरति । मध्यन्दिनार्केति । मार्जनफलस्थार्थं सूर्यस्य पदान्, पदपत्रं परतत्त्वेषु यह इति क्यः । उद्गुर्नुमुकूलयितुम्, अत्र सूर्य-तत्पत्रं चेतनस्य गजस्य स्वानपानाद्यर्थकतया चिता मरम्बवगाहनक्रिया सूर्यपञ्चपद्माद्गुरणार्थकवेदोत्तमिता, तत्र च मध्यन्दिनार्कमन्तप्त इति मध्यन्दिनार्ककर्त्तकमन्तापक्रिया निमित्तं, मन्ये इति पदमुप्रेक्षाद्योतकम् । उत्तमाविषयश्चाच तादृशमरोदवगाहनमुपान्तं । किञ्चाच भन्नापकम्य सूर्यस्य प्रतीकाराशक्तेन गजेन सूर्यपञ्चपद्माद्गुरणादन्यैरुक्तः प्रत्यनीकालङ्कारोऽपि । यदुक्तं, ‘प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतिकारे रिपोर्यदि । तदीयस्य तिरस्कारस्त्वैवोत्कर्पसाधकः’ इति । तदनयोः मङ्गरः ॥ २२२ ॥

अत्र लक्षणं मङ्गमयति । स्वातुमिति । वैरनिष्ठयाय मन्तापकत्वादैरणः सूर्यस्य प्रत्यपकाराय ॥ २२३ ॥

कर्षस्य भूपणमिदं ममायनिविरोधिनः ।

इति कर्षोत्पत्तं प्रायस्त्व दृष्ट्य विलङ्घते ॥ २२४ ॥

अपाङ्गभागपातिन्या दृष्टेरंशुभिरुत्पन्नम् ।

स्पृष्ट्यते वा नवेत्येवं कविनोन्प्रेत्य वर्णयते ॥ २२५ ॥

अचेतनवृत्त्युप्रेक्षामुदाहरति । कर्षस्येति । इदमुत्पत्तं मम आयतिर्दीर्घता तस्या विरोधिनो निवारकस्य कर्षस्य भूपणम् इति अस्माद्देताः । प्राय इत्युप्रेक्षाद्योतकं । दृश्या चक्षुषा

विलङ्घुते स्वांशुमयकर्णेऽप्यार्थत इव । अत्राचेतनायादृष्टेरंशूनां  
सम्बिद्धितवेन कर्मात्पत्त्वे स्वर्गाख्यो गुणः कर्मात्पत्त्वोत्पारणावेन  
सम्भावितः म चाचानपात्तः ॥ २२४ ॥

अपाङ्गेति । अपाङ्गभागपातिन्या आकर्षान्तविश्रान्तायाः ।  
स्मृथते वा नवेत्यनेन अमन्त्रपि विषयश्वमन्त्कारप्रतिपिपादयि-  
षया विषयिणा केनचित् कविभिरुत्प्रेक्षणीयो भवतीति सु-  
चितम् । एवमुदाहरणदद्ये चेतनाचेतनयोः प्रस्तुतयोः क्रिया-  
गुणो उत्प्रकाविषयी, प्रस्तुतम्बृहपम्य विषयतं यथा, ‘ऊरुः  
कुरुङ्कदृशश्वभ्लचेनाञ्जलो भाति । मपताकः कनकमयो वि-  
जयस्तम्भः स्मरस्त्वे’ । अत्र प्रस्तुतस्यारोः स्वरूपमेव विषयः  
नतु गुणादिः, विषयीच विजयस्तम्भः, नचेयमुपमा स्मरसम्ब-  
न्धिविजयस्तम्भस्याप्रमिद्गुलेनैपमानत्वाभावात् प्रसिद्धुस्त्वैव तथा-  
त्वात् उपमाद्योतकेशब्दस्य चापमानोत्तरतनियमेनात्र तद-  
भावात् सम्भावनाया एव म्फुटं प्रतीयमानत्वेनैपस्यप्रतीतेर-  
भावाच । इयज्ञाम्भेत्वा द्यातकाप्रयोगेऽपि कर्चिद्गत्वति यथा  
‘तच्चज्ञाः स्तनयुग्मन मुखं न प्रकटोऽनुतम् । हाराय गुणिने  
स्यानं न दत्तमिति लज्जाया’ । अत्र स्तनयोरचेतनतया लज्जा-  
या असम्भवेन लज्जयेवेत्यप्रेत्वा, इयं प्रतीयमानोत्तरज्ञ-  
विश्वनाथादयः ॥ २२५ ॥

लिप्ततीव तमोङ्गानि वर्षतीवाङ्गनं नभः ।

इतोदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्विम् ॥ २२६ ॥

केषाच्छिदुपमाभान्तिरिवश्रुत्येव जायते ।  
नोपमानं तिङ्गन्तेनेत्यतिक्रम्याप्नभाषितम् ॥ २२७ ॥

मन्ये शङ्के इत्यादिपदप्रयोगएवोत्तेजा इवप्रयोगे तु सर्व-  
चाण्युपमैवेति प्रत्ययभेदपर्यन्तमन्यरा च्छुधियः, उपमंये  
उपमानस्यैवोत्कटः संशय उत्प्रेक्षेत्यन्ये, मतदयज्ञेतदृपयन्नाह ।  
लिप्यतीवेति । आकार्द्धमिदं स्त्रैकटिकप्रकरणीयम्, अस्यो-  
न्तराद्द्वन्तु, ‘असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता’ इति । इती-  
दमपोति प्राचीनपद्याद्द्वमपीत्यर्थः । भृथिष्ठमतितरां, नलां-  
श्चिकत्वेन । उत्तेजालक्षणाच्चितमिति, तथाहि अचेतनस्य तमसो  
ब्यापनस्थपो विषयो स्तेपनत्वेन सम्भावितः, एवं वर्षतीवाच्चनं  
नभ इत्यत्र निरालोकप्रवृत्तस्तमसः सम्यातो नभःकर्वका-  
च्चनवर्षणलेनेति, उभयत्र विषयस्यानुपादानम् ॥ २२६ ॥

केषाच्छिदिति । केषाच्छिद्वजुधियां न तु सर्वषाऽप्य-  
माभान्तिरिवोपमालङ्कार इति भ्रमः, तत्र हेतुः इवश्रुत्येति  
कमलमिव मुखमित्याद । विवाचापीवगद्यस्यापमाद्यानक्त्वादि-  
ति भावः । नन्वाचापमाप्रतीतिस्त्राच्चिकेवास्तां कर्थं भान्ति-  
रित्यत्राह । नोपमानमित्यादि । तिङ्गन्तेन तिङ्गन्तपदप्रतिपा-  
देन क्वाचा उपमानं कस्यचित् प्रस्तुतस्योपमितिर्न भवति,  
तिङ्गन्तपदप्रतिपाद्यस्य साध्यत्वात् सिद्धैवोपमानलमभवादि-  
त्याप्नभाषितम्, आप्नाः प्रामाणिका भाष्यकारादयस्तेषां वचन-  
मतिक्रम्य अलालोच्य उपमाभान्तिर्जायत इत्यस्यः । तदुक्तं ।

मिद्दुसेव समानार्थमुपमानं विधीयते । तिङ्ग्नार्थस्तु साधत्वाद्  
उपमानं न जायत इति । अथमाशयः, प्रकृते हि उपमानोप-  
मेयतायामुपमेयस्य वर्णनोयत्वेन शब्दोपाच्चत्वस्यावग्नकतया अ-  
नुपाच्चस्य प्रस्तुतस्यापि व्यापनस्यापमेयत्वाभावेनोपाच्चस्य तमम  
एव तथातस्यावग्नवक्त्यत्वात् तस्य लिङ्गतोति तिङ्ग्नार्थं उप-  
मानमिति यद्वक्तव्यं तज्जिङ्ग्नार्थस्य साधत्वेनोपमानत्वाभावच्च  
प्रामाणिकवचनप्रतिपञ्चत्वादविचारविजृम्भितमिति ॥ २२७ ॥

उपमानोपमेयत्वं तुच्छधर्मव्यपेक्षया ।

लिङ्गतेस्तमसश्वासौ धर्मः कोऽन्नं समीक्ष्यते ॥ २२८ ॥

इत्यमुपमाभ्युपगमे वचनप्रमाणविरोधं प्रतिपाद्य युक्ति-  
विरोधमपि दर्शयति । उपमानोपमेयत्वमिति । तुच्छधर्म-  
व्यपेक्षया प्रस्तुताप्रस्तुतयोः समानगुणादिरूपधर्ममापेक्षतया  
उपमानोपमेयत्वं भवति अत्यथातिप्रसङ्गः स्यादिति, प्रकृते  
तदभावं दर्शयति । लिङ्गतेरिति । लिङ्गते: लिङ्गतोतिति-  
ङ्ग्नार्थस्य, पदस्यापि नामत्वानुकरणात् षष्ठी । लिङ्गतेर्लिप-  
धातोरित्यर्थस्तु न सम्यक् वर्णात्मकस्य धातोरस्यकारोपमान-  
त्वस्यान्वेनापि वक्तुमयोग्यत्वात् । कोऽन्नं समीक्ष्यते इति न  
कोऽपीत्यर्थः । तस्मात् तमोलिङ्गत्यर्थयोः साधारणधर्माभा-  
वात् कथमुपमेयापमानभाव इति ॥ २२९ ॥

यदि लेपनमेवेष्ट निम्ननिर्नाम कोऽपरः ।

स एव धर्मो धर्मो चेत्युम्भोऽपि न भाषते ॥ २२१ ॥

ननु तमोलिम्यत्वर्थदर्थपनमेव माधारणधर्माऽनु तम-  
मोऽप्यावरकतया गैणलेपनवत्त्वात् धर्मदोर्धिम्बप्रतिविम्बतया च  
माधारणाभुपगमादित्याशङ्काह । यदीति । यदि लेपनमेव  
इष्ट माधारणधर्मतयाभुपगतं तर्हि लिम्बतिर्लिम्बतिपदप्रति-  
पाद्योऽपरो विशेषतामापन्नो धर्मिभूतोऽर्थः कः न कोऽपीत्यर्थः,  
वैयाकरणनये व्यापारस्त्रैव विशेषतया तिडन्तपदप्रतिपाद्य-  
त्वात् । तदुकं 'फलव्यापारयार्धातुराश्रये तु तिडः स्फृताः ।  
फले प्रधानं व्यापारस्त्रिडर्थम् विशेषणम्' इति । तथाच  
बोधः, दंवदत्ताद्याश्रयकलेषमयोगफलकलेपनमिति । एव-  
ञ्चाच धर्मवक्तव्याप्रतीतेन्देपनस्त्रैव धर्मिलं ननु धर्मविमिति ।  
अत्रापि लिम्बतिरित्यनुकरणे प्रथमा । ननु प्रामाणिकप्रयोगे  
ऽस्मिन्निवेषपदप्रतिपादिताया उपमाया निर्वाचणस्यावश्यक-  
तया एकस्त्रैव लेपनव्यापारस्य धर्मतं धर्मितञ्चासु यथोऽ-  
नन्ययोपमायाभेदकस्यापमानवमुपभेदयत्त्वाह । स एति ।  
स एव लिम्बतिरेव लिम्बतिपदप्रतिपाद्यलेपनव्यापार इत्यर्थः ।  
उन्मत्तोऽपीति उन्मत्तैरण्यकस्मिन्कस्य धर्मतं धर्मितञ्च नो-  
च्यते, का कथा महदयानाम्, अनन्ययोपमायान्तु एकस्या-  
पमानोपर्मयत्वमनन्यमदृशत्वप्रतिपादनार्थं वैवर्त्तिकम् । इदल्लु-  
नितान्तनिर्बुद्धित्विलमितम् । तस्मादत्र धर्माभावात् सेव  
दुरवस्था जागरूकति भावः ॥ २२६ ॥

कर्त्ता यद्युपमानं स्यान्व्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे ।

स्वक्रियासाधनव्ययो नालमन्यदपेक्षितुम् ॥ २२० ॥

न च सु नाम धर्मित्रमेव लेपनव्यापारस्य, कर्त्तुरप्याश्रय-  
तथा तिङा वोधितवाच्चैनैवोपस्थिनिर्बहु जायतामित्यचाह ।  
कर्त्तति । कर्त्ता तिङ्ग्रतिपाद्या व्यापाराश्रयः यदि उपमानं  
स्यात् तमम उपमानवेनाच्येत तर्हि तदपि न सम्भिर्गति शेषः ।  
यताऽसौ कर्त्ता क्रियापदे लिङ्गतोत्तिक्रियापदेन विशेष्यतया  
प्रतिपाद्य लेपनव्यापारे न्यग्भूत उपमर्जनोभूतः तिङ्गर्थस्तु  
विशेषणमित्युक्तः । लेपनव्यापारे विशेषणतयाच्चितस्य कर्त्तुः  
कथमुपमानतया तममा महाच्चयत्वमिति भावः । न च सु नाम  
कर्त्तुः स्वव्यापारे विशेषणतयाच्चितस्य एकत्राच्चितस्याप्यन्य-  
त्राच्चितलस्य बज्ज्यु दर्शनादिव्याशङ्काह । स्वक्रियता  
स्वाश्रयकलेपनव्यापारस्तस्याः साधनं मिद्द्विः विशेष्यतया वोध  
इत्यर्थः तत्र व्ययाव्याप्तः प्रकारतामापन्न इति यावत् तादृशः  
सन् अत्यन्तं पदार्थान्तरम् अपेचितुं स्वप्रकारकान्वयवोधे  
विशेष्यलेनाकाङ्क्षितुं पदार्थान्तरविशेष्यकवोधे पुनः प्रकारो  
भवितुमिति यावत् नालं न समर्थः । अयस्मावः एकत्रा-  
च्चितस्यान्यत्राच्चितत्वे युज्यतएव, परन्वकत्र विशेषणतयाच्चित-  
स्यान्यत्रापि विशेषणतयैवाच्चयो न युज्यत इति, प्रकृते तु स्वव्या-  
पारे विशेषणतयाच्चितस्य कर्त्तुरुपमानवाभ्युपगमे उपमेये  
तमस्यपि विशेषणलेनैवाच्चितलमभ्युपयमिति नैतद्युज्यतएव ।  
एतदेवाकं दीधितिकता ‘इतरविशेषणलेनोपस्थितस्यान्वत्र-  
विशेषणलेनान्वयायोगात्’ इति । तस्मान्वाच कर्त्तुरप्युपमानत्र-  
मिति भावः ॥ २१० ॥

यो लिम्पत्यमुना तुल्यं तम इत्यपि शंसतः ।  
अङ्गानीति न स्मद्भूं सोऽपि मृग्यः समो गुणः ॥ २३१ ॥

ननु गाभङ्गापारविशेष्यकान्वयवोधवादिवैयाकरणनये  
कर्त्तरूपमर्जनतयोपमानत्वं प्रथमान्तमुख्यविशेष्यकान्वयवोधवा-  
दितार्किकनये तु षाढोलागङ्गाह । य इति । यो लिम्पत्य-  
मुना तुल्यमिति । अत्र यददःपदयोः प्रयोग उपमानाप-  
मेयभावस्युटीकरणाय, वस्तुतस्यु लेपनकर्त्तव तम इत्येव वोधः,  
अन्यथा वाक्यभेदापत्तेः प्रकृतप्रयोगेच यददसोरनुपादानात्  
उपान्तशब्दार्थानामेव शाब्दवोधविषयत्वनियमात् । इत्यपि  
शंसत इति अत्र, सते इत्यथाहार्थम्, इति शंसते वदता  
मर्त्तपीत्यर्थः, अङ्गानीति न स्मद्भूमिति अङ्गानीति कर्मपदं  
न स्मद्भूम् उपमेयतमःकर्त्तव्यदन्वयोपयोगक्रियान्तराभा-  
वादुपमेयांशेऽन्वितं न भवति । नचङ्गकर्मकलेपनकर्त्तव तम  
इत्येव वोधाऽस्यु किमङ्गानीत्यस्योपमेयतमस्यनन्वितर्थाचिन्त-  
नेनेत्यत्राह, सोऽपि मृग्यः समो गुण इति सोऽपि कर्मताप-  
न्वाङ्गरूपो गुणो धर्मोऽपि समः साधारणत्वेन मृग्याऽन्वेष्यः  
अवश्यं वक्तव्य इत्यर्थ, अन्यथा साधारणधर्माप्रयोगेण साध-  
म्याप्रतीतेः कथमुपमानापमेयभाव इति भावः । तमोगुण  
इति पाठे तमोगुणस्तमाधर्मत्वेन मृग्यः इत्यन्वयः । नचाङ्ग-  
कर्मकलेपनमेव ददयोः साधारणधर्मोऽस्यु तस्य चापमानांशे  
मुख्यत्वमुपमेयांशे तु गौणत्वं विक्षानुविक्षतयापि धर्मस्य शा-

धारणाभ्युपगमादिति वाच्यं, तादृशस्तेपनस्योपमानकर्त्तुपम-  
र्जनत्वेनोपमेयतमस्यात्मयायोगात् । अपिच साधारणा हि गुण-  
क्रियादयो धर्माः प्रथमस्युपमेयगतत्वेनैवान्वयवोधविषयता-  
मापद्यन्ते पर्यालोचनया दृष्टपमानगतत्वेन प्रतीयत्वं इति तं पां  
साधारणं, प्रकृते दृष्टपमानगतत्वेन स्तेपनस्यात्मयवोध इत्युप-  
मानतावच्छेदकतयोपमानशरीरत्वमेव नदृष्टपमानोपमेययोः  
साधारणधर्मवमिति विवेचनोयम् ॥ २३१ ॥

यथेन्दुरिव ते वक्त्रमिति कान्तिः प्रतीयते ।

न तथा लिङ्गतौ लेपादन्यदत्र प्रतीयते ॥ २३२ ॥

ननु साभृदत्र स्तेपनस्य साधारणधर्मवं धर्माप्रयोगाभ्यु-  
प्तोपमेवयमस्त्वित्यचाह । यथेन्दुरिवेति । इति अत्र । कान्तिः  
साधारणधर्मभृतं मौन्दर्थं यथा प्रतीयते वाचकाप्रयोगेऽपि  
सुन्दरत्वेन प्रसिद्धुस्येन्द्रोहृष्टपमानत्वाद्भृत्यते, तथा, लिङ्गतौ  
लिङ्गतिपदघटितप्रयोगे स्तेपनकर्त्तर्युपमाने सतोति वा,  
लिङ्गतेरिति पाठे तु लिङ्गतीत्युपमानपदप्रयोगादित्यर्थः ।  
स्तेपनादन्यत् उपमितिप्रयोजकसाधारणधर्मान्तरं न प्रतीयते,  
उपमानतावच्छेदकतया ज्ञायमानस्तेपनस्य तु उपमानमात्रा-  
न्तितत्वात् साधारणधर्मवमिति पूर्वमेवाक्तम् । अयम्भावः  
साधारणधर्माप्रयोगेऽप्युपमितिरभ्युपगम्यतएव, परन्तु तत्रो-  
पमेयोपमानयोः स्फुटसादृशत्वमपेक्षणीयं यथेन्दुरिव ते वक्त्र-  
मित्यादौ, प्रकृते तु तस्मास्तेपनकर्त्तार्तं तथालमिति साधारण-  
धर्माभावान्तोपमासम्भव इति ॥ २३२ ॥

तदुपश्चेषणार्थाऽयं लिम्पतिर्धान्तकर्त्तव्यः ।

अङ्गकर्मा च पंसैवमुत्प्रेक्ष्यते इतीष्यताम् ॥ २३३ ॥

इत्यं विषयमते दोषदानमुपसंहरन् स्वमतं द्रढयति ।  
तदुपेति । तज्जमादेवमुपमाभ्युपगमस्य मदोषलादित्यर्थः, अ-  
ङ्गकर्मा तथा धान्तकर्त्तव्यको लिम्पतिर्धान्तप्रतिपदप्रतिपादा  
स्तेपनक्रिया पुंसा कविनिवद्देव वक्त्रा उत्प्रेक्ष्यते सम्भाव्यते इति  
इष्यतामकामेनायङ्गोक्रियतामित्यन्ययः, ननु विषयाभावे  
विषयिभृतायास्तथाविधविग्निश्चेष्टपनक्रियायाः कथमुत्प्रेक्षणी-  
यत्वं संशयविशेषरूपाद्या उत्प्रेक्षायाः कोटिदयविषयक्रियनि-  
यमादिति विषयं दर्शयन् विषयिभृतं लिम्पतिं विग्निश्चि-  
उपश्चेषणार्थं इति उपश्चेषणं तमःकर्त्तव्यापनम् अर्थः स्ववि-  
षयिकोत्प्रेक्षाया विषयो यस्य मः । अयमर्थः, प्रमुताऽर्थ-  
स्तावदिषयः तत्र सम्भाव्यमानाऽध्यवसीयगानां वाऽप्रमुताऽर्था  
विषयो, प्रकृते तमःकर्त्तव्यापनमुत्प्रेक्षायाविषय दृश-  
स्तेपनं विषयोति ततश्चाच प्रमुतं तमाव्यापनं तादृशस्तेपन-  
त्वेनोत्प्रेक्ष्यते न तृप्तमानेन तेनापसीयते इति । उत्प्रेक्ष्यत  
इत्यत्र क्वचिदत्प्रेक्षितुमिति क्वचिवात्प्रेक्षितमिति पाठदयं न  
सम्यक् ॥ २३३ ॥

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।

उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्देरिवगद्ब्राह्मि तादशः ॥ २३४ ॥

॥ इत्युत्प्रेक्षाचक्रम् ॥

ननु माभृदत्रोपमा, दवप्रयोगे कथमुत्प्रवापीत्यचाह । मन्ये  
इति । अज्ञते द्योत्यते । तादृशं उत्प्रेत्याद्योतकः । द्योतका-  
प्रयोगे तु अन्यथावाधानुपपत्ता सम्भावनोत्याने प्रतीयमानो-  
त्प्रेतेति पूर्वमुक्तम् ॥ २५४ ॥

हेतुश्च सूक्ष्मनेश्चौ च वाचामुक्तमभूषणम् ।  
कारकज्ञापकौ हेतु तौ चानेकविधौ यथा ॥ २५५ ॥

हेतुः सूक्ष्मालत्वः कम इत्यनेनोद्दिष्टानां हेतुसूक्ष्मालत्वा-  
नामलङ्घारत्वं भामहप्रभृतयो नेच्छन्ति यथा ‘हेतुश्च सूक्ष्म-  
लेश्चौ च नालङ्घारतया मताः । समुदायाभिधेयस्य वक्रोक्त्यन-  
भिधानतः’ इति । तेषामयमभिप्रायः निर्वहतुताया दोषत्वा-  
भिधानाद्देतुहेतुमङ्गवाऽन्ययोपयोगितया सुतरामपेक्षणोय  
इति नास्यालङ्घारतम् । एवमिङ्गिताकाराभ्यामभिप्रेतार्थ-  
प्रत्यायने वाच्यस्य कञ्चमत्कार इति सूक्ष्मस्यापि नालङ्घारत्वं ।  
तथा स्खयमेव प्रकाशितस्य पुनर्निंगूहनेऽपङ्गुतिरत्वं किं पृथग्-  
लेश्चालङ्घारत्वमिति, इदमनुभवमिद्वैचित्रविशेषानवबा-  
धनिवन्धनं प्राचीननिष्ठविहृद्द्वेति मतमेतत् कटाचयन्  
वैयाणामेकत्र निर्देशपूर्वकं वैचित्रविशेषात्मकत्वादलङ्घारात्त-  
मलमाह । हेतुस्त्रिति । लेशो स्वसंज्ञयोद्देशवाक्ये उक्तः ।  
उत्तमभूषणं नतु भूषणमाचम् । उत्तमेति विपच्चाणामस-  
हृदयत्वप्रतिपादनाय । यस्यात्तमालङ्घारत्वं तस्यालङ्घारत्वं  
सिद्धमेवेति भावः । तत्र प्रथममुद्देशकमप्राप्त्यान्विरूपणीयस्य

हेललङ्घारस्यातिप्रसिद्धुत्वास्त्वं मनभिधाय भेदान् दर्शयति । कारकजापकाविति । स्त्रेण नूकमास्येते । ‘सिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः । कारको जापक इति दिधासेऽप्युपजायते । प्रवर्त्तते कारकाख्यः प्राक् पञ्चात् कार्यं जन्मतः । पूर्वः श्रेष्ठ इति स्यातस्योरेव विशेषता । कार्यकारणभावादा स्वभावादा नियामकात् । अविनाभावनियमादविनाभावदर्शनात् । जापकस्य च भेदोकिर्वद्या पूर्वोक्तिर्दर्शनात्’ इति । एवम्भ सिषाधयिषितार्थमाधकोहेतुरिति स्त्रेण, सिषाधयिषितोऽर्थस्य क्रियादिरूपं वस्तु ज्ञानम्भेति दिविधः । तत्र पूर्वस्य साधकः कारकः, द्वितीयस्य जापक इति, कारकजापकयोर्लक्षणमुक्तं भोजराजेन । ‘यः प्रवृत्तिं निवृत्तिं च प्रयुक्तिज्ञानराविश्वन् । उदासीनोऽपि वा कुर्यात् कारकं तं पचत्तेते । द्वितीयाच हत्तीयाच चतुर्थी मप्तमीच अम् । क्रियानाविष्टमाचये स्त्रेण स्त्रेण जापकस्य सः’ इति । अनयोरपि प्रभेदा बहव उदाहरणेषु ज्ञातव्या इत्याह तौचानेकविधाविति । अनेनैव हेललङ्घारेणान्तेहकस्य काव्यलिङ्गस्य, कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासस्यानुमानस्य च संयह इति न ते पृथग् दर्शयिष्यन्ते । विश्वनायस्तु हेतुहेतुमतोर्भवतयोपन्यासो हेतुरित्याह । यद्या ‘अभेदेनाभिधा हेतुर्वितार्वितुमता सह’ इति, अयम्भ हेतुः स्वमतेऽनिशयोक्तिरेव ॥ २३५ ॥

अयमान्दोन्नितप्रौढचन्दनद्रुमपक्षवः ।

उत्पादयनि सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुतः ॥ २३६ ॥

प्रीत्युत्पादनयोग्यस्य रूपस्यात्रोपवृंहणम् ।  
अलङ्कारतयोद्दिष्टं, निवृत्तावपि तत्समम् ॥ २३७ ॥

तत्र कारकहेतुमुदाहरति, अयमिति । आन्दोलिता  
मन्दमन्दं चालिताः प्रैदाः वमन्तर्त्ताः परिणामेन बज्जलीभृताः  
अप्रैष्ठेति पाठे वमन्तप्रारम्भेणाङ्गुरप्राया इत्यर्थः, चन्दन-  
द्रुमार्णी पञ्चवा येन सः । अनेन मलयमारुतस्य मान्दं मौ-  
गन्ध्य शैत्यम्ब्र प्रतिपादितम् । अत्र मलयमारुतः प्रीत्युत्पा-  
दनक्रियायाः कारकः तस्य चान्दोलितेत्यादिविलक्षणवि-  
शेषणविशिष्टतया निर्देशाच्चमन्त्कारातिशयः सहदयहदया-  
नुभवसिद्धु इत्यलङ्कारता अन्यथा न तथात्मिति यथा गौ-  
श्चरति सुगो धावतीत्यादै । विपचाणान्वत्र स्फुटमपि प्रती-  
यमानं वैचित्रमपश्यतां गजनिमीलिकैवेत्येतदेवाह । प्रीत्युत्पा-  
दनेति । रूपस्य कर्तुस्थाविधविशिष्टस्वरूपस्य उपवृंहणं  
वैचित्रजनकतयोपन्यासः । अलङ्कारतयोद्दिष्टमिति वैचित्रस्य  
स्फुटं प्रतीयमानत्वादिति' भावः । इदं चात्यादनक्रियायाः  
‘प्रवृत्तावुदाहतं निवृत्ताप्येवमुदाहर्त्तव्यमित्याह । निवृत्ताव-  
पीति । तत्समं क्रियाप्रवृत्तिसमानं । यथा ‘मुखे तत्र मुखा-  
भोदलोल्लुपो मधुपो भमन् । कर्षिकाकमलं फुक्कमपि नाभि-  
सरत्ययम् । अत्राभिसरणक्रियाया निवृत्तिः । एवं प्रयुक्तावु-  
दाषीनतायाच्च बोध्यम् ॥ २३६ ॥ २३७ ॥

चन्दनारण्यमाधूय स्तुष्टा मलयनिजर्भरान् ।  
 पथिकानामभावाय पवनोऽयमुपस्थितः ॥ २३८ ॥  
 अभावसाधनायालमेवमूतो हि मारुतः ।  
 विरहच्चरसमूतमदनागन्यातुरे जने ॥ २३९ ॥

पूर्वोदाहरणे प्रीत्युत्पादनकियायाः साधकस्य हेतुत्वं दर्शितं,  
 तत् किं सर्वत्र क्रियाया एव साधको हेतुरिति शङ्कां निर-  
 स्तुदाहरणात्मरं दर्शयति । चन्दनेति । चन्दनारण्यमाधूय  
 ईषत्त्वम्प्रियता, एतेन भौगन्धं मान्द्यच्च प्रतिपादितं । स्तुष्टा  
 मलयनिजर्भरानित्यनेन च शैत्यम् । अभावाय घंसाय ॥ २४० ॥

अभावेति । एवमूतः भौगन्धादिगुणयुक्तः, तेषामेवोद्दी-  
 पकतया पथिकाभावं प्रति कारणतावच्छेदकत्वात् । हि यतः  
 विरहच्चरे समूतः प्रादुर्भवन् यो मदन एवाग्निस्तेनातुरे रुग्मे  
 जने, न तत्र करुणा हेतुरित्यादिवदत्र षष्ठ्यर्थं सप्तमी तस्याः  
 प्रतियोगित्वमर्थः तस्य चाभावेत्यनेनान्यः । अभावसाधना-  
 यालमिति अलं योग्यः, उपस्थितिदारेति शेषः । ततश्चाभाव-  
 खापि साधको हेतुर्भवतीति भावाभावसाधकतया हेतोर्द्व-  
 विधं बोध्यम्, एतेन क्रियायाः साधको हेतुरिति यद् भा-  
 जराजेन क्रियाया एव साध्यतमुक्तं तत्त्वादरणीयम् । अभावा-  
 देरपि साध्यतमभवात् अतएवाग्नेये ‘सिषाधियिपितार्थस्य हेतु-  
 र्भवति साधकः’ इत्यनेन सिषाधियिपितार्थत्वेन सामान्यतः  
 पदार्थमात्रस्यापि साध्यमानलं दर्शितमिति केचित् । वस्तु-

तस्म अभावायोपस्थित इति निमित्ततयाऽभावविशिष्टाया  
उपस्थितिकियाया एव साधत्वम् अभावसाधनायेत्यभावस्य  
साधत्वोक्तिस्तु साधतावच्छेदकतया परम्परया, यत्र तु क्रिया-  
पदं नास्ति तत्र तदधार्हत्यक्षेव क्रियारहितस्य वाक्यत्वाभा-  
वात् उक्तस्य ‘यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्ति भवन्तोपरः  
प्रयोक्तव्यः’ इति । एवस्य सर्वत्र कर्मशूल्ये प्राप्यकर्मणिच  
क्रियाया एव क्वचित् केवलायाः क्वचिदिशिष्टायाः साधत्वं  
ज्ञेयम् ॥ २९६ ॥

निर्वर्त्येच विकार्येच हेतुत्वं तदपेक्षया ।

प्राप्ये तु कर्मणि प्रायः क्रियापेक्षैव हेतुता ॥ २९० ॥

एवमुदाहरणदये क्रियापेक्षयैव हेतुत्वं दर्शितं क्वचिन्तु क-  
र्मापेक्षयापि भवतीत्याह । निर्वर्त्येचेति । निर्वर्त्येच विकार्येच  
कर्मणोति शेषः । तत्र निर्दर्श्यं पूर्वमसदेव कर्तुः क्रिययो-  
त्याद्यमानं, सदेव वाऽलचितं प्रकाश्यमानमिति द्विविधं, यथा  
कटं करोति पुत्रं प्रसृते इति । विकार्यं कर्तुः क्रियया सदेव  
पूर्वरूपस्योच्छेदेनानुच्छेदेन वा अवस्थान्तरमापाद्यमानमिति  
द्विविधं, यथा काष्ठं दहति कुण्डलं करोतीति । यदकं ‘यद-  
सञ्जायते पूर्वं जन्मना यत् प्रकाशते । तत्रिवर्त्यं, विकार्यस्य  
कर्म देधा व्यवस्थितम् । प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित्काषादादि  
भस्तवत् । किञ्चित्तुषान्तरोत्पत्त्या स्त्रवर्णादिविकारवत्’ इति ।  
तदपेक्षया निर्वर्त्यविकार्यापेक्षया तयोरेव तत्र कार्यतात्,

निर्वृत्तिविकारापेचयेति केचित् । अत्र तदपेचयेवेति न नियमः क्रियाया अपि जन्मतेन हेतुतानिरूपकलात् । प्राणे-विति कर्त्तुः क्रियया व्याप्तिमात्रं यत्र प्रतीयते न निष्पत्तिर्नच विकृतिस्तत् प्राणं । यदुक्तं ‘क्रियाकृता विशेषाणां मिहिर्यत्र न गम्यते । दर्शनादनुमानादा तत्प्राप्तमिति कथ्यते’ इति । क्रियापेचयेति क्रियाया अपेच्या यत्र सा, क्रियापेच्येति सय-कारपाठे क्रिया अपेच्या निरूपकतया अपेचणीया यत्रेति वियहः, प्राप्तकर्मणो जन्मताभावेन निरूपकलामावात् क्रियामा-त्तनिरूपितेत्यर्थः । जुमरनन्दिप्रभृतयस्तु अनोप्पितमपि कर्म-भेदमिच्छन्ति यथा पापं त्यजतोति तत्रापि क्रियापेच्यतमेव हेतुलं, अयच्च निर्वृत्तिविषयः ॥ १४० ॥

हेतुर्निर्वर्त्तनीयस्य दर्शितः, शेषयोर्दयोः ।

दत्त्वोदाहरणदन्वं ज्ञापको वर्णयिष्यते ॥ १४१ ॥

हेतुरिति । दर्शित इति अयमान्दोलितेत्याद्युदाहरणे इत्यर्थः, तत्र प्रीतिरूपस्य कर्मणो निर्वर्त्तनीयत्वात् । शेषयो-दयोर्विकार्यप्राप्तयोः । अत्र हेतुरित्यनुषङ्गः । उदाहरणदन्वं दत्त्वा उपन्यस्य हेतुर्दर्शयिष्यते इति शेषः, अनन्तरस्तु ज्ञापको हेतुर्वर्त्यिष्यते इत्यन्यः । यदा शेषयोर्दयोः शेषकर्मदयघ-टितवाक्यार्थदयगतहेत्वारित्यर्थः । प्रतिज्ञा चैषा शिष्याणां तात्कालिकोत्कण्ठानिवारणायेति औधम् ॥ १४१ ॥

उत्प्रवालान्यरण्यानि वायः संफुक्षपङ्कजाः ।

चन्द्रः पूर्णश्च कामेन पाञ्चदृष्टेर्विष्यं कृतम् ॥ २४२ ॥

तत्र विकार्यकर्षहेतुमुदाहरति । उत्प्रवालानीति । अत्र  
प्रकृतिभृतमुक्तवालारण्यादिचितयं पाञ्चानां दृष्टेश्चुपो दा-  
हकल्वादिष्यं कृतं विषेभावस्तुपविकारं नीतमित्यारोपितः  
प्रकृतिविकृतिभावस्तु एव चमत्कारातिशयः तात्त्विके तु तस्मिं-  
स्तुदभावात्, यथा सुवर्णं कुण्डलं करोतीति ॥ २४२ ॥

मानयोग्या करोमोति प्रियस्यानस्थिता सखीम् ।

बाला भूभङ्गजिह्वाच्ची पश्यति स्फुरिताधरा ॥ २४३ ॥

प्रायकर्षहेतुमुदाहरति । मानयोग्यामिति । मानयोग्यां  
मानाभ्यासम् । ‘अभ्यासः खुरली योग्येत्यमरमाला’ प्रियस्यान-  
स्थितां प्रियलेनारोपितां करोमोत्यभिप्रेत्येति शेषः । बाला  
अप्रगत्या तस्या एव मानशिक्षामभवात् । अत्र सखीमिति  
प्रायं कर्षं तदिष्यकदर्शनक्रियापेच्यैव बालाया हेतुत्वं तत्त्वं  
तथाविधाभिप्रायमहकृतभूभङ्गेत्यादिकाल्पनिकविशेषणपुरस्कृतं  
सच्चमत्कारविशेषं पुण्याति ॥ २४३ ॥

गतोऽस्तुमर्कोभानीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥ २४४ ॥

अथ ज्ञापकहेतुमुदाहरति । गत इति । वासाय वास-  
दृक्षाय, गत्यर्थयोगे कर्मणि चतुर्थी, इतीदमपि अस्तमिता-

कादिकमपि कालस्यावस्था विशेषः प्रकृते सायंसन्धेत्यर्थः तस्या  
निवेदने साध्वेव पर्याप्तमेव, अत्रास्मितार्कादयो ज्ञापकाः  
सम्यसन्धाच ज्ञाया, ज्ञायस्त्वच क्वचित् प्रतीयमानलं क्वचिच्च  
शब्देनोपादानमिति इयो गतिः, अत्र तु प्रतीयमानलम्  
अतएव साध्वेत्येवकारेणानुपात्तस्य ज्ञायस्य कथं ज्ञापको  
भवतीति शङ्का निरस्ता । मम्प्रति मन्था वर्तते इत्युक्तौ वै-  
चिच्चाप्रतीतेर्निरुक्तज्ञापकमुखेन मन्थाप्रतिपादनेच तप्तीते  
रस्यालङ्कारता ॥ २४४ ॥

**अवधैरिन्दुपादानामसाधैश्वन्दनाभ्यसाम् ।**

**देहोम्भिः सुवोधं ते सखि कामातुरं मनः ॥ २४५ ॥**

ज्ञायोपादाने ज्ञापकमुदाहरति । अवधैरिति । अवधै-  
रविनाश्यैः, अमाधैरप्रतिकार्यैः, देहोम्भिर्दहतापैः । सुवोधं  
सुखेनानुभेयं । कामातुरं विरहव्याकुलम् । अत्र मनमः  
कामातुरलं ज्ञायमुपात्तं तस्य देहतापा ज्ञापकाः, तेषाभ्य-  
विशेषणदयेनातपलङ्घनादिजन्यत्वावर्त्तनेन विरहासाध्य-  
प्रतिपादनभङ्गा वैचिच्चातिशयः ॥ २४५ ॥

**इति लक्ष्याः प्रयोगेष रम्या ज्ञापकहेतवः ।**

**अभावहेतवः केचिद्वाहियन्ते मनोहराः ॥ २४६ ॥**

इतीति । इत्येवंरूपा रम्याश्चमत्कारजनकाः प्रयोगेषु  
प्राचां प्रबन्धेषु ज्ञापकरूपा हेतवो लक्ष्याः स्त्रयं ज्ञातव्याः ।  
एवं कारका ज्ञापकाश्च भावरूपा एव हेतवोदर्घिताः, अनकरं

केचिदभावहेतवः अभावरूपाहेतवो व्याह्रियन्ते उच्चन्त इत्य-  
स्थयः ॥ २४६ ॥

अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम् ।

अनियुक्तेण चाक्षणां जायते व्यसनं नृणाम् ॥ २४७ ॥

अभावात् प्रागभावप्रधंसान्यान्याभावात्यनाभावभे-  
देन चतुर्विधाः, क्रमेण तेषां हेतुत्वमुदाहरति । अनभ्यासे-  
नेति । धीमतां ज्ञानिनाम् । अक्षणां मिन्द्रियाणाम् । अनि-  
युक्तेणामयमेन । व्यसनं स्तोपानस्त्रगच्छाद्यामक्तिः । अत्र याव-  
दिद्यानामभ्यासो धीमद्विश्वं संसर्गेऽक्षणां च नियहो न क्रियते  
तावद्वासनं जायत इति विद्याभ्यासादीनां प्रागभावा एव व्यसनं  
प्रति हेतवः ॥ २४७ ॥

गतः कामकथोन्मादो गतितो यौवनज्वरः ।

गतो मोक्षस्युता लृष्णा, कृतं पुण्याश्रमे मनः ॥ २४८ ॥

गत इति । पुण्याश्रमे पुण्याश्रमगमने प्रब्रज्यायामित्यर्थः ।  
अत्र पूर्वमुत्पन्नानां कामकथोन्मादादीनां प्रधंसाः पुण्याश्रमे-  
मनोनिधानं प्रति हेतवः ॥ २४८ ॥

वनान्यमूलि न गृहाण्येता नद्यो न योषितः ।

गृहा इमे न दायादास्तन्मे नन्दनि मानसम् ॥ २४९ ॥

वनान्यमूलोति । गृहाश्रमादिरज्य वनं गतस्यानन्दोक्तिरि-  
चम् । अमूलि वनानि अशेषेणाश्रमादिगृहन्यान्यपि न गृहाण्यि

द्युम्लातिष्ठयदाहमरभिकानि तत्त्वे मानसं कम्हतीत्यर्थः, एव-  
मरेण्यपि, अत्र वनादिषु गृहादीनां भेदा वनं गतस्य मानसम-  
न्वने हेतवः । ऐतत्त्वेदं च स्वरूपसम्बेन किञ्चु ज्ञायमानत-  
येति बोधम् । अत्र साहृद्यातिष्ठयहेतुकाभेदप्रतीतिपृष्ठक-  
भेदप्रतिपादनस्यैव चमत्कारजनकत्वाद्गृहादीनां साहृद्य-  
मस्येव परन्तु तदविवक्षणाच्चाच निर्णयोपमा ॥ २१८ ॥

अत्यन्तमसदार्थाणामनालोचितचेष्टितम् ।

अतस्येषां विवर्जने सततं सर्वसम्पदः ॥ २५० ॥

अत्यन्तमिति । अनालोचितचेष्टितमविमृश्यकारित्वम्, अत्य-  
न्तमसदविद्यमानं अनालोचितचेष्टितं नास्तीत्यर्थः । अतस्येषा-  
मिति, अत्रानालोचितचेष्टितस्यात्यन्ताभावः सम्पदिवद्द्वा हेतुः ॥  
॥ २५० ॥

उद्यानसहकाराणामनुद्दिन्ना न मञ्जरी ।

देयः पथिकनारीणां सतिलः सलिलाच्छलिः ॥ २५१ ॥

पूर्वोदाहरणत्रये भावप्रतियोगिकानामेवभावानां हेतुत्वं  
दर्शितं संप्रत्यभावप्रतियोगिकस्यायभावस्य हेतुत्वं दर्शयन्तु-  
दाहरति । उद्यानेति । मञ्जरी अनुद्दिन्ना न भवति उद्दिन्नैव  
भवतीत्यर्थः अतस्या उद्दीपकत्वात् पथिकनारीणां सतिलः  
सलिलाच्छलिदेयः मरणमुपस्थितमित्यर्थः स्तानामेव तर्पणा-  
च्छलिदानविधानात्, अत्र सहकारमञ्जर्युद्देदाभावस्याभावो  
विरहिणीमरणहेतुत्वेन वर्णितः, अयम् प्रागभावाभावः, वस्तुत

उत्थादो हि प्रागभावाभाव उच्यते तेज तद्रूपस्य सहकारम-  
ञ्जरीणामङ्गेदस्य परिचकनारीणां मरणे कारणत्वं । प्रधंसाभावो  
यथा, ‘पीनश्चोणि गभीरनाभिनिभृतं मध्ये स्त्रीष्वस्त्रियां पा-  
यादः परिरञ्चमञ्चिद्वितुः कान्तेन कान्तं वपुः’ । स्वावा-  
सानुपघातनिर्वृतमनास्तकालमीलहृषे यस्मै सोऽन्युतनाभि-  
पद्धतिर्विधाः शिवं शंसति । अत्र नारायणनाभिपद्धपा-  
वामस्यानस्योपघाताभावो ब्रह्ममनोनिर्वृतिं प्रति हेतुः, सहजं  
वस्तुनोऽवस्थानमेव प्रधंस्याभाव उच्यते । अत्यन्ताभावा-  
भावो यथा, अत्यन्तमसदार्थाणामित्यादौ, अत्रात्माचन्त्रेषि-  
तस्यात्यन्ताभावाभावः सम्बिद्वद्वौ हेतुः । एवमन्याभावा-  
भावाऽपि बोध्यः । अत्राभावाभावानां प्रतियोग्यादिस्वरूपत्वा-  
नभ्युपगमात् भावहेतुत्वं बोध्यम् ॥ २५१ ॥

प्रागभावादिस्वरूपस्य हेतुत्वमित्वं वस्तुनः ।

भावाभावस्वरूपस्य कार्यस्योत्पादनं प्रति ॥ २५२ ॥

एवमभावस्य भावमभावस्त्र प्रति हेतुत्वेन भंदान्तरं भव-  
तोति प्रतिपादयन्नभावहेतुमुपमंहरति । प्रागभावादीति ।  
भावाभावस्वरूपस्य भावस्वरूपस्याभावस्वरूपस्य चेत्यर्थः, तत्र  
पूर्वश्चोकेषु भावान् प्रति हेतुत्वम्, अभावं प्रति हेतुत्वलूक्यम्,  
यदा उद्यानेत्याद्युदाहरणे तथात्मं ज्ञेयं कार्यभृतस्य व्यज्यमान-  
मरणस्य प्राणवायोर्द्दर्शनंयोगनाश्रूपत्वात् । एवमुक्तादाहरणेषु  
भावानां कारकहेतुत्वं दर्शितं ज्ञापकहेतुत्वम् स्वयम्मूङ्गीयम् ॥

॥ २५२ ॥

दूरकार्यस्तत्सहजः कार्यानन्तरजस्था ।  
 अयुक्तयुक्तकार्या चेत्यसङ्घास्त्रिच्छेतवः ॥ २५३ ॥  
 तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयाः ।  
 अत्यन्तसुन्दरादृष्टास्तदुदाहृतयो यथा ॥ २५४ ॥

एवं हेतोः कारकलज्जापकलाभामभावरूपत्वेन च चैवि-  
 ध्यमुक्तं, सम्प्रति चित्रसंज्ञकं भेदान्तरमाह । दूरकार्य इति ।  
 दूरं देशतः कालतस्य दूरवर्त्ति कार्यं यस्य सः । तत्सहजः का-  
 र्येण सहैव जातः । कार्यानन्तरजः कार्यं जाते पश्चात्जातः ।  
 तथा अयुक्तमनुचितं युक्तमुचितस्य कार्यं यद्याहौ, अयुक्तका-  
 र्याच्युक्तकार्यश्चेत्यर्थः । अमङ्गा बङ्गविधाः । चित्रहेतव इति  
 चित्रसंज्ञका हेतव इत्यर्थः, दूरकार्यलादिनाश्वर्यविषयतादन्व-  
 र्थता, तदुक्तं भोजराजेन । ‘क्रियादाः कारणं हेतुः कारको  
 ज्ञापकस्था । अभावस्त्रिच्छेतुस्य चतुर्विधं इवं अते’ इति ॥  
 ॥ २५३ ॥

तेऽमी इति । गौणवृत्तिर्गाणी लक्षणा साच मार्गोपात्मिका  
 साध्यवसानायां प्रस्तुतानुपादानात्, मैव व्यपाश्रयः स्त्रिविषय-  
 काप्रस्तुताभेदप्रतीतिजनिका येषां ते अत्र गौणवृत्तिव्यपाश्र-  
 यत्वं क्वचित् कार्यस्यापि भवति यथा पश्चात् पर्यस्तेयादि  
 वद्यमाणादाहरणे रागसागर इत्यत्र, अत्र हेतोस्तथात्वस्य  
 परम्परयेति बोध्यम् । क्वचिदुभयोरपि यथा राजा इक्षार-  
 विन्दानीत्यादौ । तस्मात् गौणवृत्तिव्यपाश्रयादिति पञ्चम्यन्त-

पाठः सम्यक् । एतचोपलक्षणं रूपरूपकभावाभावेऽप्यथवसाय-  
माचविश्वयते हेतुनामत्यन्तमत्कारजनकत्वं बोध्यं यथा, आ-  
विर्भवति नारीणामित्यादिवक्ष्यमाणादाहरणे । अत्यन्तसु-  
न्दरा इष्टा इत्युदाहरणदर्शनार्थां हेतुः ॥ २५४ ॥

तदपाङ्गाङ्गयं जैवमनङ्गास्त्वं यदङ्गने ।

मुक्तं तदन्यतस्तेन सोऽप्यहं मनसि कृतः ॥ २५५ ॥

कमेण दूरकार्यादीनुदाहरति । तदपाङ्गाङ्गयमिति । हे  
अङ्गने प्रशस्ताङ्गवति तदपाङ्गाङ्गयं तदपाङ्गरूपं तेनाच सारोपा  
गौणी, अन्यतः पुरुषान्तरे, तेन तदपाङ्गरूपेणानङ्गास्तेण । स  
लक्ष्यभृतः पुरुषः, अपिर्भिन्नकमे अलक्ष्यभृतोऽहमपीत्यर्थः । अ-  
चास्त्ररूपकारणस्य लक्ष्यवेधरूपकार्यमेव निकटवर्ति, अलक्ष्य-  
भेदरूपन्तु दूरवर्त्यवेति कार्यस्ताच देशतोदूरस्यता । कालतो  
यथा, ‘अनश्रुतानेन युगोपमानमत्तमौर्ब्बिकिणलाञ्छनेन ।  
अस्यृष्टखङ्गत्वरणापि चामीद्रचावती तस्य भुजेन भूमिः’ । अत  
बाल्य एव यौवनकार्यभूमिरचाकरणाद्वृत्तादूरकार्यता ॥ २५५ ॥

आविर्भवति नारीणा वयः पर्यस्तशैशवम् ।

• सहैव विविधैः पुंसामङ्गजोन्मादविभ्रमैः ॥ २५६ ॥

आविर्भवतोति । पर्यस्तं निराकृतं शैशवं येन तदयो यौ-  
वनमित्यर्थः । अङ्गजोमनसिजः, अङ्गं मनसुपाये च प्रतीके चा-  
प्रधानके । अङ्गोदेशविशेषे स्थादङ्गं सम्बोधनेऽप्ययमित्युक्तेः । तेन  
कृत उम्मादो मनोविकारविशेषस्तात्कर्तविभ्रमैर्विश्वासैः, सहैवा-

विर्भवतीति अत्र नारीणां यौवनरूपं कारणं कार्यभृतैः  
पुंसां विभ्रमैः सहैव जायत इति कारणस्याद्गुकार्यकारिता  
प्रतिपादनाय कार्यप्राक्चल्लापन्नवैवेच्चिकः एव च  
विभ्रमाणां पश्चाद्गुत्पद्यमानत्वं प्रागुत्पद्यमानत्वेनाध्यवसितमि-  
त्यध्यवसायव्यपाश्रयोऽत्र हेतु च मत्कारातिशयजनको न तु गौ-  
णीव्यपाश्रय इति बोधम् ॥ २५६ ॥

पश्चात्पर्यस्य किरणानुदोर्णं चन्द्रमण्डलम् ।

प्रागेव हरिणानीणामुदोर्णारागसागरः ॥ २५७ ॥

पश्चादिति । किरणान् पर्यस्यात्स्थित्य उत्स्थिपदित्यर्थः ।  
पश्चादुदोर्णमुदितमित्यन्ययः । प्रागेव चन्द्रमण्डलोदयात् पूर्व-  
मेव, उदीर्णं उच्छलितः, समृद्धं इति क्षचित्पाठः, रागः  
कामाभिलाष एव मागरः । अतएवात्र कार्यस्यैव गौणवृत्ति-  
व्यपाश्रयत्वं, वस्तुतस्यत्र चन्द्रमण्डलोदयरूपकारणस्य चिप्र-  
कार्यकारिताप्रतिपादयिषया रागमागराच्छलनरूपकार्यस्य  
पश्चाद्गाविता पूर्वभावित्वेनाध्यवसिता, तेनात्राध्यवसायमूल-  
एव च मत्कारातिशयः ॥ २५७ ॥

राज्ञां हस्तारविन्दानि कुद्दलीकुरुते कुतः ।

देव त्वचरणदन्दरविवानातपः स्युग्मन् ॥ २५८ ॥

राज्ञामिति । त्वचरणदन्दमेव रवेर्बालातपः । रवीष्यत्र  
रागेति बङ्गयु पाठः तत्र त्वचरणदन्दस्य रागो लोहित्यं स एव  
बालातप उद्यदादित्यरम्भिरित्यर्थः, राज्ञां हस्ता हस्तदन्दा-

न्येवारविन्दानि तानि कुद्गलोकुरुते मुद्रितानि करोति, अत्र  
प्रणामार्थं हस्तयोः पुटीभावे कुद्गलीभावाधासस्त एव चम-  
त्वारातिशयः । अत्र बालातपर्षपहेतोररविन्दकुद्गलोभाव-  
रूपकार्यमयुक्तम् ॥ २५८ ॥

पाणिपद्मानि भूपानां सङ्कोचयितुमीश्ने ।

त्वत्यादनखचन्द्राणामर्चिषः कुन्दनिर्मलाः ॥ २५९ ॥

पाणिपद्मानोति । कुन्दनिर्मलाः कुन्दकसुमवद्वलाः,  
विशेषणमिदं नखानां चन्द्रत्वारोपे हेतुः । अत्र चन्द्रकिरणरूप-  
हेतोः पद्ममङ्कोचनं कार्यं युज्यत एव ॥ २५९ ॥

इति हेतुविकल्पानां दर्शिता गतिरीढशी ।

॥ इति हेतुचक्रम् ॥

इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ॥ २६० ॥

हेतुमुपमंहरति । इतोति । हेतोविकल्पानां प्रभेदानां ।  
गतिर्दिक् । दर्शितेति अनथा दिशा अपरेऽपि हेतुप्रभेदाः  
स्वयं ज्ञातव्या इत्यर्थः ।

अथ सूक्ष्मं सूक्ष्यति । इङ्गितेति । इङ्गितमभिप्रायबोधक-  
चेष्टाविक्षरणम्, इङ्गितं हङ्गतोभाव इति विश्वः, आकारो-  
रत्यादिसूचकमुखरागादिः, स्थादाकारोऽङ्गवैकल्पिति वोपा-  
लितः । ताभ्यां सूक्ष्मो सूक्ष्यितुं योग्योऽर्थः अभिलाषाद्यभ्य-  
न्नरविषयः रहःक्रियमाणवहिर्विषयो वा सूक्ष्मः सूक्ष्माख्याल-  
ङ्गारवान्, सूक्ष्मसंज्ञाया अन्वर्तनां प्रतिपादयितुं हेतुमुपन्य-

स्वति सौन्दर्यादिति अर्थस्येङ्गिताकाराभासेव सूक्ष्मतिवेद्यतादित्यर्थः । इत्यच्चार्थस्येङ्गिताकाराभ्यां निपुणमतिलक्ष्यत्ववर्णनं सूक्ष्मं नामालङ्कार इत्यर्थः । नव्यास्तु इङ्गिते नाकारेण वा लक्षितस्य सूक्ष्मार्थस्य निपुणमतिना केनचिङ्गस्त्रनरेण यत्पूर्वनं तप्तपूर्वं नामालङ्कारः सूक्ष्मार्थसूचनस्यैव चमत्कारजनकतयालङ्कारत्वादित्याङ्गः । तथाचोक्तं प्रकाशकृता, ‘कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽपर्याह्याऽन्यस्मै प्रकाशते । धर्मेण केनचिद्यत्र तप्तपूर्वं परिचक्षते’ इति । कुतोऽप्याकारादिङ्गितादेत्यर्थः । दर्पणकृतापि ‘संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽपर्य आकारेणेङ्गितेन वा । कथापि सूक्ष्मते भङ्गा यत्र, सूक्ष्मं तदुच्चाते’ इति ॥ २६० ॥

कदा नौ सङ्गमोभवीत्याकोर्ष्य वक्तुमक्षमम् ।

अवेच्य कान्तमबना लोलापद्मं न्यमीलयत् ॥ २६१ ॥

पद्मसमोलनादत्र सूचितोनिश्चि सङ्गमः ।

आश्वासयितुमिच्छन्त्या प्रियमङ्गजपीडितम् ॥ २६२ ॥

तत्रेङ्गितलक्ष्यार्थमुदाहरति । कदेति । नौ आवयोः । आकोर्ष्य जनवङ्गसे देशे । लोलापद्मं कोडार्थकमलम् । न्यमीलयत् समकोचयत् । पद्मसमोलनादिति । सूचितोलक्षितः । नायिकाया अभिप्रतो निशाभाविमङ्गमरूपः सूक्ष्मोऽपर्यः पद्मनोमीलनरूपेङ्गितेन किञ्चिलक्षित इति स्वमते स्वच्छसमव्ययः । नव्यमते तु नायिकस्य जिज्ञासितः उङ्गेतकालरूपः सूक्ष्मोऽपर्यस्य भूचेपादिनेङ्गितेन नायिकाया सूक्ष्मधिता निशासमव्ययः ।

शंसिकमलनिमीलनलोलया प्रकाशित इति । अत्र च वैचित्र-  
विशेषस्य सर्वालङ्घारविलक्षणतया सहृदयानुभवसिद्धलादल-  
ङ्घारतमेव ॥ २६१ ॥ २६२ ॥

मदर्पितदशस्तस्या गीतगोष्यामवर्णत ।

उद्भासरागतरला छाया कापि मुखाम्बुजे ॥ २६३ ॥

इत्यनुद्दिन्नरूपत्वाद्रत्युत्थवमनोरथः ।

अनुकृष्णैव द्वद्वम्भूदत्र व्यवस्थितः ॥ २६४ ॥

॥ इति द्वद्वम् ॥

आकारलक्ष्यार्थमुदाहरति । मदर्पितेति । उद्भासोऽत्य-  
धिको रागो रत्युत्सवाभिलाषस्तेन तरला मनोज्ञा उद्भास-  
रागव्यञ्जिकेत्यर्थः, कापि विलक्षणा छाया कान्तिः । अत्र  
नायिकाया रत्युत्सवाभिलाषरूपार्थस्य मुखच्छायावैलक्षण्य-  
रूपाकारेण किञ्चित्क्षम्यत्वं प्रतिपादितम् । नयमतेऽयत्र ता-  
दृशाकारसंलक्षितस्य तादृशसूक्ष्मार्थस्य तादृशवचनभज्ञा बम्बु-  
समोपे सूचनमिति लक्षणममन्वयः, सूचनस्य यस्यार्थस्तं प्रत्ये-  
वेति न नियमः तस्यान्योद्देश्यकलस्यापि सम्भवात् अतएव  
प्रकाशक्तता सूक्ष्मलक्षणे अन्यस्मै इत्युक्तम् । मदर्पितेत्यत्र लद-  
र्पितेति कचित्प्याठः ॥ २६५ ॥

ननु पूर्वोदाहरणे पद्मनिमीलनात् प्रतोयमानस्य निजि-  
सङ्गमस्य सूच्यत्वं तावदस्तु अत्र तु तादृशमुखच्छायारूपा-  
कारः स्फुटतरमेव रत्युत्सवमनोरथं लक्षयतोति कथमर्थस्य

स्फूर्तमित्याशङ्कोपपादयति । इत्यनुद्धिन्नरूपलादिति । रत्यु-  
त्सवमनोरथोऽनुद्धिन्नरूपलात् आकारलक्षितवेन स्फुटतर-  
प्रतीयमानरूपलाभावात् स्फूर्तमनुष्ठानैवापरित्यज्यैवाच व्यव-  
स्थितो वर्णितोऽभृदित्यन्वयः । अत्रायवस्थित इति क्वचित्याठः ।  
अथमर्थः, उदामरागतरत्ता मुखच्छाया तावद्रत्युत्सवमनोरथ-  
स्यैवानुभाव इति न नियमः विषयान्तरमनोरथादिनापि  
तस्मभवादित्यनैकान्तिकत्वात् स्फुटतरं तादृशमनोरथं लक्ष-  
यति लक्षयिता तु स्थोयविलक्षणमहदयतामधीचीनथा तथा  
कथञ्चित्क्षयतीति स्फूर्तमेव रत्युत्सवविषयस्येति ॥ २६४ ॥

लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगृहनम् ।  
उदाहरणं एवास्य रूपमाविर्भविष्यति ॥ २६५ ॥

अथोद्देशवाक्योक्तलवेतिनामान्तरं लेशं लक्षयति । लेश  
इति । लेशेनात्पतया निर्भिन्नं प्रकाशितं यत् वस्तुनो रूपं  
स्वरूपं तस्य निगृहनं संवरणं लेशः रोमाद्देदाद्यङ्गविकाश-  
दिना किञ्चित् प्रकाशमानस्य गोप्यविषयस्य केन्चिद्व्याजेन  
गोपनं लेशनिर्भिन्नवस्तुनिगृहनरूपलाङ्गोलहार इत्यर्थः ।  
इमेव नव्या व्याजोक्तिं वदन्ति । यथा ‘व्याजोक्तिश्छद्यनो-  
द्धिन्नवस्तुनो व्याजनापङ्कव इत्यतोऽस्य भेदः । गोप्यनिर्भदश  
क्वचिद्वापरित्युत्सवधानवचनेनापि भवति तस्य निगृहनमपि  
क्वचित् लेशेण क्वचिद्लेशेण च । क्वमेण यथा, ‘काण्डे वारि-

धराणामपतितया नैव शक्यते स्यातुम् । उत्कण्ठितासि त-  
रसे नहि नहि सखि पिच्छिलः पन्थाः । अत्रापतितयेति  
पतिं विनेत्यर्थः स्वयमेवाभिहितः पतनाभावप्रतिपादनेन नि-  
गूहितः । ‘इह पुरोऽनिलकर्मितवियहा मिलति का न वनस्पति-  
ना ज्ञाता । स्मरसि किं सखि । कान्तरतोत्सवं नहि घनागमरीति-  
स्तदाहता’ । अत्रापि स्ववचनेनैव स्वचिता पतिमङ्गमेच्छा घना-  
गमस्वभाववर्णनया निगूहिता । इयमप्यपङ्गुतिरिति विश्वनाथः ।  
ननु लेशनिर्भिक्षनिगूहने कश्मल्कारो येनास्यालङ्कारत्वमि-  
त्याशङ्काह । उदाहरण एवास्येति । रूपं वैचित्रात्मकलम् ॥

॥ २६५ ॥

राजकन्यानुरक्तं मा रोमोङ्गेदेन रक्षकाः ।

अवगच्छेयु रा ज्ञात महो श्रीतानिलं वनम् ॥ २६६ ॥

निर्भिक्षनिगूहने द्वौ हेतृ अनिष्टमध्यावना, लज्जा चेति  
तचानिष्टमध्यावनायामुदाहरति । राजेति । अवगच्छेयुरि-  
त्याशंसायां लिङ् । मावगच्छेयुरिति क्वचित्पाठः । अवगच्छे-  
युरित्यन्तमनिष्टशङ्कास्त्रुचकम्, अनन्तरं निगूहनोपायं चिन्त-  
यन्नाह । आ ज्ञातमिति । आ इति स्मरणे, ज्ञातं निगूहन-  
कारणं निश्चितमित्यर्थः । तदेवाह अहो इत्यादि, रोमोङ्गेदस्य  
श्रीतानिलजनित्वप्रतिपादनेनानुरागो निगूहितः ॥ २६६ ॥

आनन्दाशु प्रवृत्तं मे कथं दृष्टैव कन्यकाम् ।

अक्षि मे पुष्परजसा वातोङ्गूतेन दूषितम् ॥ २६७ ॥

सज्जायामदाहरति । आनन्दाश्रिति । कन्यकां विदाहाय गोष्ठ्यामानीतां कन्यां दृष्टैव कथमानन्दाशु प्रवृत्तमिति कन्यादर्थनमाचेषैव आनन्दाशुणानुरागव्यक्तिर्लक्षाकरीत्याशङ्का संवृणोति । अचिं मे इति । अत्राशुणोऽचिदूषणजन्यत्प्रतिपादनव्याजेनानुरागो निगृहितः । अत्र वस्तुनिर्भद्रशक्तिराशङ्कितः क्वचिन्नात्मिकः, तत्राशङ्कायामेतदाहरणद्वयम् । ताच्चिकत्वे यथा, ‘शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहसोपगृहोऽससद्रोमाञ्चादिविमंडुसाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः । आः शैत्यं तु हिनाचलस्य करयोरित्यूचिदान् सम्मितं शैलान्तःपुरमाहमण्डलगणैर्दृष्टेऽवतादः शिवः’ । अत्र मात्त्विकतया रोमाञ्चादीनां परिज्ञानं तत्वत्यानां जातमेव, अतएव सम्मितं शैलान्तःपुरमाहमण्डलगणैर्दृष्टैऽवत्युक्तम् ॥ २६७ ॥

इत्येवमादिस्थानेऽयमलङ्कारोऽतिशेषभते ।

लेशमेके विदुर्निर्दा स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ॥ २६८ ॥

अस्यालङ्कारत्वमुपपादयति । इत्येवमादीति । अतिशेषभते चमत्कारविशेषजनकतया कायमुपस्कुरते, तस्मादस्यालङ्कारत्वमनपस्थितोयमित्यर्थः । अन्यैरुक्तो व्याजस्तुत्यलङ्कारोऽपि लेश एवेत्याह । लेशमेके इति । लेशतः स्तुतिच्छ्वलेन कृतां निर्दां, तथा निर्दाच्छ्वलेन कृतां स्तुतिं वा एके लेशं विदुरित्यन्वयः । यदुक्तं दोषस्य यो गुणीभावो दोषीभावो गुणस्य यः । स लेशः स्थानतो नान्या व्याजस्तुतिरपीच्छत इति । यथा

लेशनिर्भवसुनिगृहने लेशनामालङ्कारतं तथा लेशक्त-  
सुतिनिन्दयोरपीति किं व्याजसुतोत्यलङ्कारान्तराभ्युपगमेन  
पञ्चवीकरणमिति मोऽपि लेश एवेत्यर्थः ॥ २६८ ॥

युवैष गुणवान्वाजा योग्यस्ते पतिरुच्चितः ।  
रणोत्सवे मनः सक्तं यस्य कामोत्सवादपि ॥ २६९ ॥  
वीर्यात्कर्षसुतिनिन्दैवास्मिन् भावनिवृत्तये ।  
कन्यायाः कन्पते भोगान्विविच्छान्तरम् ॥ २७० ॥

तत्र सुतिव्याजेन निन्दामुदाहरति । युवैष इति । स्वयं-  
वरगोष्ठ्यां कर्मचिद्राजाः समोपमुपस्थितां कन्यां प्रति सख्या  
उक्तिरियम् । योग्यः पतिः पतिलेन वरीतुमुचितः, अत्र हेतुः  
रणोत्सवे इति, अतिवीरोऽयं त्रियतामित्यापाततो वोधितं,  
पर्यवसाने तु मर्वदा रणव्ययोऽयमनेन ते कामसुखं दुर्लभं  
तत्र त्रियतामिति रणोत्सवे मनः सक्तमिति सुतिव्याजेन नि-  
न्दैव प्रतिपादिता ॥ २६८ ॥

एतदेवाह । वीर्यात्कर्षसुतिरिति । अस्मिन् पदे भोगान्  
. सुरतोत्सवान् निरन्तरं निर्विविच्छाहपभोक्तुमिच्छाः कन्याया  
भावो वरणाभिप्रायस्यस्य निवृत्तये राजा वीर्यात्कर्षसुति-  
निन्दैव कन्पते निन्दारूपेणैव परिणमतोत्यन्वयः ॥ २७० ॥

चपलो निर्व्यशासौ जनः किञ्चेन मे सखि ।  
आगःप्रमार्जनायैव चाटबो येन शिक्षिताः ॥ २७१ ॥

काव्यादर्शः ।

२४६

दोषाभासो गुणः कोऽपि दर्शितश्चाटुकारिता ।  
मानं सखीजनोद्दिष्टं कर्तुं रागादशक्तया ॥ २७२ ॥  
॥ इति लेशचक्रम् ॥

निन्दाव्याजेन स्तुतिमुदाहरति । चपल्ल इति । मान एव  
मनस्त्रिनोनां गौरवहेतुस्तदन्तरान्तरा प्रेयसि मानो विधेय  
इति वदन्तों सखीं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । चपलो नैकत्र  
स्थिरप्रेमा, निर्दयः परपीडानभिज्ञः । तेन युआभिरूपदि-  
ष्टेन मानेन । आगः प्रमार्जनाय अपराधविमारणाय, चाटवः  
प्रियवादाः ॥ २७१ ॥

दोषाभास इति । सखीजनैरुद्युष्मुपदिष्टं मानं रागात्  
प्रेयस्यनुरागाधिक्यात् कर्तुमशक्तया नायिकया कोऽपि स्तो-  
णामतोवहृदयङ्गमश्चाटुकारितारूपो गुणः, दोषाभासः प्रथमं  
दोष इवाभासत इति ताङ्गो दर्शितः, दोषत्वेन कथित  
इत्यर्थः । तस्मादत्र निन्दाव्याजेन स्तुतिर्दर्शिता ॥ २७२ ॥

उहिष्टानां पदार्थानामनूदेशो यथाक्रमम् ।  
यथासङ्घमिति प्रोक्तं सङ्घानं क्रम इत्यपि ॥ २७३ ॥

अथ क्रमं स्तुत्यति । उहिष्टानामिति । उहिष्टानां प्रथ-  
मगुक्तानां पदार्थानां यथाक्रममनूदेशः पश्चादुदेशः पश्चादुक्तैः  
पदार्थैः क्रमेणान्वय इत्यर्थः । यथासङ्घमितीति ननु हेतुः  
स्तुत्यो स्तवः क्रम इत्युदेशवाक्ये स्तवानन्तरं क्रम एवोहिष्टस्त-

कथं यथामङ्गलस्य निरुपणमित्यत्राह । मङ्गानं क्रम इत्यपीति  
यथामङ्गां मङ्गानं क्रम इति चयः पर्याया इत्यर्थः ॥ २७३ ॥

ध्रुवन्ते चोरिता तन्चि स्मितेच्छणमुखद्युतिः ।  
स्वातुमम्भः प्रविष्टायाः कुमुदोत्तलपङ्कजैः ॥ २७४ ॥

॥ इति क्रमः ॥

उदाहरति । ध्रुवमिति । स्मितेच्छणमुखद्युतिरिति जात्या-  
श्यत्वादेकवचनम् । चोरितेति किञ्चिदपहतेत्यर्थः समुदाय-  
हरणे नायिकायां तदसत्त्वप्रतिपत्त्या वैरस्यापत्तेः । अभ्यः  
प्रविष्टाया इति अभ्यःस्मितानां कुमुदादीनां चौर्यक्रियाया  
उपपादकम् । उत्तलं कुवलयम् । अत्र स्मितद्युतिः कुमुदेन,  
ईच्छणद्युतिरूपत्वलेन, मुखद्युतिः पङ्कजेन, चोरिता इति क्रमि-  
काणां क्रमिकैरन्वयः । अत्रालङ्घारान्तरविच्छिन्नमूलतया  
प्रौढोऽक्षाच वैचित्रातिशयः ॥ २७४ ॥

प्रेयः प्रियतरात्य्यानं, रसवद्रसपेशलम् ।

ऊर्जस्ति रुदाहङ्कारं, युक्तोत्कर्षच्च तत्रयम् ॥ २७५ ॥

संस्तुत्यक्रमाणां वस्तुत्याररुपव्यङ्गानां वाच्यार्थस्य शो-  
भाजगकतया समासोक्तिरुपकादिनाचालङ्घारत्वमुक्तम् असंस्त-  
त्यक्रमाणां रसादिव्यङ्गानामपि तथात्वेनालङ्घारत्वमुचित-  
मिति सम्ब्रह्मति तद्युपं प्रेयोरसवदूर्जस्तिनामकमस्तुत्यारचय-  
माह । प्रेय इति । चथाणामेवासंस्तुत्यक्रमत्वरुपैकधर्षवचा-

देकत्र निवेशः । तत्र प्रियतरं भावाभिष्ठाना बोद्धव्यस्तं प्रीत्य-  
तिशयकरं वकुर्वा प्रीत्याधिक्यसुचकमाख्यानं प्रेतः प्रहृष्टप्रिय-  
त्वात् प्रेतो नामालङ्घारः । भावास्त्र देवादिविषया रतिः  
प्रधानत्वेनाभियक्ता व्यभिचारिणश्च । यथा काव्यप्रकाशं,  
‘रतिदेवादिविषया व्यभिचारो तथाच्छ्रितः । भावः प्राकः’  
इति । विभावादिभिरपरिपुष्ट उदुद्धमात्रः स्यायो च भाव  
इति विश्वनाथादयः । यन्यक्तुमुद्देवादिविषयकरतिभाव-  
व्यञ्जकमेवाख्यानं प्रेतोलङ्घारतयाभिमतमिति वच्यमाणोदा-  
हरणदर्शनादवगम्यते । ततश्चाख्यानचातुर्येण व्यज्यमानोदे-  
वादिविषयकरतिभावोवाच्यस्य शाभाजनकतया प्रयोनामा-  
लङ्घार इति लक्षणम् । तथा रसपंशलं रसाभियक्ता मह-  
दयहृदयङ्गममाख्यानं रसवत् रसवक्षमालङ्घारः आख्यान-  
चातुर्येण व्यज्यमानोरम एव वाच्यस्य शाभाजनकतया रसव-  
दलङ्घार इत्यर्थः । रसखलपञ्च यन्यक्तता नोक्तमिति किञ्चि-  
दुच्यते । समुचितसन्निवेशशोभिना काव्येन तत्तदभिनयेन  
समर्पितैः सहदयहृदयं प्रविष्टैसदीयमहृदयतामधीचीनेन  
भावनाविशेषमहिन्ना विगत्तिरामरमणोल्लादिभिरल्लोकिक-  
विभावनादिव्यापारवत्तया विभावानुभावव्यभिचारिष्वद्वय-  
देष्टः सोनादिभिरालभगकारणाश्रितकार्त्तिभगदोपगकारण-  
रशुपातादिभिः कार्येण्श्चिन्नादिभिः सहकारिष्व सम्मूल्य प्रादु-  
र्भावितेनाल्लोकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्त्तितानन्दांशावर-  
णाङ्गानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमात्रत्वादिनिजधर्मणं प्रमात्रा

स्वप्रकाशतया वासवेन निजस्त्रूपानन्देन सह गोचरीक्षिय-  
माणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपः स्थिरतया वर्तमानतात्  
स्यायश्वद्वपदेष्ठो रत्यादिरेव रसः । तथा चाङ्गः ‘ब्रह्मः  
म तैर्विभावाद्यैः स्यायो भावो रसः स्वतः’ इति वक्तो व्यक्ति-  
विषयोक्ततः, व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्, यथाहि शरावादिना  
पिहितो दीपस्त्रिवृत्तौ सत्रिहितान् पदार्थान् प्रकाशयति  
स्वयस्त्र प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्या-  
दीन्, अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः, विभावा-  
दीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रङ्गरजतादीनामिव च सा-  
क्षिभास्यत्वमविरुद्धं, अच्चकविभावादिचर्वणाया आवरणभङ्गस्य  
वा उत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशो रमे उपचर्यते वि-  
भावादिचर्वणावधिकादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्र-  
काशस्त्रावृत्तत्वादिद्यमानोऽपि स्यायो न प्रकाशते इतीदम-  
भिनवगुप्तादिमतस्त्वारस्येन । भट्टनायकप्रभृतयस्तु ताटस्थ्येन  
रमप्रतीतावनास्त्राचत्वम् आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः  
मोतादीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावतात् विना विभाव-  
मनास्त्रमनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः न च कान्तात्वं साधारणं  
‘विभावतावच्छेदकमत्रायस्त्रीति वाच्यम् अप्रामाण्यनिश्चया-  
नास्त्रकन्दितागम्यात्प्रकारकञ्चानविरहस्य विशेष्यतास्त्रमन्व्याव-  
च्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्य-  
त्वात्, तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वापारेणा-  
गम्यत्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानु-

कूलधर्मपुरस्कारेणावस्थायन्ते, एवं साधारणीकृतेषु रामसीता  
 देशकालवयोऽवस्थादिषु पञ्चौ पूर्वव्यापारमहिति वृत्तीयस्य  
 भेगकृत्वव्यापारस्य महित्वा निर्गीर्खयोरजस्तमसारद्रिक्षमन्त्व-  
 जनितेन निजचित्सभावनिर्वतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्का-  
 रेण विषयोक्तते भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः  
 स्थायी रस इत्याङ्गः । नव्यास्तु काच्चे नाच्चे च कविना नटेन  
 च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनाव्यापारेण रामादौ भो-  
 तादिरतौ शुद्धीतायाम्, अनन्तरस्य महदयतोष्मामितस्य भा-  
 वनाविशेषरूपदोषस्य महित्वा कन्पितरामलाद्यवच्छादिते स्वा-  
 त्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्रिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्य-  
 मानोऽनिर्बचनीयः साच्चिभास्यः भीतादिविषयकरत्यादिरेव  
 रसः अयस्तु कार्या दोषविशेषस्य नाशस्य तदुन्नरभाविना  
 लोकोन्नराङ्गादेन भेदायहात् सुखपदव्यपदेश्यस्य भवतोति  
 प्राङ्गरित्येतत् सर्वे पण्डितराजेन विशदीकृतम् । भीतादि-  
 विभावादिभीरामादिनिष्ठतयानुभीयमानो रत्यादिस्यादि-  
 भावो वासनासन्निकर्षण मामाजिके साक्षात्क्रियमाणो रस  
 इति श्रीशङ्कुप्रभृतयः । वस्तुतस्तु विभावादिव्यज्ञमान-  
 रत्यादिस्यादिभावजन्यचमत्कार एव रसशब्देन व्यपदिश्यते  
 सर्वमन्यत् पञ्चवनमिति बोध्यम् । रत्यादियस्य रतिहास-  
 शोककोधित्वाहभयजुगुप्ताविस्मयाः क्रमेण शृङ्गारहास्यकरण-  
 रौद्रवीरभयानकवीभत्वाहुतरमानां स्थायिभावाः, शान्तस्य  
 तु शमो निर्वदो वेति कल्पदृथं । रत्यादीनां स्त्ररूपस्य दश-

रूपकादावभियक्तं ज्ञेयं । गृह्णारादीनां स्वरूपस्थान्यत्र विसर्ग  
इति नोक्तं । तत्र गृह्णारोऽपि समोगविप्रलभ्यमेदेन दि-  
विधः । वीरस्य दानधर्मदद्यायुद्धमन्त्रादिभेदेन बज्जावधः ॥

तथा रूढः प्रादर्भतः प्रधानतयाभियक्त इत्यर्थः, तादृ-  
शोऽहङ्कारो गर्व्यो यत्र तादृशमात्यानमूर्च्छिसि, आख्यान-  
चातुर्येण प्रधानतयाभियज्यमानो गर्वाख्यो व्यभिचारिभाव-  
ञ्जस्त्रिनामालङ्कार इत्यर्थः । गर्वस्य, गर्व्यो मदः प्रभाव-  
श्रीविद्यामत्कुलतादिजः, दत्तुकलक्षणाः, अयस्त्र प्राधान्येनाभि-  
व्यक्तो भाव एव, व्यभिचारी तथाच्चित इति प्रकाशकारोक्तेः ।  
एषामलङ्कारयपदेशे हेतुमाह । द्युकोऽत्कर्षच्छेति । द्युकोऽत्कर्ष-  
रथपदेशोपयुक्त उत्कर्षो वाच्यशोभा यस्मान्तत् सादृश्यादयो  
यथा वाच्यार्थशोभाजनकलादपमाद्यलङ्कारतया व्यपदिशन्ते  
भावादयोऽपि तथा वाच्यशोभाजनकलमास्यादित्यर्थः । मते  
चास्मिन् निरक्तभावेषु मध्ये देवादिविषयकरतिभावस्य प्रेतो  
नामालङ्कारत्वं गर्वाख्यभावस्य चार्जस्त्रिनामालङ्कारत्वम्, एत-  
द्विन्नानानु भावानां तथा रमाभासभावाभासभावशान्ति-  
भावादयभावशब्दतानास्त्र रसपेशलमित्यत्र रसपदस्य रस्य-  
मानपरत्वेन रसवदलङ्कारत्वम् एषामपि काव्यशोभाजनक-  
लाविशेणालङ्कारत्वौचित्यादिति वोध्यम्, उक्तस्थान्यत्र ‘रस-  
भावौ तदाभासौ भावस्य प्रश्नोदयौ । सन्धिः शब्दता चेति  
सर्वेऽपि रसमाद्यसाः’ इति । एते च रसादयः अङ्गिलेना-  
ङ्गत्वेन वाभियज्यमाना अस्त्रङ्कारतां प्राप्नुवन्ति अङ्गभूताभा-

मपि काव्यशोभाजनकत्वाविशेषात्, नचाङ्गिनो रसादेरलङ्घार्थ्यत्वात् कथमलङ्घारत्वमिति वाच्यं, स्वमते शब्दार्थात्मकस्य काव्यस्यैवालङ्घार्थ्यत्वेन तदुपस्कारकस्य व्यञ्ज्यमाचस्यैवालङ्घारव्यपदेश्यत्वात्, काव्यशोभाकरान् धर्षानलङ्घारान् प्रचक्षते इत्यलङ्घारत्वत्वेण शब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यैवालङ्घार्थ्यत्वप्रतिपादनात् । धर्षनिकारप्रभृतयस्तु अङ्गिनो रसादेरलङ्घार्थ्यत्वमङ्गभूतस्य तस्यालङ्घारत्वमाङ्गः । यथा ‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थं यत्तद्विज्ञनु रसादयः । काव्ये तस्मिन्बलङ्घारो रसादिरिति मे मतम्’ इति । तत्र रसानामङ्गत्वे रसवदलङ्घारः भावानामङ्गत्वे प्रेयोऽलङ्घारः रसाभासभावाभासयोरङ्गत्वे ऊर्जस्युलङ्घारः भावशान्तेरङ्गत्वे समाहितालङ्घारः भावादयभावसम्बिभावशवलतानामङ्गत्वे तत्त्वानामकालङ्घाराः । तदुकं विश्वनाथेन, ‘रसभावै तदाभासौ भावस्य प्रशमन्तया । गुणोभृतत्वमायान्ति यदालङ्घृतयस्तदा । रसवत् प्रेयऊर्जस्यि समाहितमिति क्रमात् । भावस्य चोदये सन्वै मिश्रत्वेच तदाद्यकाः’ इति । अत्र ते नव्या प्रष्टव्याः किं प्रधानतया प्रतीयमानस्य व्यञ्ज्यमाचस्यैवालङ्घार्थ्यत्वमुत तथाभृतस्य रसादेरेवेति तत्र न तावत् प्रथमः समासोऽत्यप्रस्तुतप्रशंसापर्यायोकादौ प्रधानतदैवाभिव्यज्यमानानां वस्तुलङ्घाराणां तैरप्यस्तुलङ्घारत्वाभ्युपगमात् न च तत्र वाच्यार्थस्यैव प्रधानत्वं प्रतीयमानानां वस्तुलङ्घाराणान्वप्रधानत्वम् अप्रधानानान्वस्तुलङ्घारत्वमुचितमेवेति वाच्यं, तत्र तत्र वाङ्मानमेव प्राधान्यस्तानुभवसिद्धतयानपलपनीयत्वात्, नापि दितीयः

सामान्येन काचात्मकतया भुपगतानां वस्तुलङ्काररसादिवज्ञा-  
नां सधे वस्तुलङ्कारागाणामलङ्कारत्वं रमादीनामेवालङ्कार्यत-  
मिति निर्वकुमयोग्यतात् नच रमादिवज्ञस्यैव प्रधानस्य  
काचात्मतादलङ्कार्यत्वं न वस्तुलङ्कारयोरिति विश्वनाथोक-  
मादरणीयं, ‘यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानामच्छ्रुतिः शोण-  
मणीमयूखः । सन्धाभ्रमं प्राप्तवतामकार्डेष्यनङ्गनेपथविधि-  
यधन्त’ इत्यादौ तेनायङ्गभृतेन गटङ्गारेणैव काचात्मवहाराभु-  
पगमात् मंलच्यकमयज्ञवृष्टपधनिभंदस्य मर्ब्बालङ्कारिकैरभु-  
पगतत्वेन रमादेवेव काचात्मनप्रतिपादनस्य वज्ञशो दृषितत्वाच्च,  
तस्माद्वज्ञतयाऽविशिष्टानां वस्तुलङ्काराणां रमादीनां वा का-  
चात्माभाजनकतयालङ्कारत्वं युक्त्यनुभवप्रतिपन्नमिति, प्राचां सर-  
णिरेव साधीयमी । अयाच रमस्यालङ्कारत्वमुक्तं, पूर्वस्त्र ‘मधुरं  
रसवदाचीत्यादिना गुणत्वमुक्तं तत्कथमेकस्य गुणत्वमलङ्कारत्व-  
च्छेति चोद्यस्य समाधानं स्वयमेव यन्दकारोऽये करिष्यतीति  
सर्वमवदातम् ॥ २७५ ॥

अद्य या मम गोविन्दः । जाता त्वयि गृह्णागते ।

- कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्त्वैवागमनात् पुनः ॥ २७६ ॥
- इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादशी धृतिः ।
- भक्तिमाचसमाराध्यः द्वप्रीतश्च ततो हरिः ॥ २७७ ॥

तत्र प्रथमं प्रेय उदाहरति । अद्येति । विदुरस्य खग्नहागतं  
श्रीकृष्णं प्रति सामुरागोक्तिरियं । हे गोविन्द अद्य त्वयि गटहागते

मदीयभवनं प्राप्ते सति मम या प्रीतिर्जाता कालेन समयाक्ष-  
रेण तवैव पुनरागमनादेषा प्रीतिर्भवेत् भविष्यति न तु तथि  
गते लदितरमाधुममागमादिना ईदृशो प्रीतिर्भविष्यतीत्यर्थः ।  
इतः प्रतिनिवृत्तस्य ते यावत् पुनरागमनं तावहुःखेनैव स्या-  
स्यामीति भावः । नैषा काले भवेत् प्रीतिरिति पाठस्तु न  
मनोरमः । अत्र विदुरस्य वाक्यभज्ञाभिव्यक्त्यमानो भगव-  
दिष्यरतिभावो भगवतः प्रीत्यतिशयजननेन वाच्यस्य श्वो-  
भातिशयं पुण्याति । श्वोकोऽयं ‘सम्मानवज्ञमानप्रीतिविरहे-  
तरविचिकित्वामहिमख्यातितदर्थप्राणस्यानतदीयतामर्वतद्वा-  
वाप्रातिकृत्यादीनि च स्मरणेभ्यो वाङ्मन्त्रात्’ इति शाण्डिन्य-  
स्त्रीयप्रीत्युदाहरणतया स्वप्रेश्यराचार्येणापनास्तस्य, ‘या प्रीतिः  
पुण्डरीकाच्च तवागमनकारणात् । सा किमाख्यायते तु भ्यमन्त-  
रात्माभि देहिनाम्’ इति महाभारतीयोद्योगपर्वीक्रिविदुर-  
वचनस्य प्रतिरूपः ॥ २७६ ॥

इत्याहेति । युक्तम् अव्यभिचारिभगवद्वक्त्रिसुचक्क्वात् ।  
मीचीनं, युक्तमित्यत्र वाक्यमिति क्वचित्प्याठः । युक्तवे हेतुः  
नान्यतस्तादृशो धृतिरिति यतोऽत्र विदुरस्य अन्यता भगव-  
द्विन्नविषयेभ्यस्तादृशी धृतिः सन्तोषो न प्रतिपन्नेति शेषः ।  
तवैवागमनात् पुनरित्यनेन विषयान्तरेभ्यो विदुरस्य प्रीतिर्भव-  
तीति सुचितमित्यर्थः । अतएव भक्तिमात्रेण अनन्यसाधा-  
रणानुरागणैव समाराधो हरिः सुप्रीतश्वाभृदित्युद्देश्यस्य  
प्रीतिकरमाख्यानमिति प्रेयोऽस्तद्वारः ॥ २७७ ॥

सोमः स्वर्यो मरुद्भिर्व्याम चोतानलो जन्म ।  
 इति रूपाण्यनिकम्य त्वा द्रष्टुं देव ! के वयम् ॥ २७८ ॥  
 इति साक्षात्काने देवे राज्ञो यद्राजवर्मणः ।  
 प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥ २७९ ॥

वक्तुः प्रीतानुदाहरति । सोम इति चोता यजमानः ।  
 इति रूपाणि सोमादिस्तूलरूपा अष्टा मूर्त्तीरतिकम्य सूक्ष्म-  
 स्वरूपेण वर्त्तमानं सच्चिदानन्दात्मकं त्वां द्रष्टुं साक्षात्कर्त्तुं  
 वयं के अयोग्या एव, तर्हि यद्येऽसि तत्र भक्तानुकम्यैव  
 हेतुरिति भावः । अत्र निष्कलम्य परत्रद्वाणो जन्यप्रीतेरभा-  
 वात् वकुम्भद्विषयकप्रीत्यैव प्रेयस्तम् ॥ २७८ ॥

इतीति । देवे महादेवे । राजवर्मणः राजवर्मनामकम्य ।  
 प्रीतिप्रकाशनं महादेवविषयकरतिभावस्त्रिचनं, तच्च तदपि,  
 प्रेय इत्यवगम्यतामिति एतेन भक्तम्य प्रोत्यभिव्यक्त्या बोद्धव्यस्य  
 देवादेः प्रीतिः, केवला भक्तस्यैव देवादिविषयिका प्रीतिर्वा  
 यज्यमाना प्रेयेऽलङ्घार इति सुचितम् । आकद्येऽस्मिन् देव-  
 विषयकरतिभावो दर्शितः । मुनिविषयो यथा, ‘हरत्यधं  
 सम्प्रति, हेतुरैष्वतः शुभस्य, पूर्वाचरितैः लतं शुभैः । शरीर-  
 भाजां भवदोयदर्थनं व्यनक्ति कालचित्येऽपि योग्यताम्’ ।  
 इयं हि नारदं प्रति श्रीकृष्णस्याक्षिः । ‘अत्युच्चाः परितः स्फु-  
 रक्ष्मि गिरयः स्फारास्तथामोधयस्तानेतामपि बिभृतो किमपि  
 न लाकामि तुभं नमः । आश्वर्यण मुङ्गमुङ्गः सुतिमिति

प्रस्तोमि यावहूवस्तावदिभिर्दिमां स्मृतस्वभुजो वाचकातो मु-  
द्रिताः । अत्र पूर्वार्द्धे भृविषयः, उच्चरार्द्धे राजविषयः ।  
‘एच्छेहि वत्स रघनन्दन पूर्षचन्द्र चुम्बामि गूर्जनि चिरच्च परि-  
व्यजे त्वाम् । आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्भामि वन्देऽथवा  
चरणपुष्करकद्यन्ते’ । अत्र पुत्रविषयः, अत्र वक्षलाख्यो रम  
दत्यन्ये, एवमन्यविषयोऽपि रतिभावः प्रेयोऽलङ्घारतया वाभ्यः  
कालाविषया तु रतिर्वक्ता गृह्णारतां प्राप्नोति तत्र रमव-  
दलङ्घार दत्यनन्तरमेव दर्शते ॥ २७८ ॥

स्मृतेनि प्रेत्य सङ्गन्तुं यथा मे मरणं मतम् ।

सैषा तत्त्वी मया लव्या कथमन्वै जन्मनि ॥ २८० ॥

प्राक् प्रीनिर्दर्शिता, सेयं रनिः गृह्णारतां गता ।

रूपवाङ्म्ल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥ २८१ ॥

अत्र रमवदलङ्घारं दर्शयन् तत्र रमाश्च गृह्णारादिभ-  
देन बङ्गविधा इति तेषु ब्रह्मादिकोटपर्यन्तानामादरणीय-  
नाभ्यर्हितत्वात् प्रथमं गृह्णारमुदाहरति । स्मृतेतोति । स्मृतां  
मदाक्षमां पुनर्नागानां प्रमादेन प्रत्युच्छीवितां प्राप्य तस्याः पत्थुः  
कुवल्लियाश्वस्त्राकिरियम् । स्मृतेति स्मृतेयमिति निश्चित्य यथा  
सह प्रेत्य परलोके मङ्गन्तुं भयोर्गं प्राप्नुम् । स्मृतेऽभिप्रेत्य सङ्ग-  
न्तितिपाठे तु दत्यनुतापे स्मृते मरणे मति, भावे कः, यथा  
परलोकगतया सह सङ्गमभिप्रेत्याभिलम्बेत्यर्थः । मे मया मरणं  
मतमिष्ट, मैषा तत्त्वी कथमन्वै जन्मनि विना मरणं लभा-

कथमिति विक्षये । सैषा तत्त्वोत्थं चैवावस्त्रोति कश्चित्याठः, तत्र आवस्त्रो अवन्तिदेशोऽन्नवा वासवदत्तेत्यर्थः, वासवदत्ताया दाहप्रवादेन दुःखितस्य पुनर्सां प्राण्य वसुराजस्यानन्दोक्तिरियम् । अत्र सम्भोगशृण्वाराख्यो रसः स च ‘दर्शनस्यर्गनादीनि निषेवते विलासिनौ । यत्रानुरक्तावन्योऽन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः’ इत्युक्तलक्षणः । अयम्ब्रु विप्रलभ्मानन्तरं प्रतिपाद्यमानः पुष्टिं प्राप्नोतीति विप्रलभ्मानन्तर्याणात्र वर्जितः । यदुकं, ‘न विना विप्रलभ्मेन सम्भोगः पुष्टिमश्चते । कथायिते हि वस्त्रादौ भृ-यान् रागो विवर्द्धते’ इति । विप्रलभ्मस्य ‘यत्र तु रतिः प्रकृष्ट्या नाभीष्टमुर्येति विप्रलभ्मोऽसावित्युक्तलक्षणः’ अयम्ब्रु पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकतया चतुर्विधः, विप्रलभ्मस्यायं मदालमापत्ते करुणात्मकः, यदुकं ‘यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्संभ्ये । विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुण-विप्रलभ्माख्यः’ इति ॥ २८० ॥

न च चापि नायिकाविषयिणी प्रीतिर्वज्यते तत् प्रेयोऽल-  
ङ्कारादस्य कोभेद इत्याशङ्कायामाह । प्रागिति । प्राक् पूर्व-  
दर्शिते अद्य येति सोमः स्तुर्य इति च ज्ञेकदये प्रीतिर्दर्शि-  
ता संप्रयोगशून्यत्वाद्रतिः प्रीतिः प्रेयोऽलङ्कारतया दर्शिते-  
त्यर्थः, प्रीतिप्रेयसोः पर्यायता, यदुकं, ‘मनोऽनुकूलेष्वर्येषु  
सुखमंवेदनं वचः । असंप्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते’ इति ।  
संप्रयोगस्य विभावादिभिः परिपोषः स चात्र वर्तत इत्याह  
मेयमिति, सा तादृशो देवादिविषयकरतिष्जातीयेत्यर्थः,

रतिः ‘रतिर्मनोऽनुकूलेर्थं मनसः प्रवणाचितम्’ इत्युक्त्वा-  
चणा प्रकृते कान्ताविषयकोऽनुराग इत्यर्थः, रूपस्य स्वरूपस्य  
बाह्यस्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः परिपोषः तस्य योगेन  
सम्बन्धेन गृह्णारतां गता असौकिकचमत्कारजनकतया  
तत्परिणामेन वा गृह्णाररसत्वं प्राप्ता, तत्त्वादिदं वचो  
रसवत् रसवदलङ्घारवत्, एतदुक्तं भरतेन ‘विभावानुभाव-  
व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः’ इति । अत्र गिर्हकनायिका  
विभावः, सौचित्यवचनवदनस्तेरतादयोऽनुभावाः, इर्षविस्म-  
यादयोव्यभिचारिणः, एतैरभिव्यज्यमानः पुष्टिं नीतोर-  
त्याख्यः स्यायिभावो रसतामापद्यते । रसोद्धार्धे च विभावा-  
दीनां त्रयाणां समुदितानामेव हेतुत्वं यत्र तु एकस्य दद्या-  
र्वा सङ्घावस्त्रात्मन्यतमस्तौचित्यादात्मेषण समुदितत्वं वोधम् ।  
यथा ‘दोर्धात्तं ग्रदिन्दुकान्ति वदनं बाह्य नतावंशयोः म-  
क्षिप्तं निविडाक्षतस्तनमुरः पार्श्वं प्रस्तृष्टे इव । मध्यः पाणि-  
मितो नितमि जघनं पादावुदयाङ्गुली कन्दोनर्त्यितुर्यहौ,  
मनसः स्फृष्टं तथास्या वपुः’ । अत्र मालविकामभिलपतोऽग्नि-  
मित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्षनेऽनुभावानां नयनवि-  
स्फारादीनां व्यभिचारिणां त्रौत्क्यादीनामौचित्यादेवात्मेषः ।  
एवमन्यात्मेषो वोधः, यत्र तु कर्त्त्रेणात्मेषस्त्र तु दोष एव ।  
यथा ‘परिहरति रतिं मतिं लुनोते स्वल्पतितरां परिवर्तते  
च भृयः । इति वत् विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं  
किमत्र कुर्व्वः । अत्र रतिपरिहारादीनां करुणादावपि सम्भ-

वात् कामिनोक्षेपाविभावः छच्छादाचेष्टः । एतच्च प्रसङ्गा-  
दुक्षम् ॥ २८१ ॥

निगृह्ण केशेष्वाकृष्णा येनाग्रतो मम ।

सेऽयं दुःशासनः पापोलघ्यः किं जीवनि क्षणम् ॥ २८२ ॥

इत्यारुह्य परा कोटीं क्रोधा रौद्रात्मतां गतः ।

भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्सवद्वचः ॥ २८३ ॥

रौद्रमुदाहरति । निगृह्णते । केशेष्विष्ववच्चेदे मप्तमो ।

कृष्णा द्वौपदी ।

परां कोटीमारुह्यं विभावादिभिः परिपुष्टिं प्राप्य,  
क्रोधः स्यायभावः म च 'प्रतिकूलेषु तेच्छास्यावबोधः क्रोध  
इत्यते' इत्युक्तचरणः शत्रुं प्रत्यपचिकीर्षाया उद्रेकः क्रोध  
इत्यर्थः, रौद्रात्मतां गतो रौद्ररसत्वं प्राप्तः । तथाह्यत्वं  
दुःशासन आलम्बनविभावः तस्य कृष्णाकेशाकर्षणादिचेष्टित-  
मुद्दीपनविभावः पाप इत्यधिकेपवचनमनुभावः प्रतीयमा-  
ना गर्वादयो व्यभिचारिभावाः, एतैः पुष्टिं नीतः क्रोधस्या-  
यिभावो रौद्ररसतां गतः । रसवत् रसवदाख्यालङ्घारवत् ॥

० ॥ २८४ ॥ २८३ ॥

अजित्वा सार्षवामुवर्मनिङ्गा विविधैर्मखैः ।

अदत्त्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम् ॥ २८४ ॥

इत्युक्ताच्चः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।

रसवत्तं गिरामासां समर्थयितुमोश्वरः ॥ २८५ ॥

वीरमुदाहरति । अजितेति । अजिता युद्धे व्युपराजया-  
दलब्धा । अत्र क्लान्तवाक्यचयेण क्रमेण युद्धधर्मदातविषया  
उत्साहः स्फुचिताः । तेनाच युद्धवीरो धर्मवीरो दानवी-  
रस्तेति वीररसचयम् । दयावीरो यथा, ‘शिरामुखैः स्फुन्दत-  
एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति । दृष्टिं न पश्यामि त-  
वापि तावत्, किं भक्षणात्मं विरतो गहत्मन्’ । अत्र जीमृत-  
वाहनस्य गृहडभुक्तावशिष्टनागान् प्रति दयायामुकाहः । एव-  
मन्येऽपि मन्त्रादिवीराः सम्भवन्ति ते च मुद्राराचमादौ जा-  
तव्याः ॥ २८४ ॥

इत्युत्साह इति । उत्साहः ‘कार्यारम्भेषु मंरम्भः स्वयारु-  
त्साह उच्यते’ इत्युक्तलक्षणः । मंरम्भ उद्योगः । प्रकृष्टात्मा  
तत्त्विद्वावादिभिः परिपुष्टः, वीररमात्मना तिष्ठन् वीररम्भं  
प्राप्नुवन्, रमवत्त्वं रमवदलङ्कारवत्त्वं समर्थयितुं सम्बादयितुम्,  
ईश्वरः समर्थः । अत्र युद्धे विजेतव्याः, धर्मं धर्मः, दाने याचका  
उत्साहस्यालम्बनविभावाः, प्रतीयमानाः सहायान्वयणादेव  
जुभावाः हर्षधृतिमत्यादद्योर्यमिचारिणः एतेरभिव्यक्ते उ-  
त्साहो वीररम्भां भजते ॥ २८५ ॥

यस्याः कुसुमश्यापि कोमलाङ्गा रुजाकरी ।

साधिश्चेते कथं तन्वे झटाग्नवतीं चिताम् ॥ २८६ ॥

इनि कारुण्यमुद्रित्तमलङ्कारतया स्फुतम् ।

तथा परेऽपि विभूषितस्याङ्गुतभयानकाः ॥ २८७ ॥

करणमुदाहरति । यस्मा इति । तच्चीत्यत्र देवोति क्वचित्  
पाठः । इतीति । काहस्यं करणरम्यायभावः शोकः स च  
'इष्टनाशादिभिस्तो वैक्षयं शोकशब्दभाक्' इत्युक्तस्त्वयः, चेत-  
सा वैक्षयं दुःखविशेष इत्यर्थः । उद्दिक्षं विभावादिभिः परिपुष्टं  
सत् अलङ्कारतया स्फूर्तं करणरम्यभूय काव्यशोभाजनना-  
द्रमवदलङ्कारत्वेन ज्ञातमित्यर्थः । अत्र शोच्या गतप्राणा  
तच्ची आलम्बनविभावः कुसुमश्यापीत्यादिना जीवन्यास्त-  
स्याः सुखावस्यास्मरणमुद्दीपनविभावः करणवचनमनुभावः  
कथमित्याच्चिप्राच्चिन्तादयो व्यभिचारिणः एतैः परिपुष्टः शो-  
काख्यः स्यायभावः करणरम्यत्वं भजते ॥

तथेति । यया पूर्वोदाहरणचतुर्थये रतिक्रोधात्माह-  
शोकाः स्यायभावास्तत्त्विभावादिभिः परिपुष्टाः इटङ्गाररौ-  
द्रवोरकरणरम्यभूता दर्शितास्या वच्चमाणोदाहरणव्यपि  
जुगुप्साहासविस्मयभयरूपाः स्यायिनो विभावादिभिः परि-  
पुष्टाः सन्तो वीभत्सहास्याद्भूतभयानकास्या रसा भवन्तोति  
ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

पायं पायं तवारीणां शोणितं पाणिसंपुटैः ।  
कौणपाः सह नृत्यन्ति कवचैरत्मभूपणाः ॥ २८८ ॥

तत्र वीभत्समुदाहरति । पायं पायमिति । पायं पायं  
पुनःपुनः पीला । कौणपा रात्रसाः । कवचैर्निर्मलकक्षि-  
यायुक्तकल्पवरैः सह । अस्यं पुरीतत् तद्भूषणं येषां ते ।

अत्र जुगुप्ता स्थायिभावः सा च, ‘दोषेक्षणादिभिर्गर्हा  
जुगुप्ता विषयोङ्गवा’ इत्युक्तलक्षणा, तस्याः पाणिमंपुटैः शोणित-  
पायिनोऽन्त्वभूषणाः कौणपा आलम्बनविभावः प्रतोयमाना  
निष्ठोवनास्यवलनादयोऽनुभावाः, मोहापमारादयो व्यभि-  
चारिणः, एतैः परिपुष्टा जुगुप्ता बीभत्सरसलं भजते, बी-  
भत्सश्वाच राजविषयरत्नौ गुणोभृतः तादृशरतिश्च वर्णनो-  
यप्रोतिकरत्वात् प्रेयोऽलङ्कार इति प्रेयोरस्वतोः सङ्करो-  
यम् ॥ २८८ ॥

इदमन्त्वानमानाया लग्नं स्तनतटे तव ।

क्वाद्यतामुत्तरीयेण नवं नखपदं सखि ॥ २८९ ॥

हास्यमुदाहरति । इदमिति । सखोममत्तं मानं प्रकाश-  
यन्तीं रहस्य कान्तेन सह कृतकीडां नायिकां प्रति मस्या  
उपहासोकिरियम् । अस्तानोऽपर्युषितः अस्मद्भर्यनाशतेना-  
यपरिकृत इत्यर्थः तादृशोमानो अस्यास्तथाविधाया अपि  
तव स्तनतटे नवं न तु प्राचीनं नखपदं लग्नं हृश्यते एतनु  
मानिन्यास्ते नायकमङ्गाभावेनामम्बवमित्युत्तरीयेण क्वाद्यता-  
मित्यन्वयः । अत्र हासः स्थायिभावः स च ‘वागादिवैकृतै-  
स्त्रीतोविकाशोहास उच्यते’ इत्युक्तलक्षणः, विकाश उपहसनीय-  
त्वेन ज्ञानं । निरुक्तमानवती नायिका तस्यालम्बनविभावः  
नखत्तमुद्दीपनविभावः तादृशमोक्षुण्ठनवचनमनुभावः प्रतो-  
यमाना अवहित्यादयो व्यभिचारिणः, एतैः परिपुष्टा निरुक्त-

हासस्यायिभावो हास्यरसतां भजते । अच्छानमानाया इत्यच  
अच्छानमालाया इतिपाठो न मनोरमः ॥ २८८ ॥

अंगुकानि प्रवालानि पुष्पं हारादिभूपणम् ।  
शाखाश्च मन्दिराण्येषां चित्रं नन्दनशाखिनाम् ॥ २९० ॥

अहुतमुदाहरति । अंगुकानीति । प्रवालानि किञ-  
लयाः । नन्दनशाखिनां कन्पद्रुमाणाम् । अत्र विस्मयः स्या-  
यिभावः स च ‘विविधेषु पदार्थेषु स्तोकमीमातिवर्त्तिषु ।  
विस्कारश्चेत्सो यस्तु स विस्मय उदाहत’ इत्युक्तलक्षणः,  
विस्कारोविस्कारः स च दृष्टुदेतुभ्योऽमम्भविलक्षानेन हेतवन-  
रानुभ्याने मनोव्यापाररूपः । तस्य च अस्त्राकिकनन्दन-  
शाखिन आलम्बनविभावः तेषामंगुकादिमन्त्रस्तपणमहिमा  
उद्दीपनविभावः प्रतीयमानाः स्तम्भस्तेदादध्येऽनुभावाः वित-  
र्कादध्योय्यभिचारिणः एतैः परिपुष्टो विस्मयोऽहुतरमत्वं भजते  
॥ २९० ॥

इदं मघोनः कुलिशं धारासन्निहितानलम् ।  
स्मरणं यस्य दैत्यस्त्रीगर्भपाताय कल्पते ॥ २९१ ॥

भयानकमुदाहरति । इदमिति । अत्र दैत्यस्त्रीणां भयं  
स्यायिभावः तस्य ‘रौद्रशक्ता तु जनितं चित्तवैक्षयदं भयम्’  
इत्युक्तलक्षणम् । रौद्रशक्ता शाचवादेरनिष्ठजननसामर्थ्येन,  
चित्तवैक्षयदं चित्तवैक्षयजनकस्वानिष्ठतर्कणं । तस्य मघवा

आलम्बनविभावः निरुक्तरूपं कुलिशमुदीपनविभावः गर्वपातेऽनुभावः प्रतीयमाना आवेगसमोहादयो व्यभिचारिणः एतः परिपुष्टो भयस्थायिभावो भयानकरसत्वं भजते । इत्येते शृङ्खारादयोऽष्टौ रसा दर्शिताः, रसानामएमात्रसंख्यकलञ्च नाश्चाभिप्रायेण ‘अष्टौ नाश्च रसाः स्तुता इत्युक्तेः, श्रवकाव्ये शान्तोऽपि रसः सम्भवति यद्कं, ‘न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न देषरागौ न च काचिदिच्छा । रसः म शान्तः कर्थितो मुनीष्टैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानं’ इति, सचाप्रदर्शितोऽपि ज्ञेयः यथा, ‘अहौ वा हारे वा कुमुकशयने वा दृष्टिं वा मणे वा लोष्टे वा बलवति रिपो वा सुहृदिं वा । हणे वा स्वैरेण वा मम ममदृगो यान्तु दिवमाः कदा पुण्डिरण्ये शिवश्चिवश्चिवति प्रलपतः । अत्र शमोनिर्वदेा वा स्थायिभावः वस्तुमात्रस्यानित्यत्वं भगवान् शिवो वा आलम्बनविभावः पुण्डारण्यमहापुण्यमङ्गादय उदीपनविभावाः, रोमाङ्गादयोऽनुभावाः, इर्षस्त्रिनिमतिभृतदयादयाव्यभिचारिणः । एतं देवादिविषयकरतिप्रधानीभृतगर्वभिन्नभावानां रसाभासभावाभावादयभावशान्तिभावमन्धिभावशब्दत्वानां रसमानत्वाद्रसवदलङ्घारत्वमिति तेषामुदाहरणानि पञ्चवनभिया नोकानिस्त्रयं ज्ञातव्यानि ॥ २८२ ॥

वाक्यस्थायाम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितोरसः ।

इत्त्वं त्वष्टुरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥ २८३ ॥

॥ रसवच्चक्रम् ॥

ननु माधुर्यगुणनिष्ठपणे मधुरं रमवदित्यनेन रमवत्तस्य  
माधुर्यगुणलभुक्तम् अत्र ललङ्घारलभिति कोऽनयोर्भेद इत्या-  
शङ्काह । वाक्यस्येति । अत्र वाक्यस्येति वाच्यस्यापलक्षकं ‘वस्तु-  
न्यपि रमस्थितिरित्युक्तेः । अयाम्यता याम्यतदोषाभावसमा-  
नाधिकरणालङ्घारादिसत्तेत्यर्थः भैव योनिर्वच्छिका यस्य सः ।  
दर्शित इति ‘कामं सर्वोऽप्यलङ्घारो रमसर्थं निषिद्धति ।  
तथाष्यगाम्यतेवैन भारं वहति भृथमा’ इत्यनेत्यर्थः । इह-  
तिति गिरां विभावाद्युपस्थापकवाक्यानाम् अष्टरमायत्ता गृ-  
ङ्घाराद्यएरसमङ्घावाधीना रमवत्ता रमवदलङ्घारवत्ता स्तता,  
अयमर्थः रमशङ्कक्याम्यताभावसमानाधिकरणालङ्घारादि-  
सत्तस्य माधुर्यगुणलं पूर्वमुक्तम् इह तु रमानामेवालङ्घारव-  
मतो न माधुर्यं रमवतोरभेद इति । अत्राहेति परिचयाय  
न तु प्रकृतोपयोगाय रममात्रोपादानेनैवोपयोगमिह्वेतिति  
बोधम् ॥ २६२ ॥

अपकर्त्ताहमस्तोति हृदि ते मास्म भृङ्गयम् ।  
विमुखेपुन मे खड़ः प्रहर्तुं जातु वाच्छन्ति ॥ २६३ ॥  
एवमुक्ता परो युद्धे निरुद्धो दर्पणानिना ।  
पुंसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम् ॥ २६४ ॥  
॥ ऊर्जसि ॥

ऊर्जस्वुदाहरति । अपकर्त्तति । युद्धे पलायमनं झंडुं  
प्रति कथचिद्दोरस्याकिरियम् । अत्र युद्धवोरसस्य गर्भास्यो

व्यभिचारिभावः स्थायिभावमुक्ताहं निगीर्णाद्रिक्षतया व्यक्त  
इत्युच्चस्ति ऊर्ज्ज्ञो वस्तप्रकाशनमचालीति युत्पत्तेः, एव अथ-  
यमपि भाव एव ‘व्यभिचारी’ तथाच्छ्रित इति प्रकाशकृदक्षेः,  
परन्तु ऊर्ज्ज्ञः प्रकाशनादृज्ज्ञस्तोति विशेषनाम्ना व्यपदिश्यते । यत्र  
लघमेव स्थायिन्युत्पाहे निलीयते तत्र वीरो रसः, स च पूर्वी-  
क्षरसवन्नाम्ना व्यपदिश्यते । यथा ‘चुद्राः सन्वासमेते विज-  
हित हरयः ! चुलश्चकेभक्तमा युध्यद्देहपु लज्जां दधति परममी  
सायका निष्पतन्तः । मैमित्रे ! तिष्ठ, पात्रं लग्नमि नहि रूपां  
नन्वहं मेघनादः किञ्चिद्दृभज्ज्ञलीलानियमितजलधिं राम-  
मन्त्रेषयामि’ । अत्र पादचयेणाद्रिक्षतया व्यज्यमानोऽपि गर्व-  
श्चतुर्थपादव्यञ्जय रामजयोत्साहायस्यायिभावस्य कुहौ नि-  
लीयते अतएवेदं प्रकाशकृता वीररमादाहरणत्वेनोपन्यस्तं  
तस्मादयं रमवदलङ्घारएव । नयामु रमाभासो भावाभासो  
वा रमान्तरादेवज्ञत्वमापन्नः सन्तुर्ज्ज्ञस्त्रुलङ्घारी भवतीत्याच-  
क्षते तत्र रुचिरं तथात्वे ऊर्ज्ज्ञस्त्रिमंजाया अन्वर्यतानुपात्ताः  
श्वलङ्घारमंजानां तथात्वस्त्रैव नियमात् । विमुखेष्विति । तथाच  
हन्यादित्यनुवृत्तौ मनुः ‘नायुधव्यसनप्राप्तं नात्मं नातिपरि-  
चतम् । न भोतं न परावृत्तं मतां धर्ममनुमरन्’ इति ॥

॥ २६३ ॥

एवमुक्तेति । एवमादिकमिति यथाच वीरव्यभिचारी गर्व  
ऊर्ज्ज्ञस्त्रिमेनोक्तस्था रमान्तरव्यभिचारिगर्वेऽप्युच्चस्त्रीवर्थः ॥

॥ २६४ ॥

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्स्यैव सिद्धये ।  
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥ २५४ ॥

अथ पर्यायोक्तं स्वयति । अर्थमिति । इष्टं विवचितमर्थं वक्तुर्वैदग्धभङ्गापत्या सत्त्वाद्वाचकशब्देनानाख्यायाप्रतिपाद्य तस्यैव विवचितार्थस्य सिद्धये सचमन्कारप्रतिपत्तये यत् प्रकारान्तराख्यानं प्रकारान्तरेण वैदग्धद्योतकवाक्यविशेषोपन्नासभङ्गा व्यञ्जनया प्रतिपादनं तत् पर्यायैण तदर्थकशब्दान्तरेण विवचितार्थस्याकलात् पर्यायोक्तमिष्यत इत्यन्यः । पर्यायता च शब्दानामेकार्थप्रतिपादकता, तादृशप्रतिपादकता च एकयैव हृच्छेति न नियमः हृच्छन्तरेणापि तदर्थप्रतिपादकते पर्यायतानपाद्यात्, विवचितार्थस्याच क्वचिद्वाच्यार्थनियतसम्बन्धितात् वक्त्रादिवैशिष्ठप्रतीतिमन्तरेणापि इटिति प्रयुक्तशब्देन व्यञ्जते क्वचिच वाच्यएव प्रकारान्तरेण व्यञ्जत इत्यस्य द्वौ भेदौ, एवमस्य व्यञ्जामूलकेभ्योऽलङ्कारान्तरेभ्यो भेदो बोद्धयः तेषु निरुक्तरूपत्वाभावात्, न च 'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्नानः सन्तु ते शिवाः । ममापि जन्म तच्चैव भूयाश्च गतो भवान्' इत्यादौ वाच्यव्यञ्जयार्गमनागमनयोर्नियतसम्बन्धितात् कथमाचेपादस्य भेद इति वाच्यं वाच्यनियतसम्बन्धितोऽपि गमनाभावरूपव्यञ्जस्य वक्तुर्वैशिष्ठपर्यालोचनया लयि गतेऽहं मरिआभीति द्वितीयाद्दुर्व्यञ्जपर्यालोचनया च प्रतीयमानन्देन इटिति व्यञ्जमानत्वाभावात् । तच प्रथमसोदाहरणं 'दश्यत्वसौ

परमृत' इत्यादि, यन्यक्ता दर्शयिष्यते । द्वितीयस्य यथा 'य  
प्रेक्ष्य चिररुद्धापि निवासप्रोतिरुज्जिहता । मदेनैरावणमुखे  
मानेन हृदये हरेः । अत्र शक्तैरावणै मानमदमुक्ताविति  
व्यञ्ज्यं तदेव च प्रकारान्तरेण वाच्यमिति । केचित्तु पर्यायो-  
क्तेऽस्मिन् द्वयोरेव वाच्यव्यञ्जयोः प्रसुतलं समांसाकौ वाच्यस्यैव  
प्रसुतलम् अप्रसुतप्रशंसायां व्यञ्ज्यस्यैव प्रसुतलमित्येषां मिथो-  
भेद इत्याङ्गः, तत् प्रसिद्धोदाहरणविरुद्धमित्युपेचितम्॥२८५॥

दश्यत्यसौ परमृतः सहकारस्य मञ्जरीम् ।  
तमहं वारयिष्यामि युवाभ्यां स्वैरमास्यताम् ॥ २८६ ॥  
सङ्गमय सखीं यूनं सङ्केते तद्रतोत्सवम् ।  
निर्वर्त्तयितुमिच्छन्त्या कथाप्यपद्धतं ततः ॥ २८७ ॥  
॥ इति पर्यायोक्तम् ॥

तत्र वाच्यव्यञ्जयोर्नियतमम्बन्धिते पर्यायोक्तमुदाहरति ।  
दश्यत्यसाविति । दश्यति दंशनेत विनष्टां करोति, सहकारस्ये-  
कुञ्जाद्विःप्रस्तुत्यर्थः, तत एव वक्त्रा वहिर्गमनमध्यवात्  
वारयिष्यामि निवारयेय, स्वैरमास्यतां सविश्रमं स्थीयताम् ।  
अत्र जनवत्प्रदेशे सुरतोत्सवः सप्रतिबन्ध इति कुञ्जात्  
स्वस्यापसरणं सख्या इष्टं तस्य च इतोऽहं गच्छामोति वाचक-  
शब्देन प्रतिपादने वक्त्रा अवैदर्घ्यं न वा चमत्कारः अतः  
परमृतवारणप्रकारेण तद् व्यक्तिं नोतमिति वैचिचातिशयः,  
अत्र वाच्यं दूरस्यास्य परमृतस्य वारणं प्रतीयमानगमनं विना-

नुपपत्तिं वाच्यवज्ञयोर्नियतसम्बन्धितं ततश्चाच्यबोध-  
समकाल इव व्यज्ञस्य गमनस्य प्रतीतिः । एवं ‘सृष्टास्ता-  
नन्दने श्चाः केशसम्भोगलालिताः । मावजं पारिजातस्य  
मच्चर्या यस्य मैनिकैः’ । अत्र हययोवेण सर्वे विजित इति  
विवचितोऽर्थस्तन्नियतसम्बन्धिना तस्मैनिकानां पारिजातमच्च-  
रोमावज्ञस्यर्थनरूपेण वाच्यार्थेन इटित्येव व्यक्तिं नीत इति  
पर्यायोक्तमेव ॥ २६६ ॥

आकस्य प्राकरणिकार्थमप्रतिपाद्य लक्षणममच्यो दुर्बोध  
इति तं विशदयति । सङ्क्षम्यति । यूना कामुकेन मह,  
सङ्केते सङ्केतस्याने, तद्रुतोत्सवं तयोः सुरुतोत्सवं निर्बन्धयितुं  
स्वापमरणवज्ञनेन निर्जनतया सविश्रम्यं सम्यादयितुम् ॥

॥ २६७ ॥

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं देववशात् पुनः ।

तस्माधनसमापत्तिर्या तदाङ्गः समाच्छितम् ॥ २६८ ॥

अथ समाहितं लक्षयति । किञ्चिदारभमाणस्येति । कि-  
ञ्चित् कार्यमारभमाणस्य किमपि स्वरूपयोग्यं कारणमवलङ्घ्य  
कर्तुमुद्यतस्य कर्तुस्तस्य कार्यस्य यत् साधनं तत्कार्यापधायक-  
कारणान्तरं तस्य या देववशादकमात् पुनः समापत्तिः स-  
म्यक् प्राप्तिः देवात् कारणान्तरप्राप्त्या अकेशेनारथकार्यस्य  
यत् समाधानमित्यर्थः तत् कार्यसमाधानरूपत्वात् समाहित-  
माङ्गरित्यन्वयः । नवास्तु इमं समाधिनामकं, भावशान्तिम्

समाहितनामिकामाङ्गः, अत्र माधवपदं साधनान्तरपरं तत्  
एव वैचित्रं बोध्यं, स्यष्टमुकं प्रकाशकृता ‘समाधिः सुकरं  
कार्यं कारणान्तरयोगतः’ इति । अखद्वारलक्ष्मास्य वर्णमान-  
त्वेन वाच्यशोभाजनकवाङ्माध्यम् । अत्र दैववशादिति न नि-  
यमः बुद्धिपूर्वं कारणान्तरावलम्बनेन कार्यसमाधानेऽप्यस्य  
भावात् । तदुकं भोजराजेन ‘कार्यारम्भे सहायात्रिदैवादैव-  
कृतेह या । आकस्मिको बुद्धिपूर्वमध्यो वा, तत्समाहितम्’  
इति ॥ २८८ ॥

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पनिष्यनः ।  
उपकाराय दिष्ठैतदुदीर्णं घनगर्जितम् ॥ २८९ ॥

॥ समाहितम् ॥

उदाहरति । मानमस्या इति । मानिन्याः पादयोः पत-  
नमपि माननिराकरणस्य कारणं, तदुकं ‘माम भेदस्य दानम्  
नत्युपेचे रसान्तरम् । तद्वद्वाय पतिः कुर्यात् षडुपायातिति  
क्रमात्’ इति । परन्तु नैतदुपधायकं तेन मानभङ्गाभिवै उप-  
चादेरपि कर्त्तव्यत्वेनाभ्यनुज्ञानात्, घनगर्जित्वूपधायकमेव  
अत्यन्तोदीपकलात् तथाचात्र पादपतनरूपकारणमवलम्बु  
मानभङ्गार्थं प्रवृत्तस्य दैवादुदीर्णेन घनगर्जितरूपेण कार-  
णान्तरणाक्षेन मानभङ्गरूपकार्यसमाधानमिति समाहितम् ॥  
॥ २९० ॥

आशयस्य विभूतेव्वा यन्महत्तमनून्तमम् ।

उदात्तं नाम तं प्राङ्गरलङ्घारं मनोपिणः ॥ ३०० ॥

अथोदात्तं लक्षयति । आशयस्तेति । आशयो मनोव्यापारविशेषः अभिप्राय इति यावत् । आशयः स्वादभिप्राय इति मेदिनो । तस्य, तथा विभूतेः सम्यक्तेव्वा यदनुन्तमं नास्युन्तमं यस्मादिति लोकातीतमित्यर्थः, महत्तमाधिक्यं वर्णयते इति शेषः तमलङ्घारमुदात्तार्थवर्णनरूपत्वादुदात्तं नाम प्राञ्जरित्यन्ययः । वर्णनीयस्य भावाशयत्ववर्णनं लोकातिशयसम्पन्निवर्णनं वा द्विविधं उदात्तालङ्घार इत्यर्थः । नव्यासु प्रस्तुतस्याङ्गत्वेन वर्णमानं महतां चरितमप्युदात्तं वदन्ति, यदाङ्गः यदापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् इति । यथा ‘नाभिप्रभिन्नाम्बुद्धामनेन संस्तुयमानः प्रथमेन धात्रा । अस्मुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते’ । अत्र प्रस्तुतस्य समुद्रस्याङ्गत्वेन भगवतो लोकसंहरणपूर्वकशयनरूपचरितं वर्णितम्, इदमपि प्रस्तुतस्य माहात्म्यातिशयत्यज्ञकलात् लोकातीतविभूतिवर्णनरूपमेवेति पृथक्त्वेनोपन्यासो यन्यत्ता न कृतः ॥ ३०० ॥

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः ।

यो रावणश्चिरम्बेद्कार्यभारेऽप्यविज्ञवः ॥ ३०१ ॥

तत्राशयमहत्तमुदारति । गुरोरिति । यो रावणस्य देवादिभिरजेयस्यापि निशाचरपतेः श्चिरम्बेदरूपं यत् कार्यं तद्भू-

पेभारोनिष्वाह्यं गुहतरकर्म तचापविक्षिवोऽयाकुलः स राघवः  
गुरोः पितुः शासनं राज्यं विहाय वनं गच्छेत्याजाम्, अत्येतु-  
मतिक्रमितुं, न शशाकेति याजमतिगम्भेयगुक्तिः, अत्र रा-  
वणबधूपासाधसाधनेऽप्यचुच्चो रामो यद्राज्यच्युतिकरं पितुः  
शासनं नात्येतुं शशाक तेनास्य धर्मपरतत्वतया लोकातोता  
महाशयता प्रतीयते ॥ ३०१ ॥

रत्नभिज्ञिपु सङ्क्रान्तैः प्रतिविम्बशतैर्वृतः ।

ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्रादाकृनेयेन तत्त्वतः ॥ ३०२ ॥

विभृतिमहत्त्वमुदाहरति । रत्नभिज्ञिष्विति । रत्नभिज्ञिपु  
मंक्रान्तैः प्रतिफलितैः, कृच्छ्रादतिक्रेत्यनेयेन हनुमता,  
तत्त्वतो यथार्थतया, कृच्छ्रेण लङ्केश्वरस्य तात्त्विकतयहे प्रति-  
विम्बशतवृत्तलं हेतुः । अत्र रावणस्य वासटदभिज्ञीनां प्रति-  
विम्बयाहि रत्नमयत्ववर्णनातिमहतो विभृतिः प्रतीयते ॥ ३०२ ॥

पूर्वचाशयमाह्यात्यमत्राभ्युदयगौरवम् ।

सुव्यञ्जितमिति प्रोक्तमुदात्तदयमप्यदः ॥ ३०३ ॥

॥ उदात्तम् ॥

अन्ये लाशयाधिके उदात्तं नाद्रियन्ते तत्पतं दृष्टयन्तस्य  
हेत्विष्वाभ्युपगमे हेतुं दर्शयति । पूर्वत्रति । पूर्वत्र गुरुः शास-  
नमतोतुमित्युदाहरणे, अत्र रत्नभिज्ञिपु मंक्रान्तैरित्यादौ ।  
अभ्युदयगौरवं विभृतिमहत्त्वं सुव्यञ्जितं स्पष्टतया व्यक्तिं नो-

तम् इत्यसाहूतोरदानस्य दयमपि प्रोक्तं, प्रोक्तमित्यच  
व्यक्तमिति क्वचित्याठः स्फुटं प्रतीयमानमित्यर्थः । विषयद्वैवि-  
धेन वैचित्रसापि द्वैविधादलङ्घारस्यास्य द्वैविधप्रतिपादनं  
युक्तिसिद्धमेवेति भावः ॥ ३०३ ॥

अपङ्गुतिरपङ्गुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।  
न पञ्चेषु स्मरस्य सहस्रं पत्रिणामिति ॥ ३०४ ॥

अथापङ्गुतिं सञ्चयति । अपङ्गुतिरिति । किञ्चित् किमपि  
प्रकृतस्य गुणक्रियादिरूपधर्ममपङ्गुत्यापलय अमत्यतया प्रति-  
पाद्येत्यर्थः, अन्नार्थस्य धर्मान्तररूपारोयमाणस्य दर्शनं सत्य-  
त्वेन व्यवस्थापनमपङ्गुतिरितान्वयः । अत्र प्रकृतधर्मनिषेध-  
पूर्वको धर्मान्तरारोपः, रूपकसामान्ये तु न प्रकृतधर्मनिषेधः,  
तज्जापङ्गवरूपे तु धर्मिणमेव प्रकृतं निषिध्य धर्मान्तरारोप  
इति रूपकादस्य भेदः, एवमुत्तेजातिशयोऽत्रादौ न कस्यापि  
निषेध इति तेभ्योऽस्य भेदो बोध्यः, यदि च ‘यदेत्वश्चान्तर्जलद-  
लवलीलां वितनुते तदाचष्टे सोकः शशक इति नो मा प्रति  
तया । अहन्त्विन्दुं मन्ये ‘लदरिविरहाकान्तरसणोकटाचो-  
ल्कापातव्रणकिणकलङ्घाङ्किततनुम्’ । अत्र प्रकृतस्य शशका-  
ङ्कितत्वस्य प्रतिषेधेन तादृशकिणकलङ्घाङ्कितत्वप्रतिपादनात्  
मन्येष्वद्प्रयोगात् प्रकृतनिषेधपूर्वकोभ्रेजाभ्युपगम्यते तदा प्र-  
तोतिलोकयोर्भेदो बोधस्थाहि उत्तेजायां प्रतीतिः सम्भा-  
वनात्मिका अत्र खाहार्यात्मिकेति, एवमात्मेषे निषेधमात्रं न

त्वारोपः । प्रकृतनिषेधश्च नजादिवाचकशब्दवच्छलादिशब्दे-  
नापि, यथा ‘उपवनसहकारोङ्गासिमुङ्गुङ्गुलेन प्रतिविशिख-  
मनेनोङ्गुङ्गितं कालकूटम्’ इति, तथा धूमं दधत् प्रकटला-  
च्छनकैतवेनेत्यादि, क्वचिन्नयटप्रत्ययेनापि, यथा ‘ताराम-  
यास्त्र च फेणभङ्गा’ इत्यादि, एवम् ‘अमुष्मिन् लावण्या-  
मृतसरसि नूनं मृगदृशः स्मरः शर्वम्भुष्टः पृथुजघनभागे  
निपतिः । अदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे शि-  
खाधूमस्थेयं परिणमति रोमावलिवपुः’ । अत्र वपुःशब्देनापि  
रोमावलिनिषेधः, एवं प्रकारान्तरेण व्यञ्जनया च निषेधो  
बोधः । एतानि च नवीनाभिमताया अपकृत्या उदा-  
हरणानि, स्वमते लेपु तत्त्वापक्षवृहपकमेव धर्मिणं प्रकृतं  
निषिध धर्मयन्तरस्यारोपात् धर्मारोप एवापक्षुतिविषयतायाः  
पूर्वे व्यवस्थापितत्वात् । उदाहरति । न पञ्चयुरिति । इपु-  
ष्चकमात्रेणदृशपोडाजनकलासम्भवादिति भावः । पत्रिणां  
वाणानां सहस्रं सहस्रमङ्गलमस्तीति शेषः, अत्र स्मरन्  
धर्मिणः पञ्चेषुताधर्मां प्रतिषिध बहस्त्रवाणतारूपधर्मान्तरा-  
रोपः ॥ ३०४ ॥

चन्दनं चन्द्रिका मन्दो गन्धवाहश्च दक्षिणः ।

सेयमग्निमयी स्वष्टिर्मयि, शीता परान् प्रति ॥ ३०५ ॥

शैशिर्यमभ्युपेत्यैव परेष्वात्मनि कामिना ।

आष्ट्रयप्रकाशनात्मस्य सेयं विषयनिङ्गुतिः ॥ ३०६ ॥

क्रमेण भेदान् दर्शयन् विषयापञ्चुतिमाह । चन्दनमिति ।  
परान् मंयोगिनः प्रति शीता शीतला, मेयं चन्दनादिरूपा  
स्थिर्मयि विरहिणि अग्निमयो अग्निवद्वाहिकेत्यन्वयः ॥

ैश्चिर्यमिति । अत्र प्रकृतस्य चन्दनादेनिषंधारोष-  
धर्मयोः शैत्यतापकलयोर्ब्रह्मितविषयत्वप्रतिपादनादियं वि-  
षयनिङ्गुतिर्विषयापञ्चुतिः । अत्र नजाद्यप्रयोगाच्छैत्यस्य नि-  
षेधो व्यङ्ग्यः ॥ ३०५ ॥ ३०६ ॥

अमृतस्यन्दिकिरणश्वन्द्रमा नामतो भतः ।

अन्य एवायमर्थात्मा विषनिष्ठन्दिदीधितिः ॥ ३०७ ॥

इति चन्द्रत्वमेवेन्द्रौ निवर्त्यार्थान्तरात्मता ।

उक्ता स्मरार्ज्जनेत्येषा स्वरूपापञ्चुतिर्मता ॥ ३०८ ॥

स्वरूपापञ्चुतिमाह । अस्तेति । चन्द्रमा नामतः मंजायां  
चन्द्रादिमंजामात्रप्रटृत्ये इत्यर्थः, अमृतस्यन्दिकिरणो भतः  
अस्तस्यन्दिकिरणेराहादकलेन भ्रमविषय इत्यर्थः, न लर्यतः,  
तस्यामृतस्यन्दिकिरणेराहादकलं तत्त्वतो नास्तीत्यर्थः, अय-  
मर्थः शब्दमात्रस्य युत्पन्निभिरुत्तमतेन चन्द्रचन्द्रमःप्रभृति-  
मंजाशब्दानां चन्द्रति किरणेराहादयतोति चन्द्रः, चन्द्रः सन्  
मस्यति परिणमत इति चन्द्रमाः इत्यादियुत्पन्निनिवस्यम्  
प्रटृत्यन्नाच न तु तच्चेषां शक्तिः यथा गृहादिवाचकानां  
मण्डपादिशब्दानां मण्डपानकर्त्तादौ, तस्मादिन्द्रौ चन्द्रादि-  
प्रयोगो रुठ एव न धौगिक इति, एवं चन्द्रस्यामृतस्यन्दि-

किरणैराह्लादकत्वस्त्रूपं निषिध्य आरोप्यं दर्शयति । अन्य एवायमिति । अर्थात्मा चन्द्रादिपदस्य समुदायशक्तिप्रतिपाद्यार्थभृतोऽयमन्य एव ताह्लाह्लादकभित्र एव, कीदृशः स इत्याह विषनिष्ठन्दिदीधितिरिति विषनिष्ठन्दिकिरणत्वस्त्रूपं प्रवादसिद्धमण्डनुभवाकलित्वाच्चास्त्वेत्यर्थः । अन्य एव अन्यस्त्रूप एव किं तत् स्त्रूपमित्याह अर्थात्मेति । अत्रास्त्वेत्याहार्थम् अस्य अर्थतो वस्तुत आत्मा स्त्रूपं विषनिष्ठन्दिदीधितिः विषनिष्ठन्दिदीधितमस्य तात्त्विकं स्त्रूपमित्यर्थः, अर्थावास्त्रविक आत्मा स्त्रूपं अस्तेति बड्डप्रीहिणा अर्थात्मेत्यमित्यस्य विशेषणं वा ॥ ३०३ ॥

इतीति । चन्द्रत्वमस्तुतस्यन्दिकिरणैराह्लादकत्वस्त्रूपं चदि आह्लादे इति चदधातुना चन्द्रपदमिद्देशिति भावः । एवं कारस्य निवर्त्यत्यनेनान्वयः निषेधानन्तर्यणीवारोपस्य वैचिचन्द्रजनकत्वमितिप्रतिपादनायावधारणम्, एतेन कचिदपङ्गवपूर्वक आरोपः आरोपपूर्वकस्यापङ्गव इति केषाच्छ्रद्धभेदकरणं प्रत्युक्तम् । अर्थान्तरात्मता विषनिष्ठन्दिकिरणत्वस्त्रूपस्त्रूपान्तरवत्ता, उक्ता आरोपिता । स्त्रूपपापङ्गुतिरिति स्वं स्त्रूपतेऽनेनेति स्त्रूपं नैमर्गिकगुणक्रियादिस्त्रूपोधर्मः तत्रिषेधपूर्वकेयमपङ्गुतिरित्यर्थता, कचिच्चु अर्थान्तरात्मतेऽन्तर-

अर्थान्तरात्मनेति उक्तेत्यत्र च उक्तमिति पाठः तत्र उक्तमिति  
भावप्रयोगः ॥ ३०८ ॥

उपमापङ्कुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता ।  
इत्यपङ्कुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः ॥ ३०९ ॥  
॥ अपङ्कुतिचक्रम् ॥

उपमापङ्कुतिरिति । उपमायाः सादृश्यस्यापङ्कुतिरूप-  
मापङ्कुतिः सादृश्यापङ्कवपूर्वकसादृश्यातिशयस्यापनस्त्वयर्थः ।  
उपमास्वेव दर्शितेति ‘न जातु ग्रन्थिरिन्द्रासे मुखेन प्रति-  
गर्जितुम् । कलहिनो जडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा’ इत्यु-  
पमाभेदेषु मध्ये प्रतिषेधोपमायामित्यर्थः, अत्र हि इन्द्रुप्रति-  
योगिकस्य यत्किञ्चित्सादृश्यस्य प्रतिषेधेन सादृश्यातिशयस्य  
स्यापनम् । तत्त्वापङ्कवरूपकन्त्वपङ्कुतितो भिन्नविषयमिति तत्रैव  
प्रतिपादितम् । इतीति अनया दिशा अपङ्कुतिभेदानां वि-  
स्तरो लक्ष्येषु लक्ष्यः स्वयं ज्ञेय इत्यत्त्वयः । उपमापङ्कुतिवद-  
स्तङ्कारान्तरप्रतिभेदात्पञ्चित्वेततोऽपरेऽप्यपङ्कुतिभेदा बोद्धव्या  
इत्यर्थः, तत्र उत्तमापङ्कुतिर्थया ‘अश्रुच्छलेन सुदृशो ज्ञत-  
पावकधूमकलुषाद्याः । अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्य-  
पूर इत्र’ इति, एवमन्येऽपि बोधाः ॥ ३१० ॥

स्निष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः ।  
तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ॥ ३१० ॥

अथ शब्दार्थगतलेन द्विविधं स्नेषमेकेनैव स्वच्छेन स्वच्छ-  
यति । श्लिष्टमिति । अनेकार्थमभिधया दृस्या युगपदनेकार्थ-  
प्रतिपादकपदवत् तथा एकरूपान्वितम् अर्थमेदेन भिन्नत्वेऽपि  
युगपदुच्चारणविषयतामापन्नेनैकेन स्वरूपेण युक्तं वर्ता वाक्यं  
श्लिष्टं स्नेषालङ्कारविद्यत्वयः, इष्टमिति वकोक्तिरपेषु प्रायः  
सर्वव्यप्त्यलङ्कारेषु शाभातिशयजनकतया कविभिरभिसूचित-  
मित्यर्थः, यथा वच्यति ‘स्नेषः सर्वासु पुण्याति प्रायो वकोक्तिपु  
श्रियम् । भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्तोक्तिश्चेति वाङ्ग्यम्’ इति ।  
स्नेषश्च एकतावभासहेतुर्निरन्तरमस्वभविशेषः स च प्रकृते श-  
ब्दयोरेकप्रयत्नोऽचार्यत्वरूपः, अर्थयोच्चैकप्रयत्नोऽचार्यमाणशब्दे-  
नैककालबोधवरूपः, शब्दयोर्जतुकाष्ठन्यायेनार्थयोच्चैकवृन्त-  
गतफलद्रव्यन्यायेन स्नेष इत्यन्ये । स्नेषद्रव्यस्त्रैतदेकत्रैव सम्भवति  
तथा हि यद शब्दस्य नानार्थत्वं तत्रार्थयोः श्लिष्टं विद्यतएव  
शब्दस्यार्थमेदेन शब्दभेद इति नयेन विभिन्नताच्छब्दयोरभि  
श्लिष्टत्वम्, अतएव शब्दस्नेषस्यास्य शब्दालङ्कारतया शब्द-  
लङ्कारमध्ये लचयितुमौचित्येऽप्यर्थक्षेपाग्निभावितेनार्थाल-  
ङ्कारमध्ये निरूपणं कृतम् । न च नानार्थकशब्दस्नेषे शब्दस्यैव  
वैचित्रबोधीपायतेन मुख्यत्वाच्छब्दालङ्कारमध्ये निरूपणमु-  
चितमिति वाच्यं शब्दस्यार्थद्रव्यप्रतीतिमाधार्यैव वैचित्रजगक-  
त्वेनार्थमापेक्षतया स्वतो वैचित्राजनकत्वेन मुख्यत्वाभावात् ।  
शब्दस्यानेकार्थतत्त्वाभिधया दृस्या युगपदनेकार्थप्रतिपादकत्वं  
तत्त्वं यत्रानेकार्थसङ्केतितस्यापि शब्दस्य शक्तिसङ्कोचकानां

संयोगविप्रयोगादीनामभावस्तत्रैव सम्भवति यत्र तु तेषां स-  
द्वावस्त्रात्र तेरभिधायाः सद्गोचितत्वेन युगपदर्थदद्यप्रतीतेरभा-  
वान् श्लेषः, उक्तस्त्रु ‘संयोगो विप्रयोगस्त्र साहचर्ये विरोधिता ।  
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः । सामर्थ्यमोचिती  
देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विगेषस्मृति-  
हेतवः’ । इति यत्र च संयोगादिप्रतिरोधितयाभिधया एक-  
स्यैवार्थस्य प्रतीतौ जातायां पश्चाद्वाच्चनयार्थान्तरप्रतीतिस्त्रवापि  
न हेषः अभिधया युगपदर्थदद्यप्रतीतेरभावेन वैचित्राभावात्  
तथाविधस्यन्ते तु श्वनिक्षेप यथा ‘भद्रात्मनो दुरधिरोहत-  
नोर्विशालवृशान्तः कृतशिलोमुखसंयहस्य । यस्यानुपमुतगतेः  
परवारणस्य दानास्त्रुमेकसुभगः सततं करोऽभृत्’ । अत्र प्रक-  
रणसद्गोचितया शक्त्या केवलं वर्णनीयः पुरुषः प्रत्यायते पश्चाद्  
व्यक्तनया तु इस्तीति नाच श्लेषः । तादृशार्थस्यानेकत्वस्त्रु  
कच्चिद्दमुतः क्षचिदेकस्त्रुपत्वेऽप्यनेकस्वभित्वाच्च तत्राच्च शब्द-  
श्लेषः, द्वितीयेर्थहेष इति नव्याः, अर्थश्लेषा यथा ‘स्त्राकेनो-  
न्नतिमायाति स्त्राकेनायात्यधोगतिम् । अहो सुमदृशो वृत्ति-  
सुल्लाकोटेः खलस्य च’ इति, अत्रोच्चतिरधोगतिश्लैकैव परन्तु  
• सम्बन्धिभेदाद्विन्नत्वेन प्रतीयते, अत्रापि सम्बन्धिभेदेनान्नत्य-  
धोगत्यारनेकत्वान्तदाचकपदयोरप्यनेकत्वमिति स्त्रमते लक्षण-  
समव्ययः । अस्याभद्रमभद्रत्वेन प्रथमं भेददद्यमाह । तदभिन्न-  
पदमिति । तद्वचः अभिन्नपदं शक्यतावच्छेदकस्यैकत्वे नानात्वे वा  
अभिन्नप्रकृतिप्रत्ययसमाप्तघटितत्वेनाभिन्नपदवत् तथा भिन्न-

पदानां विभिन्नप्रकृत्यादिवत्पदानां प्रायो बाहुल्यं यत्र तत् ।  
तत्राभिन्नपदके वाक्येभज्ज्ञेषः भिन्नपदके सभज्ज्ञेषः सभज्ज्ञ-  
ेष एवाधिकचमत्काराधायकत्वात् कविभिर्बाहुल्येन प्रयुज्यत  
इति प्रायपदोपन्यामः । अन्ये तु वर्णप्रत्ययादिगतवेनास्याए-  
विधलमाङ्गर्यथा ‘वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ।  
शेषादिभक्तिवचनभाषाणामृधा च मः’ इति । तत्र वर्णस्त्रेषा  
यथा ‘प्रतिकृततामुपगते हि विधौ दिफलत्वमेति वज्जमाध-  
नता । अवलम्बनाय दिनभर्तुरभृत्तं पतिष्ठतः करमहस्तमपि’ ।  
अत्र विधाविति विधिविधुशब्दयोरिकारोकारयोः शेषः, एवं  
प्रत्ययादिस्त्रेषो वाध्यः ॥ ३१० ॥

**असावुद्यमारुष्टः कान्तिमान् रक्तमण्डनः ।**

**राजा हरनि लोकस्य हृदयं सृदुभिः करैः ॥ ३११ ॥**

अत्राभिन्नपदमुदाहरति । असाविति । उदयमुन्नतिमुद-  
याचलस्त्र, कान्तिमान् कमनोयः रग्मिमांस्य, रक्तमण्डलाऽन्  
रक्तप्रकृतिकः आलाहितविम्बश्च, राजा नृपश्चन्द्रश्च, सृदुभ-  
रनुदेगकरैः श्रीतस्त्रैश्च, करेराजयाद्यभागेः किरण्यश्च । अत्र  
प्रकरणादिनियामकाभावात् दावपि नृपश्चन्द्रो वाच्यो, उद-  
यादिपदानि च प्रकृतिप्रत्ययादीनामभिन्नतादभिन्नान्येवत्य-  
भज्ज्ञेषः ॥ ३११ ॥

**दोषाकरण सम्बन्धक्षत्रपथवर्जिना ।**

**राजा, प्रदेषो मामित्यमप्रियं किं न वाधते ॥ ३१२ ॥**

भिन्नपदमुदाहरति । दोषाकरेणेति । प्रदोषो रजनोमुखं प्रकृष्टदोषवांश्च कर्त्त्वाकरणिकः, अप्रियं प्रियाविरहिणं देव्यस्त्वं, मामित्यमेवं किं कस्मात् बाधते यतो दोषाकरेण निशायाः प्रवर्त्तकेन दोषस्याकरेण च, तथा नच्चपथवर्त्तिना आकाशस्थितेन चक्रियपथे अपच्चपातयवहारे न वर्तमानेन च, राजा चद्रेण अथ च नृपेण सम्भूत्वं सम्भूत्वं प्राप्नुवन् । अत्र दोषाकरेणेत्यादिपदानि दोषां रात्रिं करोतीति दोषस्याकर इत्यादिव्युत्पत्त्या प्रकृतिप्रत्ययसमासानां भिन्नताद्विक्षान्येवेति सभङ्गस्त्वः राजेत्यत्र लभङ्गं एव तदयं सभङ्गाभङ्गात्मकः, अयमपि द्वितीयमेदा नवोनैरङ्गोक्तिथते, यदुकं ‘पुनर्स्त्रिधा सभङ्गाऽयाभङ्गस्तदुभयात्मकः’ इति । शुद्धसभङ्गादाहरणन् ‘पृथुकार्त्तस्त्ररपाचं भृषितनिःशेषपरिजनं देव । विलमत्करेणुगहनं संप्रति समावयोः सदनम्’ इति । अत्र पृथूनां कार्त्तस्त्रराणां स्वर्णानां, पृथुकानां शिशूनामार्त्तस्त्ररस्य च पादं । भृषिता अलङ्कृताः, भुवि उषिताश्च निःशेषपरिजना यत्र तत्, विलमङ्गः करेणुभिर्द्विस्तिभिः, विले सोदन्तीति विलमत्कामूषिकास्तेषां रेणुभित्वा गहनमिति सर्वेषामेव ज्ञिष्ठपदानां विभिन्नप्रकृत्यादिः । घटितत्वाद्विक्षत्वमेव ॥ ३१२ ॥

उपमारूपकात्तेपव्यनिरेकादिगोचराः ।

प्रागेव दर्शिताः स्त्रेषां दर्शयन्ते केचनापरे ॥ ३१३ ॥

इत्यमुदाहरणद्ये प्राधान्येन व्यपदेशयोग्यः स्त्रेषो दर्शितः

संप्रत्यलङ्घारात्तराणामण्यं चाहतासम्यादक इत्यङ्गभृतं तं  
दर्शयन्नाह । उपमेति । उपमा चात्र साधारणधर्मप्रयोगवती,  
तत्र साधारणधर्मसाभिन्नते अभोहङ्गमिवातासमित्यादिधर्मो-  
पमास्तेषोपमादावर्धस्तेषः, वालेषोद्यानमास्तेयं सालकानमशो-  
भिनीति समानोपमायान्तु अष्टस्तेषः । रूपकमपि साधारण-  
धर्मप्रयोगवत् शिष्टरूपकादिकम् । आचेपस्त्र ‘अस्ततात्मनि  
पद्मानां देष्टरि ज्ञिग्धतारके । मुखेन्द्रै तत्र सत्यस्तिष्ठपरेण  
किमिन्दुना’ इत्यादि दिष्टात्मेषः । व्यतिरेकोऽपि साधारणधर्म-  
प्रयोगवान्, न च ‘त्वं समुद्रस्त्र दुर्बारावित्यादिसम्मेपव्यतिरेक एव  
व्यतिरेकपदेनोच्यत इति वाच्यम् एकव्यतिरेकादावपि साधा-  
रणधर्मसङ्गवेन स्तेषस्यानपायात् । आदिना अर्थात्तरनाम-  
समासोक्त्यादीनां परियहः, दर्शिता इति उपमादीनां निर्वा-  
हकतया अङ्गलेन दर्शिता इत्यर्थः । केचनेति असङ्गारात्त-  
रेष्टङ्गतामापन्ना अङ्गभृतावेत्यर्थः ॥ ३१३ ॥

अस्त्यभिन्नक्रियः कश्चिदविरुद्धक्रियोऽपरः ।

विरुद्धकर्मा चास्त्यन्यः स्तेषो नियमवानपि ॥ ३१४ ॥

नियमात्मेपरुपोक्तिरविरोधो विरोध्यपि ।

तेषां निर्दर्शनेष्वेव रूपमाविर्भविष्यति ॥ ३१५ ॥

तान् कमेणोद्दिग्धति । अस्त्यभिन्नक्रिय इति । तेषामभि-  
न्नक्रियादिस्तेषाणां, निर्दर्शनेषु वक्त्यमाणादाहरणेषु, रूपं स्त-  
रूपम् ॥ ३१४ ॥ ३१५ ॥

वक्राः स्वभावमधुराः शंसन्त्यो रागमुखणम् ।

दृशो दूत्यश्च कर्पन्ति कान्ताभिः प्रेषिताः प्रियान् ॥३१६॥

तत्राभिन्नक्रियस्थेषमुदाहरति । वक्रा इति । वक्रास्तिर्थक्  
चालिताः कुटिलभाषिष्ठश्च, स्वभावेन मधुराः सृहणीयाः  
अहत्तवादिन्यश्च, उल्लेखमत्यधिकं रागं नायिकाया अनुरागं  
शंसन्त्यः सुचयन्त्यः कथयन्त्यश्च, कान्ताभिः प्रेषिताः चिप्राः  
आनयनार्थं प्रयुक्ताश्च, दृशश्चतुष्टिः, दृत्याः मखीप्रभृतयः ‘दूत्यः  
मखो नटो दासो धात्रेयो प्रतिवेशिनो । बाला प्रब्रजिका काष्ठः  
शिन्निन्याद्याः स्वयं तथा’ इत्युक्ते । कर्पन्ति आवर्जयन्ति, अत्र  
वकादिविशेषणानां श्लिष्टता, विशेषभृतानां दृशां दूतीनां श्व  
कर्षणक्रिया एकैवेत्यभिन्नक्रियत्वं, श्लेषस्य तथात्मस्य परम्परया  
स्वाश्रयविशेषणानां विशेषयोर्दृग्दृत्योरेककर्षणक्रियावत्त्वात्,  
अत्र च वक्ष्यमाणस्त्रूपायास्तुल्योगितायाः सद्वावात् श्लेषा-  
इयं तस्मा निर्वाहकत्वादङ्गम्, एकया क्रियया वाक्यदयदीप-  
नादिद्यमानस्य दीपकस्याङ्गमित्यन्ये ॥ ३१६ ॥

मधुरा रागवर्द्धिन्यः कोमलाः कोकिलागिरः ।

आकर्षन्ते मद्कलाः श्लिष्टन्ते चासितेक्षणाः ॥ ३१७ ॥

अविहद्दुक्रियस्थेषमुदाहरति । मधुरा इति । मधुराः स्वर-  
माधुर्यवत्यः माधुर्याख्यनायिकालङ्कारवत्यश्च, माधुर्यश्च ‘सर्वा-  
वस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता’ इत्युक्तलक्षणं, रागवर्द्धिन्यः  
उदीपकलात् प्रणयप्रवाग्नाम् नुरागं वर्द्धदक्षयः, कोमलाः

सुप्राच्याः सृष्टज्ञात्वा, मदकलाः वसन्तप्रारम्भेण मदोन्मत्ताः सौभाग्याद्यवलेपजविकारोन्नत्तात्, मदस्य 'मदो विकारः' सौभाग्ययौवनाद्यवलेपज' इत्युक्त्वा पः । अत्र कोकिलागिर आकर्षण्टे असितेच्छात् द्विष्टन्ते इत्याकर्षनस्येषणक्रिययोरेक-कालीनत्वसम्बन्धेनाविरोधः, स्येषस्य तादृशक्रियासम्बन्धात्रापि परम्परया, स्वाश्रयविशेषणविशेषयोः कोकिलालापासितेच्छायोः कर्मलेनाविरुद्धक्रियादयसम्बन्धात् । अत्रापि स्येषस्य तु ल्य-योगिताया अङ्गत्वम् । केचिच्चु कोकिलागिर इत्यसितेच्छाविशेषणम्, असितेच्छां इति च असिते अनेषु विरहितं इच्छणं यत्रेति व्युत्पत्त्या कोकिलागिर इत्यस्य विशेषणमि-त्याजः ॥ ३१७ ॥

रागमादर्शयन्नेष वाहणीयोगवर्द्धितम् ।

तिरोभवनि घर्मांशुरङ्गजस्तु विजृम्भते ॥ ३१८ ॥

विरुद्धक्रियादयस्येषमुदाहरति । रागमिति । वाहणी पश्चिमदिक् मदिरा च, तस्या योगेन सम्बन्धेन उपयोगेन च वर्द्धितं, रागं सौचित्यम् अनुरागज्ञ, आदर्शयन् प्रकाशयन् वर्द्धयन्त्वा, घर्मांशुः सृष्टस्तिरोभवत्यस्तु गच्छति, अङ्गजः कामस्तु विजृम्भते उद्देकं गच्छति । अङ्गजपते आदर्शयन्निति हेतौ शब्दः आदर्शयितुमित्यर्थः । अत्र तिरोभवनविजृम्भणक्रिययोर्विरोधः, स्येष च पूर्ववत् परम्परया तत्सम्बन्धः । तु ल्ययोगितैवाच प्रधानम् ॥ ३१८ ॥

निस्तिंशत्वमसावेव धनुष्येवास्य वक्ता ।  
शरेष्वेव नरेन्द्रस्य मार्गणत्वच्च वर्तते ॥ ३१६ ॥

मनियमश्चेषमाह । निस्तिंशत्वमिति । निस्तिंशत्वं त्रिंशद-  
त्रु-ल्लिखिकपरिमाणवत्मन्त्रत्वं निर्गतस्तिंशतोऽद्भुतिभ्य इति व्यु-  
त्यन्तः, निर्दयत्वं ‘अथ निस्तिंशः खड्डे ना निर्दये त्रिषु’ इति  
भेदिनो । असावेव न तु इदये । वक्ता शाकर्षणेनाशरत्वता  
वामता च धनुष्येव न तु व्यवहारे, मार्गणत्वं वाणत्वं याचक-  
त्वच्च शरेष्वेव न लात्मनि, अत्रैवकारैर्निस्तिंशतादिपदानां दि-  
तीयार्था व्यवच्छेष्यु निषिद्धतया प्रतीयत्वं इति अपमङ्गावः,  
मर्चैवकारैर्ण नियमद्यातनाच्चियमवान्, नियमश्च क्वचिद्योत-  
काभावेऽपि सामर्थ्यादवभीयते, यथा ‘यस्मिंश्च राजनि जित-  
जगति पालयति महों चित्रकर्मसु वर्णमङ्गराश्चापेषु गुणच्छे-  
दा’ इत्यादि, अत्र न प्रजास्तियादित्यवच्छेद्यानां स्फुटं प्रती-  
यमानलादेवकाराभावेऽपि चित्रकर्मस्त्वेवत्यादिनियमः प्रतीयत  
इत्ययमपि अषेषो नियमवानेव, अत्र च परिमङ्गालङ्कारः प्रधानं  
स च यन्यक्तानुकोऽपि स्फुटवैचित्रेऽन्यैरकोऽभ्युपगमत्वः, यदुकं  
‘प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथितादस्तु भवेत् । तादृगन्यव्यपो-  
हस्तेच्छाव्यव्यार्थ्येऽप्यवा तदा । परिमङ्गा’ इति । अषेषस्यायं  
तदङ्गतया प्रतीयते । न च ‘विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाच्चिके  
सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिमङ्गेति गोयत’ इत्यनेन नि-  
यमपरिमङ्गयोर्भेदावगतेः परिमङ्गाभ्युपगमे कथमस्य सनि-

यमत्वमिति वाच्यं, मतेऽस्मिन्नन्यव्यपोहप्रतीतेरेव परिसङ्गाता-  
भुपगमात् व्यपेहस्य चाच स्फुटं प्रतीयमानत्वात् ॥ ३१८ ॥

पद्मानामेव दण्डेषु कण्टकस्त्वयि रक्षति ।

अथवा दृश्यते रागिमिथुनालिङ्गनेष्वपि ॥ ३१९ ॥

नियमाचेपर्वपोक्तिस्तेष्वमुदाहरति । पद्मानामेवेति । पद्मा-  
नामेव दण्डेषु न तु तव दण्डाखोपायेषु, कण्टकमील्लागा-  
वयवविशेषः चुद्रगच्छरोमाञ्चश्च, 'रोमाञ्चे चुद्रश्चै च तरो-  
रङ्गे च कण्टकः' इत्युक्तेः । त्वयि रक्षति महीं पालयति मति ।  
अथवेति रागिमिथुनस्यानुशक्त्वीपुमयोरालिङ्गनेष्वपि कण्टको  
दृश्यते इत्यन्वयः । अत्र पद्मानामेवेति नियमस्याथवेत्यादिना  
निषेधस्तद्वाधकोक्तियुक्तोऽयमिति नियमाचेपर्वपोक्तिस्तेषः । अत्र  
पूर्वार्द्धे परिसङ्गैव प्रधानम्, अर्द्धार्द्धे च एकत्र निहितस्य कण्ट-  
कस्य वाक्यद्वयोदीपनादीपकं प्रधानमिति शेषस्य तदङ्गता ॥  
॥ ३२० ॥

महोम्भृत्युरिकटकस्तेजस्वी नियतोदयः ।

दक्षः प्रजापतिश्चासीत् स्वामी शक्तिभरश्च सः ॥ ३२१ ॥

अविरोधिस्तेष्मुदाहरति । महोभृदिति । महोम्भृत्या  
पर्वतस्य, भृत्यिकटको बड़स्तन्धावारः विस्तीर्णनितमस्य । तेज-  
स्वी प्रतापवान् किरणवांस्य, नियतोदयोऽस्याहतस्यस्तिः प्रति-  
दिवसं जायमानोद्भवस्य । दक्षः कुशस्तो मुलिविशेषस्य, प्रधा-

पतिः प्रजापालकः स्तुष्टिकर्त्ता च । स्वामी प्रभुविश्वासुरम्,  
स्वामी प्रभुविश्वासुर्योरिति मेदिनी, ग्रन्थिधरः प्रभावेत्साह-  
मन्त्रजसामर्थ्यवान् अस्त्विशेषधारी च । अत्र महीभृदादि-  
श्चिष्टपदार्थदयस्य भूरिकटकादिश्चिष्टपदार्थदयेन मह समन्वे-  
विरोधाभावादविरोध्य श्वेषः स चाच्र प्रधानम् ॥ ३११ ॥

अच्युतोऽप्यवृष्टच्छेदो राजाऽप्यविदितश्चयः ।  
देवोऽप्यविबुधो जडो शङ्करोऽप्यभुजङ्गवान् ॥ ३१२ ॥

॥ श्लोषचक्रम् ॥

विरोधिशेषमुदाहरति । अच्युत इति । अच्युतः सत्यथा-  
क्षुतिरहितो विश्वासु, दृष्टेधर्मा दृष्टभासुरम् । राजा नरा-  
धिपश्चद्य, चयः सम्पत्तिक्षीणता यत्परोगम् । देवो राजा  
सुरस्य, विबुधोविगतपण्डितः देवस्य । शङ्करो भङ्गस्त्रक्त् शिवस्य,  
भुजङ्गः पिङ्गः मर्पस्य । अत्राच्युतादिष्टद्वितीयार्थं विध्वादौ  
दृष्टच्छेद्यादिष्टद्वितीयार्थस्याभावोविरुद्ध इति विरोधसहितो-  
ऽयं श्वेषः स च विरोधाभासस्याङ्गम् ॥ ३१२ ॥

गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम् ॥  
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥ ३१३ ॥

अथ विशेषोक्तिं स्तुचयति । गुणेति । विशेषोवर्णनीयस्य  
बीर्याद्युक्तवर्णस्य दर्शनाय प्रतिपादनायैव गुणजातिक्रियादी-  
नां वर्णनीयस्य प्रारिप्रितकर्मसाधने उपकरणभृतानामित्यर्थः

‘आदिना द्रव्यादिपरिग्रहः’ अदैकस्यदर्शनं कार्यसिद्धावभुप-  
द्वागिलेनानपेक्षणोयत्प्रतिपादनं वैफल्येति पाठे स एवार्थः सा  
विशेषाय गुणादिवैकन्योक्तिरूपत्वादिशेषोक्तिरिष्टत इत्यन्ययः ।  
गुणादीनामिति भेदकयनाय नतु स्वरूपनिर्वाहाय, पदा-  
र्थमाचरणत्वैकस्योक्तिरूपत्वात् । पूर्वोक्तातिशयो-  
क्तिरपि वर्तनीयोत्कर्षोक्तिरूपैव परन्तु न तत्र गुणादीनां  
वैकस्यप्रतिपादनमित्यनयोर्भिर्दः । विभावनातोऽस्याभेदस्तदा-  
हरणायाख्यानावसरे दर्शयिष्यते । अत्र गुणजातिक्रियाः क्वचि-  
द्वर्षनीयगताः क्वचित्तदीयोपकरणगतास्य वीथाः, गुणादिवैक-  
स्यस्य क्वचिच्छाब्दं क्वचिदगम्यं, विशेषदर्शनायैत्यवधारणं कथ-  
मपि विशेषदर्शनाभावे मत्यपि गुणादिवैकस्ये नास्याः सम्भव  
इति सूचनाय । नव्यास्तु मत्यपि कारणे कार्याभावो विशेषा-  
क्तिरित्याङ्गः तत्रालङ्घारमंज्ञानामन्वर्थतयैव प्राचीनैः प्रयुक्त-  
त्वेन हेतुसमानाधिकरणकार्याभाववर्णने विशेषप्रतीतेरभावा-  
दिशेषोक्तिसंज्ञाभ्युपगमे हेतुः प्रश्नेभाः, न च विशेषोक्तिर्विचिन्तनं तत्र  
मत्यपि कारणे कार्याभावोपनिवन्धं विद्यत एवेति विशेषोक्ति-  
संज्ञाया अन्वर्थत्वेति वाच्यम्, अलङ्घारमाचर्षेव वैचित्रा-  
त्मकत्वेनोपमादावपि विशेषोक्तिसंज्ञायाः प्रमङ्गात्, अथ मति ।  
इतौ कार्याभावप्रतिपादनजन्यं स्फुटं प्रतोयमानमपि वैचित्रं  
त्वयापि कथं संज्ञान्तरेणालङ्घारतया न संगटहीतमिति चिन्मेवं  
तत्रास्माकमतिशयोक्तेरभ्युपगमात् कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्य-  
यवद्वाप्यतिशयोक्त्वभ्युपगमस्त्रौचित्यात् । तस्माद्गुणादिवैकस्य-

वर्णनोयस्य विशेषकथनमेव विशेषोक्तिरिति युक्तरं ।  
यत्त्वित्यत्र अत्रेति क्वचित्याठः यत्र वैचित्रे इत्यर्थः ॥ ३२३ ॥

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः ।  
तथापि जितमेवासीदमुना भुवनत्रयम् ॥ ३२४ ॥

तत्र गुणवैकल्यविशेषोक्तिमुदाहरति । न कठोरमिति । न  
कठोरं न वा तीक्ष्णमिति आयुधस्य पुष्पमयतादिति भावः,  
अत्रायुधस्य कठोरत्वं तीक्ष्णत्वम् गुणमनपेत्यैव कामेन भुवन-  
त्रयं जितमिति जेतुः कामस्य वीर्यात्कर्षः प्रतीयते । अत्रा-  
युधगतकठोरत्वादिगुणस्य भुवनत्रयं प्रति प्रसिद्धहेतुत्वाभ्युपगमे  
तद्वावृत्या तादृशकार्यवर्णने उपधायककारणान्तरस्य का-  
र्यस्थाभाविकत्वस्य वा विभावनीयत्वे तात्पर्यभावात्र विभाव-  
नायाः सम्भवः, विनोपकरणं क्रियानिष्पादकतया कर्तुरस्त्वकर्ष-  
प्रतिपादनस्यैवात्र तात्पर्यविषयतादित्यनयोर्भंदो वैष्णः । अ-  
त्रापकरणगतगुणस्य वैकल्यम् ॥ ३२४ ॥

न देवकन्यका नापि गन्धर्वकुलसम्भवा ।  
तथायेषा तपोभज्ञं विधातुं वेधसोऽप्यन्तम् ॥ ३२५ ॥

जातिवैकल्यविशेषोक्तिमुदाहरति । न देवेति । अत्र देवत्वं  
गन्धर्वत्वम् जातिविशेषः सम्बैरपेत्येण तपोभज्ञसामर्थ्यवर्णनाद्व-  
र्णनोयनायिकायाः सौन्दर्यादिविशेषः प्रतिपादितः, देवो-  
गन्धर्वस्य तपोभज्ञं कुर्वन्तीति पुराणप्रसिद्धिः । अत्र वर्णनोय-  
गताया जातवैकल्यम् ॥ ३२५ ॥

न बहा भुकुटिर्नापि स्फुरितोदग्ननक्षदः ।  
न च रक्ताभवद्विर्जितस्य द्विषतां बनम् ॥ ३२६ ॥

क्रियावैकल्यविशेषाक्षिमुदाहरति । न बहुति । अत्र प्राक-  
रणिकः कश्चिद्विरोप्त्वान्तीयः, वन्धनं स्फुरणस्य क्रिया, रक्तलन्  
गुण एव, तदत्र क्रियागुणवैकल्यप्रयुक्त्योर्विशेषात्म्यः सङ्करः ।  
गुद्धक्रियावैकल्योदाहरणन् ‘नोपभोगो न वा दानं वस्तुनां  
भरणं न वा । तथापि गुहतां धने नृणां मंरचितं धनम्  
इति । अत्रोपभोगादक्रियामात्रवैकल्यम् । प्रकृते च द्विष-  
ज्यये क्रोधकार्याणां भुकुटिवन्धनादीनामनपत्तियत्वप्रतिपा-  
दनेन वर्णनोद्यस्य क्रोधशून्यत्वव्यक्त्या महावीरत्वपविशेषः  
सृच्यते, अतपत्राकं रौद्रप्रस्तावे ‘रक्तास्थनेत्रता चास्य भंदिनो-  
युद्धवीरत’ इति ॥ ३२६ ॥

न रथा न च मातङ्गा न हया न च पञ्चयः ।

स्त्रीणामपाङ्गुटष्टेव जीयते जगतां चयम् ॥ ३२७ ॥

द्रव्यवैकल्यविशेषाक्षिमुदाहरति । न रथा इति । स्त्रीणां  
रथादीनि जयसाधनानि न मन्ति तथापि ताभिरपाङ्गुटष्टेव  
केवलेन कटाचेष्टेव जगत्त्वयं जीयते इत्यस्यः, अत्र रथादि-  
द्रव्याणां वैकल्यं, स्त्रीणे आदिपदग्नहीतद्रव्यस्य वैशेषिकमतोऽक-  
द्रव्यं न तु वैथाकरणमतोऽकद्रव्यं रथादिभव्यानामेकयक्तिवा-  
चिलाभावात् । एवमभावादिवैकल्योदाहरणं दोध्यम् । एतानि  
गुणादिवैकल्यस्य व्याप्तते उदाहरणानि ॥ ३२७ ॥

एकचक्रोरथो, यन्ता विकल्पा, विषमा हयाः ।

आक्रामत्येव तेजस्वो तथाप्यकोनभस्तुलम् ॥ ३२८ ॥

सैपा हेतुविशेषोक्तिस्तेजस्वीनिविशेषणात् ।

अथमेव क्रमोऽन्येषां भेदानामपि कल्पने ॥ ३२९ ॥

॥ विशेषोक्तिचक्रम् ॥

इत्यं गुणादिवैकल्प्येन विशेषोक्तिर्भेदान् दर्शयित्वा प्रकारान्नारेणान्वेऽपि भेदाः सम्भवत्तीति प्रतिपादयन् तथां दिग्दर्शनार्थं हेतुविशेषोक्तिमुदाहरति । एकचक्र इति । यन्ता सारथिरहणः विकल्पाऽङ्गविकलः अनूहूत्वादिति भावः । विषमाः सप्तमस्त्राः अशिच्चित्वादुद्भूताश्च । नभस्तुलमतिविस्तोर्समाकाशमार्गम् । अत्र जगत्त्वयमिति क्वचित्प्राठस्तु न सम्यक्पातःलादौ सूर्यप्रयाणस्त्राप्रसिद्धैः । अन्यवामतिविस्तोर्समार्गप्रयाणे बज्जचक्रोरथोऽविकलाङ्गो यन्ता अविषमाहयाश्चापेच्यन्ते सूर्यस्य तु तन्नेत्रपेच्येणापि चिकीर्षितसिद्धिरित्युत्कर्षातिशयः तत्र च हेतुसंजख्योति न हि तेजस्विनः स्वार्थमाध्यनउपकरणमपेच्यन्ते, अत्र तेजस्वोतिहेतुगर्भविशेषणापन्यामनवर्णनीयसूर्यस्य विशेषप्रतिपादनाद्देतुविशेषोक्तिरियम् । अत्र च रथादिगतवङ्गचक्रत्वादिधर्माणां वैकल्प्य गम्यम् ॥ ३२८ ॥

संयेति । तेजस्वोतिविशेषणात् तेजस्वोतिहेतुगर्भविशेषणादित्यर्थः । हेतुविशेषोक्तिरिति हेतूपन्यासेन वर्णनीयगतविशेषप्रतिपादनादव्यर्थता ॥

अथमेवेति । अथमेव क्रम ईदृश्येव दिक् । तथाचास्मिन्नु-  
दाहरणे यथा हेत्वस्त्वारममन्वेन विशेषोक्तिभेदस्थाया अल-  
ज्ञाराज्ञरसमन्वेनापरेऽपि भेदा बोद्धव्या इत्यर्थः, तथाच  
अतैलपूरा: सुरतप्रदीपाः, द्यूतं हि नाम असिंहासनं राज्य-  
मित्यादि अत्र च रूपकयोगः, पूर्वच परिणाम इति विश्व-  
नाथः ॥ ३२८ ॥

विवक्षितगुणेत्कृष्टैर्यत् समोक्त्य कस्यचित् ।  
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुच्ययोगिता ॥ ३२९ ।

अथ तुच्ययोगितां लक्षयति । विवक्षितेति । विवक्षिताः  
प्रस्तुतनिष्ठत्वेन प्रतिपादयितुमिष्टा ये गुणाः स्तुतिर्हेतवो नि-  
न्दाहेतवो वा धर्मास्त्वैरुक्तया विख्यातास्त्वैः समोक्त्य ममकर्त्त-  
व्यत्कीर्तनं सा प्रस्तुताप्रस्तुतयोस्तुच्यगुणयोगित्वप्रतिपादनरूप-  
त्वानुच्ययोगितेत्यश्चियः । विवक्षितगुणेत्कृष्टैर्यति पाठे ।  
विवक्षितगुणेत्कृष्टैर्यति ख्यातिर्यषामिति बड्डब्रोहिः । अत्र बड्ड-  
वचनमविवक्षितं द्वाभ्यामकेन वा समोकरणेऽस्ताः सङ्घावात् ।  
एवं विवक्षितगुणेत्कृष्टैर्यतप्रस्तुतैरेवेति न नियमः प्रस्तुतेन समो-  
करणेऽप्यस्ताः सम्भवात् यथा, ‘कटाक्षा मधुरालापा विलासास्ते  
ष्ट ते शुभे । अगच्छये प्रदृक्षस्य कन्दपस्य महामाम्’ अत्र कटा-  
क्षादयः सर्वेऽपि प्रस्तुताः, एतेन प्रस्तुतयोरेवाप्रस्तुतयोरेव वा  
एकधर्माभिसम्बन्धसुच्ययोगितेति केषास्त्रिनामं प्रत्युक्तम्, ता-

हृष्णनियमाभ्युपगमे प्रयोजनानुपस्थितेः वैचित्रस्य च सर्वत्र समानत्वात्, न च प्रस्तुताप्रस्तुतयोरप्येकधर्षसमभ्येन तुल्ययोगिताभ्युपगमे दीपकस्य विषयापहारः स्थादिति वाच्यं स्थमते वाक्यान्तरीयपदस्थानुषङ्गादिना स्थार्थदारा वाक्यान्तरार्थीदीपकलख्यैव दीपकालङ्गारत्वात् तत एव च दीपकसंज्ञाया अन्वर्यत्वात् । अथोपमालङ्गारेऽपि स्तुत्यर्थं निन्दार्थं वा विवक्षितगुणाकृतेन प्रस्तुतस्य समीकरणं साम्यस्य च व्यञ्जयायामुपमाङ्गीकृता तदनयोः समानविषयतापत्तिरिति चन्द्रैवं प्रतोतिभेदेनैवानयोर्भद्रात् तथा क्षुपमायां वाच्यस्य व्यञ्जय्य वा सादृश्यस्य प्रतीतिः शास्त्रो ‘दिवाजागर्त्ति रक्षार्यै पुलोमारिर्भुवोभवान् । असुरासेन हन्यन्ते सावलेपास्त्रया नृपाः’ इत्यादितुल्ययोगोपमादावपि व्यञ्जनयोपस्थितस्यापि सादृश्यस्य दृक्षितेद्युत्वेन शास्त्रबोधाभ्युपगमात्, व्यञ्जनाया दृक्षितलस्य चालङ्गारिकमिद्वाल्लिद्वात् प्रकृते तु न तथा, सर्वेषां समकक्षतया विवक्षितगुणान्वयित्वैव शास्त्रबोधविषयत्वात् पर्यवमाने तु सादृश्यप्रतीतिरिति, इत्यस्य विवक्षितगुणवत्तया प्रसिद्धैः सहाप्रसिद्धस्य वर्णनीयस्य समकक्षतया तादृशगुणान्वयित्वकीर्तनेन प्रशंसनं निन्दनं वा तुल्ययोगितेनि निर्गतितोल्लक्षणार्थः । अन्ये तु स्तुतिनिन्दयोरेवात्र प्राधान्येन प्रतिपाद्यते सादृश्यन्तूपसर्जनोभृतमित्यतस्तुल्ययोगोपमातेऽस्य भेद इत्याङ्गः ॥ ३० ॥

यमः कुवेरो वरुणः सच्चस्त्राक्षो भवानपि ।

विभूत्यनन्यविषया लोकपाल इति श्रुतिम् ॥ ३१ ॥

तत्र सुतावदाहरति । यम इति । अत्र स्तोकपास्तवहृष्टो  
गुणोवर्षनीये राज्ञि वक्तुमिष्ठः तेजोऽक्षैर्यमादिभिः सह सम-  
कच्चतया तद्गुणभागिकीर्मनेन राजा सुतः ॥ ३३१ ॥

सङ्गतानि मृगाक्षीणां तडिदिलसितानि च ।

क्षणदद्यं न तिष्ठन्ति घनारथ्यान्यपि स्वयम् ॥ ३३२ ॥

॥ तुच्छयेगिता ॥

निन्दायामुदाहरति । सङ्गतानीति । सङ्गतानि सङ्गमाः ।  
क्षणदद्यं न तिष्ठन्ति क्षणमात्रं तिष्ठनीत्यर्थ । स्वयं स्वस्यानु-  
रागेषैव न तु परानुरागेन घनं निविड न तु मज्जयं यथा तथा  
आरथ्यान्यपि, स्तोकमसा स्तनाभ्यामित्यादिवत् क्षचिदन्यता-  
पीति तत्पुरुषः ‘अथ च घनैर्मध्यैः स्वयमारथ्यान्यपि । क्षयमृल-  
कलेनात्र चारुतातिशय इतिप्रितिपादनाय शिष्टविशेषणांप-  
न्यामः । अत्राचिरावस्थायत्वगुणोवर्षनीये मृगाक्षीसङ्गमे विव-  
क्षितः तद्वचेन प्रसिद्धैस्तडिदिलसितैः सह तुच्छतया तद्गु-  
समन्वयवर्षनात् स च सङ्गमोनिनितः ॥ ३३३ ॥

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् ।

विशेषपदर्शनायैव स विरोधः स्मृतोयथा ॥ ३३४ ॥

अथ विरोधं लक्षयति । विरुद्धानामिति । विशेषोवर्ष-  
नीयस्योऽक्षैर्यम्भूतम् दर्शनायैव, विरुद्धानां विरोधवतां, विरो-  
धानेसर्विकासामानाधिकरण्यं परस्परसामानाधिकरण्यम् ॥

नामित्यर्थः पदार्थानां यत्र वैचित्रे संसर्गदर्शनं शामानोधि-  
करणप्रतिपादनं च विरोधप्रयोजकलादिरोधः स्मृत इत्यत्ययः ।  
विहृद्धानां संसर्गस्तत्त्वतो न सम्भवतीति विहृद्धानां वस्तुतो-  
विरोधाभावेऽप्यापाततो विहृद्धलेन प्रतिभासमानानामित्यर्थः,  
स्यष्टमुक्तं प्रकाशकृता 'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विहृद्धलेन यद्यत्'  
इति । पदार्थानामिति जातिगुणक्रियाद्रव्याणामित्यर्थः तत्र  
जातिजोत्यादिभिस्तुर्भिर्विरोधः, गुणस्य गुणादिभिस्त्विभिः,  
क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां दाभ्यां, द्रव्यस्य द्रव्येणैकेनेति विरोधस्य  
दशभेदा अन्येहका ज्ञातव्याः । अयमेव शब्दस्येवनिवन्धनसंदिग्ध-  
रोधाभास उच्यते यथा 'पूर्वीदाहते अच्युतोऽप्यदृष्टपञ्चेदी-  
त्यादौ, एष च अपि प्रयोगे वाच्यस्तदप्रयोगे व्यञ्जयः ॥ ३३३ ॥

कृजितं राजहंसानां वर्ष्णते मदमञ्जुलम् ।  
क्षीयते च मयूराणां रुतमुत्क्रान्तसोऽवम् ॥ ३३४ ॥

कृजितमिति । अर्चैकस्मिन् शब्दरूपे कर्त्तरि विहृद्धयोरपि  
वृद्धिचयक्रिययोः संसर्गदर्शनं, सम्बन्धिभेदेन शब्दयोर्भिन्नताद्-  
विरोधप्रशमनम्, अनेन च वर्षनीये शरत्काले एकजातीययोरपि  
बलाबलकारितया विशेषः प्रतीयत इत्यसालङ्कारता ॥ ३३४ ॥

प्रावृष्टेण्यैर्जलधरैरम्बरं दुर्दिनायते ।

रागेण पुनराकालं जायते जगता मनः ॥ ३३५ ॥

प्रावृष्टेण्यैरिति । दुर्दिनायते श्वागसं भवति । रागेण-

नुरागेण लौहित्येन च, आक्रान्तमित्यत्र उत्सिक्षमिति क्वचित्पाठः । अत्रानुरागस्य लौहित्येनाभेदाध्यवमायाच्छामत्वलौहित्यगुणयोरेकजलधरनिष्पाश्चत्वरूपमं सर्ववर्षनेन विरोधः तस्य च स्वेषवशात् प्रशमनम् । अनेन च वर्षनोये प्रावृट्काले कश्चिद्दिशेषः प्रतीयते ॥ ३३५ ॥

तनुमध्यं पृथ्युश्रोपि रक्तौष्ठममितेष्टाम् ।

नतनाभिवपुः स्त्रीणां कं न हन्त्युन्नतस्तनम् ॥ ३३६ ॥

पुनरेकत्र बहूनां गुणद्युग्मानां विरोधापन्नास्त्रैचित्रातिशय इति ज्ञापनाच तादृशं गुणविरोधमुदाहरति । तनुमध्यमिति । कं न हन्ति न व्याकुलयति । अत्र तनुत्पृथ्युत्वयोः, रक्तत्वामित्यत्वयोः, नतत्वात्तत्वयोर्गुणयोर्विरोधः, तेषाच्चाश्रयभेदात् तत्परिहारः । अनेन च वर्षनोयानां स्त्रीणां विशेषः प्रतीयते । तनुत्पृथ्युत्वयोः नतत्वात्तत्वयोश्च परिमाणरूपत्वाद्गुणत्वम् ॥ ३३६ ॥

मृणालवाङ्ग रमोरु पद्मोत्पन्नमुखेश्वाम् ।

अपि ते रूपमस्ताकं तन्वि तापाय कल्पते ॥ ३३७ ॥

मृणालेति । अपोति पूर्वार्द्धगतविशेषणत्रयेऽन्वेति । रूपवपुः । अत्र मृणालवच्छीतस्त्रौ वाङ्ग यत्रेताद्युपमितिगर्भवङ्गभ्रीहौ श्रीतस्तत्वगुणतापक्रिययोर्विरोधः, मृणाले एव वाङ्ग यत्रत्वादिरूपकगर्भवङ्गभ्रीहौ तु मृणालादिभिर्वाङ्गादीनामभे-

दाध्यवसायात् सृष्टालत्वरभावादिजातिभिस्तापक्रियाथा वि-  
रोधः, वकुर्विरचित्वाच्च प्रशमनम् ॥ ३६७ ॥

उद्यानमारुतोद्भूताश्वृतचम्पकरेणवः ।

उदश्रयन्ति पाञ्चानामस्तुशन्तोऽपि लोचने ॥ ३६८ ॥

एषु भावाभिमाने क्रियादिविरोधा इर्शिताः, संप्रत्य-  
भावाभिमाने क्रियाविरोधमुदाहरति । उद्यानेति । उद-  
श्रयन्ति उद्गतवाष्पे कुर्वन्ति । अत्रास्तुशन्तोऽपोति स्पर्शनाभा-  
वेन उदश्रयणक्रियाया विरोधः, स्पर्शनाभावश्च स्पर्शनक्रियाप्र-  
तियोगिकलाक्रियात्मक एव मतेऽस्मिन्बभावानां प्रतियोगि-  
धर्मित्वात् । विरोधप्रशमनस्त्राच्च कुमुकरेणूनामुद्दीपकलात् ॥  
॥ ३६८ ॥

कृष्णार्जुनानुरक्तापि दृष्टिः कर्णावलम्बिनो ।

याति विश्वसनीयत्वं कस्य ते कलभाषिणि ॥ ३६९ ॥

कृष्णेति । ते दृष्टिरज्जुने पार्थेऽनुरक्ता कृष्णा द्रौपद्यपि  
तद्रूपापीत्यर्थः कर्णावलम्बिनो राधेयाश्रया इति कृष्णारूप-  
द्रव्यस्य राधेयावलम्बनक्रियया विरोधः, तत्प्रशमनन्तु श्वेषवशात्  
यथा कृष्णा असिता अर्जुना गृहका अनु पश्चात् प्राज्ञभाग  
इत्यर्थः रक्ता च श्रवणपर्यन्तगामिनो चेति ॥ ३६९ ॥

इत्यनेकप्रकारोऽयमलङ्घारः प्रतीयते ।

॥ विरोधचक्रम् ॥

अप्रसुतप्रशंसा स्यादप्रकान्तेषु या स्तुतिः ॥ ३४० ॥

उपसंहरति । इत्यनेकेति । अनेकप्रकारः पूर्वोक्तयुक्ता  
दशविधिः । प्रतीयत इत्यत्र अतिशेषभत इति क्वचित्याठः ॥

अथाप्रसुतप्रशंसां लक्षयति । अप्रसुतेति । अप्रकान्तेषु  
अप्रसुतेषु, षष्ठ्यर्थे सप्तमी, बज्जवलचनमविवर्चितं, या स्तुतिरिति  
प्रसुतस्य निन्दार्थमिति शेषः ततएव वैचित्रोदयः । ततश्चा-  
प्रसुतस्य सुत्या प्रसुतस्य निन्दनीयलस्तुतमप्रसुतप्रशंसेत्यर्थः ।  
अप्रकान्तेष्प्रसुतस्तुतिरिति क्वचित्याठः तत्र अप्रसुतस्य ईप्तिता  
प्रसुतदेषादभिमता स्तुतिरप्रसुतप्रशंसेति म एवार्थः, कश्चित्तु  
इममेव पाठं धृत्वा अप्रकान्तेनाप्रकान्तवर्षनेन ईप्तितस्य प्रसु-  
तस्य स्तुतिवर्षनं वाच्यस्याप्रसुतस्य वर्षनदारा प्रसुतस्तेदगम्यते  
तदा अप्रसुतप्रशंसा स्वार्दिति व्याचष्टे तदेतद्वन्द्यस्यास्य पौर्वा-  
पर्यमनान्तोचयतो नवीनमतानुशीलनविमुग्धवृद्धिलविलसितं,  
नवीनाहि अप्रसुतादाच्यात् प्रसुतप्रतीतावप्रसुतप्रशंसा, सु-  
तादाच्यादप्रसुतप्रतीतै ममामोक्तिरिति विषयविभागनान-  
ङ्कारदद्यमाङ्गः, एतच्च प्रकृतविरह्मुँ प्रकृते हि अप्रसुतवर्णनेन  
प्रसुतस्य प्रतीतै ममामोक्तिरभ्युपगता यन्वकृता, यथा ‘वस्तु कि-  
ञ्चिदभिप्रेत्य तन्नुन्यस्यान्यवस्तुनः । उक्तिः संक्षेपस्त्रिलात् मा  
ममामोक्तिरिष्यते, इति तस्मादलङ्कारयारनयारापद्यमान-  
मणिभन्नविषयत्वं व्याख्यातुरस्य दृक्पथं नावतीर्णमिति ममा-  
व्यते । अतः प्राचीननिरूपिताया अप्रसुतप्रशंसेति संज्ञाया

अन्वर्थतारज्जणस्यावश्यकतया प्रस्तुतनिन्दिषयाऽप्रस्तुतस्य प्रशं-  
सनमेवास्यालङ्कारस्य विषयः, अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतिस्तु समा-  
माक्रेविषयः, अन्यथैकस्य विषयापहारापत्तेरिति युक्तमुत्पन्ना-  
मः । न च वाच्यव्यञ्जयोहपमानोपमेयत्व एव समामोक्तिः अन्य-  
चाप्रस्तुतप्रशंसेत्यमेव विषयविभाग इति वाच्यं सुखं जीवन्ती-  
त्वाद्यप्रस्तुतप्रशंसादाहरणेऽपि हरिणः सुखेन जीवन्तीति वयं  
दःखेन जीवाम इति च वाच्यव्यञ्जयार्थतिरेकगच्छापम्यस्य स्फुटं  
प्रतीयमानतया यन्यकर्तुः प्रमादापत्तेः, सेयमप्रस्तुतैवाच्च मृग-  
वृत्तिः प्रशस्यत इत्युदाहरणव्याकारे न मंजाया अन्वर्थवाङ्मू-  
कारे यन्यकर्तुः स्वरमस्य स्पृहं प्रतीयते तमादप्रस्तुतस्य प्रशं-  
सायमेवाप्रस्तुतप्रशंसा न त्रुक्तिमाचे इति निष्कर्षः । किञ्चाप्रस्तु-  
तात् प्रस्तुतप्रतीतिवत् प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतिरिपि समामोक्तिवि-  
षयाद्याधिः एतत्मयद्यायालङ्कारान्तरानिरूपणात् वैचित्रस्य  
च तु न्यतयोपलभादेतच्च 'व्याघूय यदमनमस्तुत्त्वाचनाया  
इत्युदाहरणमुद्दुरङ्गिः पूर्वमेवाकमसामिः ॥ ३४० ॥

सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ।

अन्नैरयत्नसुलभैस्तुणदर्भाङ्करादिभिः ॥ ३४१ ॥

सेयमप्रस्तुतैवाच्च मृगवृत्तिः प्रशस्यते ।

राजानुवर्त्तनकेशनिर्विस्तेन मनस्तिना ॥ ३४२ ॥

॥ अप्रस्तुतप्रशंसा ॥

उदाहरति । सुखमिति । प्रभुसेवाविरक्तस्योक्तिरियम् ।  
अपरमेविनो जीवनार्थं परमेवाजन्यदुःखानभिज्ञाः । अन्वैरिति  
गौणप्रयोगः ओदन एवान्नपदस्य शक्ततात् ॥ ३४१ ॥

मेयमिति । अप्रस्तुतैवेत्येवकारेण प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्द्दयोः प्रशं-  
सायां नायमलङ्कार इति स्फुचितं यथा, ‘याते मर्यचिराच्चिन्ह-  
दाघमिहिरज्ञालाभतैः शुष्कतां गन्ता कं प्रति पात्यमन्ति-  
रसौ सन्तापमालाकुला । इत्यं यस्य निरन्तराधिपटलैर्निर्त्यं  
वपुः चीयते धन्यं जीवनमस्य मार्गसरमोधिमारिधीनां जनुः’ ।  
अचाप्रस्तुतस्य मार्गसरमः प्रस्तुतस्य च दातुः प्रशंसेति नाप्रस्तुत-  
प्रशंसा किन्तु समाभाकिरव । राजानुवर्त्तनेति अनुवर्त्तनवृत्तेः  
शृण्वन्ति रुपतया निवृत्वादिति भावः । उक्तव्यं मनुना ‘सेवा  
शृण्वन्ति राख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्’ इति । मनस्तिना प्रशं-  
समनस्केन ॥ ३४२ ॥

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता ।

दोपाभासा गुणा एव लभते ह्यत्र सन्निधिम् ॥ ३४३ ॥

अथ व्याजस्तुतिं लक्ष्यति । यदीति । यदीति यदित्यर्थं  
कियाविशेषणं, निन्दन्निव यत् स्तौति असौ व्याजेन निन्दा-  
च्छलेन स्तुतिवच्छन्नरुपत्वाद्वाजस्तुतिः स्तुतेव्यव्ययः । निन्द-  
न्निवेति इवपदेनापातत एव निन्देति निन्दायाः प्रमूलद्रूप-  
तया प्रतिपादनं स्फुचितं । ननु निन्दा हि निङ्गृह्यत्वख्यापनं  
तत्र दोषाद्वायषणमन्तरेण न सम्भवति यति च दोषे कथं स्तु-

तिपर्यवसानमित्याशङ्कोपपादयति दोषाभासा इति दोषा  
इवाभासने वसुतो गुणा एव ईदृशा धर्मो अत्र सञ्चिधि-  
लभन्ते निवेशनीया भवन्ति । निन्दक्षिव स्तौतीत्यत्र च प्रत्य-  
यव्यत्ययेन स्तुवन्निव निन्दतीत्यन्यथाऽपि वाद्युवः तेन सुति-  
च्छलेन निन्दाक्रिरपि व्याजसुतिरेव वैचित्रमास्यात्, तत्र च  
व्याजरूपा सुतिर्व्याजसुतिरिति संज्ञार्थः । स्यहमुक्तं प्रकाश-  
कृता ‘व्याजसुतिर्मुखे निन्दा सुतिर्वा रुदिगन्यथा’ इति ।  
सुत्या निन्दाया गम्यते तद्वच्चमुदाहरणं यथा ‘हे हेलाजित  
बाधिमत्त्वं वचमां किं विस्तरैस्तोयधि नास्ति तत्सदृशः परः  
परहिताधाने गृहीतव्रतः । तद्यत्पात्यजनोपकारघटनावैमु-  
ख्यस्थायशोभारप्रादृहने करोषि कृपया साहायकं अन्तरोः,  
इति । अत्र ममुद्रस्य सुतिव्याजेन निन्दाप्रतिपादनाच्चमत्का-  
रातिशयः स्फुटं एव ॥ ३४३ ॥

तापमेनापि रामेण जितेयं भूतधारिणी ।

त्वया राज्ञापि सैवेयं जिता, माभूत्मदस्तव ॥ ३४४ ॥

उदाहरति । तापमेनापीति । तापमेनापि तापमत्वात्  
करितुरगादिजयमाधनरहितेनापि रामेण परशुरामेण, भूत-  
धारिणी पृथिवी । राज्ञापि राजत्वात् प्रभूतकरितुरगादि-  
जयमाधनवतापि । मैव तापमजितैव नवतिरिक्ता । अत्र वर्णनो-  
यस्त्र राज्ञा तापसजिताजयित्वप्रतिपादनेनापाततेनिन्दा, तथा  
च साचाङ्गवदवतारेण महादेवदत्तपरशुरामेण

यावतो भूमिर्जिता तावतो लया मनुष्येणापि जितेत्यतिमहतो-  
स्तुतिर्वर्णनोयस्य प्रतीयते ॥३४४॥

पुंसः पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते ।  
राजनिष्ठाकुवंशस्य किमिदं तव युज्यते ॥ ३४५ ॥

इयच्चालङ्कारान्तरमंगणातिचमत्कृतिभूमिरितिप्रति-  
पादनाय तत्र स्नेषमूलां व्याजस्तुतिं दर्भयन् स्नेषस्य च शब्दार्थ-  
गतत्वेन हैविधात् प्रथमसर्थस्नेषमूलामुदाहरति । पुंस इति ।  
इच्छाकुवंशीयं कञ्चिद्राजानं प्रति चाटुकारस्माकिरियं । पुरा-  
णादाद्याहृद्घाच्च, श्रीर्लंक्ष्मीः मम्पत्तिश्च । इच्छाकुवंशस्तेति तत्वेत्याच्य  
विशेषणम् इच्छाकुवंशोवंशप्रवर्त्तकपुरुषो यस्य स तथा तस्य ।  
वंशस्तेति सयकारपाठः सम्यक् । अत्राद्यपुरुषादाच्छिन्नाया-  
लत्म्याः परिभोग इच्छाकुवंशोयस्य तेन योग्य इति निन्दा,  
तथा चातिप्रभृता ते मम्पत्तिरिति स्तुतिः प्रतीयते । अत्र प-  
राणपदे श्रीपदे च स्नेषः सचार्थयोराद्यद्वयास्त्वंक्षमीमम्पत्त-  
वस्तुत एकत्वादर्थगतः । किञ्च परिभोगसाम्यात् श्रियां स्तोत्र-  
प्रतीतिरिति समाप्तोकिरिपि ॥ ३४५ ॥

भुजङ्गभोगसंसक्ता कलत्रं तव मेदिनी ।  
अहङ्कारः परां कोटिभारोहति कुतस्तव ॥ ३४६ ॥

शब्दस्नेषमूलामुदाहरति । भुजङ्गेति । भुजङ्गभोगसंसक्ता-  
षिङ्गानामुपभोगेऽनुरक्ता सर्पशरीररावता च, कलत्रं भार्या-

पाल्याच, अत्र भुजङ्गादिशब्दानामनेकार्थमङ्गेतितवाच्छब्दशेष-  
मूलेयम् ॥ ३४६ ॥

इति स्मोपानुविद्वानामन्येषाच्चोपलच्छ्यताम् ।  
व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तस्तु विस्तरः ॥ ३४७ ॥  
॥ व्याजस्तुतिः ॥

उपमंहर्ता । इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण स्मोपानुविद्वानां तथान्येषाच्चालङ्गारान्तरानुविद्वानां व्याजस्तुतेः प्रकाराणां प्रभेदानामपर्यन्तोऽसीमोविस्तर उपलच्छ्यतां स्वबुद्धा ज्ञायतामित्यन्वयः ॥ ३४७ ॥

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित्तत्सदृशं फलम् ।  
सद्मद्वा निदर्शेत यदि तत्यान्विदर्शनम् ॥ ३४८ ॥

अथ निदर्शनं लक्ष्यति । अर्थान्तरेति । अर्थान्तरे निदर्शनोयादन्यस्मिन् कार्यविशेषं प्रवृत्तेन केनचित् यदि तस्यार्थान्तरस्य मदृशं मदुत्तम्यम्, अमदपकृष्टमा फलं निदर्शेत प्रतिपादेत तन्निदर्शनं नामालङ्गारः स्वादित्यन्वयः, यदीत्यत्र यन्निति तत्यान्विदर्शनमित्यत्र सा स्वान्विदर्शनेति क्वचित्याठः, निदर्शनेति संज्ञायाः स्वीकृत्वा बड्डभिरङ्गीकियते । प्रकृतार्थ-प्रवृत्तस्य तत्पृष्ठाप्रस्तुतार्थान्तरज्ञापनं निदर्शनालङ्गार इति लक्षणार्थः । इयं समवदस्तुसम्बन्धनिवन्धना निदर्शनेति नव्याः, एतदुपलक्षणम्, असम्भवम् वस्तुसम्बन्धो यत्र साहृष्टं निद-

श्यति तवापि निर्दर्शनासम्भवः वैचित्रस्य स्फुटं प्रतोषमाग्न-  
तात् स्थृतमुक्तं प्रकाशकता 'अभवन् वस्तुमन्मन्त्रं उपमापरि-  
कल्पक' इति । अस्यादाहणरमनन्तरं दर्शयिष्यामः, अन्ये तथं  
द्वितीयेनानिर्दर्शनाप्रकारं उपमायामन्तर्भवतीति यन्यहता नोक्त  
इत्याङ्गः ॥ १४८ ॥

उदयन्नेप सविता पद्मोर्पर्यति श्रियम् ।

विभावयितुमृद्गीनां फलं सुहृदनुग्रहम् ॥ ३४९ ॥

तत्र सत्कलनिर्दर्शनमुदाहरति । उदयन्निति । उदयन्नुद-  
गच्छन् च्छद्धिं प्राप्नुव्य, श्रियं शोभां मध्यतिज्ञ । सुहृदनुग्रहं  
वन्मुखानुकूल्यरूपम् कर्त्तुमीनां मध्यतीनां फलं विभावयितुं  
सत्यामृद्गी वन्मृतामानुकूल्यं कर्त्तव्यमिति ज्ञापयितुं पद्मपु-  
श्रियमर्पयतात्यन्वयः । अत्र पद्मेषु श्रीवितरणप्रवृत्तेनादयभाजा  
घवित्रा सुहृदुपकाररूपमुदयफलं निर्दर्शते फलस्त्वैतदुक्ताय  
मव ॥ ३४९ ॥

याति चक्रांगुभिः स्मृष्टा ध्वान्तराजी पराभवम् ।

सद्योराजविरुद्धानां स्वच्यत्तो दुरन्तताम् ॥ ३५० ॥

॥ निर्दर्शनम् ॥

असत्कलनिर्दर्शनमुदाहरति । यातीति । पराभवं नाशं ।  
राजविरुद्धानां नृपतिप्रतिकृत्तानां चक्रप्रतिकृत्तानास्त्र । दुर-  
न्ततां निन्दितावसानवम् । अत्र चक्रांगुभिः पराभूयमाणा-

धान्तराजी राजविरोधिनां परिणामदुःखरूपं फलं निर्दर्शयति तच्च फलमसदेव । एवम्, ‘उन्नतं पदमवाय योनघुर्वैक्षयैव स पतेदिति ब्रुवन् । शैलशेखरगतो दृष्टकणश्चारुमाहतधुतः पतत्यधः’ । अत्र शैलशेखरादधःपतनप्रवृत्तो दृष्टकणोन्नघुर्वैक्षतपदप्राप्तम्य ततोऽग्निपतनरूपममन्फलं निर्दर्शयति । एयु च तथाविधमविचादीनां तज्जदर्थज्ञापनमस्वभ्यः मम्भवत्येव । लक्षणम्योपलक्षकतया प्राप्तायास्त्वमस्मवद्भूमस्मभ्यनिवन्धननिर्दर्शनाया उदाहरणं यथा, ‘क सूर्यप्रभवोवंशः क चान्पविषया भृतिः । तितीर्षुद्भूतरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्’ । अत्र सूर्यवंशवर्णनप्रवृत्ते कवौ उडुपकरणकदुस्तरमागरतरणच्छायाः सम्बोऽसम्भवन् सनात्या सूर्यवंशवर्णने च्छा उडुपेन सागरतरणेच्छेवेत्युपमां निर्दर्शयति, यथा वा ‘उदयति वितोर्द्धरमिरज्जावहिमस्त्रै हिमधाच्चि याति चास्तम् । वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टादयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् । अत्राम्यस्त्वीलां कथमन्योवहतिति तस्मृग्निमित्युपमायां पर्यावमानम् । मालारूपाण्येषा चारुतातिशयं पुण्याति यथा ‘दोर्धीं तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्गमादातुभिच्छति करे वर्णिणाङ्गविम्बम् । मेरु लिलहयिषति भ्रुवमेष देव यस्ते गुणान गर्दितुमुद्यममादधाति’ । अत्रेच्छाचयस्य सम्बोगुणवर्णनेद्यतेऽसम्भवन् पूर्ववदुपमाचयं निर्दर्शयति ॥ ३५० ॥

सद्वक्तः सद्वभावेन कथनं गुणकर्मणाम् ।

अर्थानां योविनिमयः परवृत्तिस्तु सा सत्ता । ३५१ ॥

अथ सहोक्रिं लक्ष्यति । सहोक्रिति । गुणकर्मणा-  
मिति अत्र कर्मशब्दः क्रियावाचो, बज्जवचनेन इत्यादिपरि-  
यहः । गुणादीनां सहभावेन साहित्येन अत्कथनं सा सहो-  
क्रिः, सहभावस्थेति क्वचित् प्रष्ठयन्तः पाठः । ममन्धिभेदेन  
भिन्नयोरपि गुणयोः क्रिययोरपरयोर्वा सहार्थस्य बलादेके  
वाचकेन यदेककालीनतया प्रतिपादनं सा सहोक्रिति  
निष्कृष्टोऽर्थः । एतदेवाकं दर्पणकृता ‘सहार्थस्य बलादेकं यत्र  
स्वादाचकं द्योः’ । सा सहोक्रिति । अत्र प्रौढोक्रिमन्तरेण  
वैचित्राभावात् तन्मूलकलमस्य बोध्यं तेन ‘स्वत्मणेन समं रामा  
गहनं काननं यद्यै’ इत्यादौ यथावित्येकेन पदेन रामलक्ष्मण-  
योर्गमनक्रिययोः प्रतिपादनेऽपि प्रौढोक्रियभावेन वैचित्राभा-  
वान्नायमलक्ष्मारः । अत्र धर्मिणां गुणादिभिर्युगपदन्वय इति  
तुल्ययोगितातोभेदः ॥

इत्यं पश्याद्द्वनेव सहोक्रिलक्षणं पर्याप्तमिति पश्यपूरणस्या-  
वश्यकतया सहोक्रुदाहरणान्यदर्शयित्वेवाच्चराद्देव परिवृत्त्य-  
लक्ष्मारं लक्ष्यति । अर्थानामिति । विनिमयः प्रतिदानं ति-  
लान् इत्या माषयद्वर्णमित्यादिरूपं । विनिमयस्य समेन समस्य  
अधिकेन न्यूनस्य न्यूनेनाधिकस्य च यहस्मिति चिविधः, अय-  
मपि प्रौढोक्रैव प्रयुज्यमानस्वादतामावहति । भोजदेवस्तु य-  
त्ययमपि परिवृत्तिमाह ‘व्यत्ययोवस्तुगोर्यस्तु योवा विनि-  
मयामिथ’ इत्यादिना, व्यत्ययस्तु कर्मचिदेकस्यानादन्यत्र स्यापनं  
यथा, कुमुदवनमपर्य श्रीमद्भाजषणडमित्यादौ ॥ ३५१ ॥

सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः संप्रति रात्रयः ।

पाण्डुराश्च ममैवाङ्गैः सह ताश्चन्द्रभूषणाः ॥ ३५२ ॥

तत्र प्रथमोद्दिष्टां महोक्तिमुदाहरन् प्रथमं गुणमहभाव-  
च्छामुदाहरति । मह दीर्घा इति । विरहिष्या उक्तिरित्यं ।  
मम्रति प्रियविरहममये नतु पूर्वं, रात्रयोदीर्घा इति दुख-  
बहुलतया दुचेपणीयत्वादिति भावः । ता रात्रयः, पाण्डुरात्मे-  
द्दितुश्चन्द्रभूषणा इति ज्ञात्यु इत्यर्थः, अत्र दीर्घत्वं पाण्डुर-  
त्वज्ज्ञ गुणं तात्र मम्बन्धिभर्देन वस्तुताभिन्नावपि महार्थवला-  
दीर्घा इति पाण्डुरा इति चेकनैव पदेनैककालीनतया कर्थि-  
ता । ननु ‘आविर्भवति नारीणां वयः पर्यस्तशैश्वरम् । सहैव  
विविधैः पुमामङ्गजान्मादविभर्मैः’ इति पूर्वदर्शितकार्यसहजत्वा-  
चहेतुदाहरणेऽपि क्रिययोः महभावो दृश्यते तदनयोरभेदापात  
इति चेत्वैवं महभावमाधारणेऽपि कार्यकारणभावस्यैव च-  
चनियामकत्वात् प्रकृते तु दीर्घश्वासदीर्घरात्मोर्न कार्यका-  
रणभावः द्वयोरेव विरहजन्मत्वात्, एवमयेऽपि वोध्यम् ॥  
॥ ३५२ ॥

वर्द्धते सह पान्थानां मूर्च्छया चूतमञ्जरी ।

पतन्ति च समं तेपामसुभिर्मनयानन्तः ॥ ३५३ ॥

क्रियामदभावरूपां महोक्तिमुदाहरति । वर्द्धत इति ।  
पतन्ति गच्छन्ति, असुभिः प्राणवायुभिः कर्चिदशुभिरिति  
पाठः । अत्र वर्द्धनं पतनश्च क्रिये । अत्रापि मूर्च्छावृद्धि-

चूतमञ्चरीदृढोः, असुपतनमलयानिलपतनयोस्य वमनज-  
न्यत्वात् मिथः कार्यकारणभाव इति न चित्रहेतुना साक्षर्ये ।  
यदिच चूतमञ्चरीदृढो मृच्छादृढः मलयानिलपतनेन चा-  
सुपतनमित्यभिप्रायस्तदा इडुहोदाहरणं ‘मह मणिवलण्ठिं  
वाहधारा गलन्ति, अस्ति भास्त्रान् प्रथातः मह रिपुभिरयं  
संहित्यन्तां बलानीत्यादिकं वास्थम्. अत्र न महभृतयोर्हेतु-  
हेतुमङ्गावः ॥ ३५३ ॥

कोकिलालापसुभगाः सुगर्भिवनवायवः ।

यान्ति साहृं जनानन्दैर्वृद्धिं सुरभिवासराः ॥ ३५४ ॥

कोकिलालापेति । सहोकीलिमंडायत्तान् महशब्दप्र-  
याग एवायमलङ्कार इति भमनिरासाय सहार्थकमाहृपद-  
घटितमिदमुदाहरणमुपन्यस्तम्, एवं महार्थकशब्दान्तरोपा-  
दाने तदनुपादानेऽपि ‘गम्यमानेश्च महार्थैरित्यनेन विदितायां  
द्वतीयायामा सहार्थिर्वाच्या । अत्यन्त वृद्धिं यान्तीत्य या-  
नकियायाः महभाववत् गुणात्मिकाया वृद्धंरपि महभावः  
प्रतीयत इति गुणक्रिययोरकत्र भहभावदर्शनार्थमुदाहरण-  
मिदं दर्शनमित्याङ्गः तत्र वृद्धंगुणत्वं आनन्दस्तापि तथातं.  
गुणस्य गुणवृत्तिनापाते प्रतीकारद्विन्द्यः ॥ ३५४ ॥

इत्युदाहरत्योदत्ताः सहोक्तेरत्र काश्वन ।

॥ सहोक्तिः ॥

क्रियते परिवृत्तेश्च किञ्चिद्गृपनिदर्शनम् ॥ ३५५ ॥

इत्युदाहृतय इति । काञ्चनेति गुणक्रियासहभावविषया  
दर्शिताः, अन्यथा रीत्या अन्यविषयापि सहोकिर्बाहुव्यर्थ्यः॥

क्रियत इति । किञ्चिद्भूपनिदर्शनम् अन्यबाहुव्यभिया एक-  
मानोदाहरणेन किञ्चित् स्वरूपप्रकाशनम् ॥ ३५५ ॥

शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम् ।

चिराञ्जितं हृतं तेपां यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥ ३५६ ॥

॥ परिवृत्तिः ॥

शस्त्रप्रहारभिति । अत्र न्यूनेनाधिकस्य यहणरूपे विनि-  
यः । एवं ‘दत्ता कठात्तमेणात्ती जयात् हृदयं सम् । मया तु  
हृदयं दत्ता मृतीतो मदनञ्चरः’ । अत्र पूर्वार्द्धं समेत समस्य,  
उत्तरार्द्धं अधिकेन न्यूनस्य विनियः ॥ ३५६ ॥

आशीर्नामाभिलपिते वस्तुत्याशंसनं यथा ।

पातु वः परमं ज्योतिरवाडः मनसगोचरम् ॥ ३५७ ॥

॥ आशीर्नामाभिलपिते ॥

अथाग्निः संज्ञकमलङ्कारं लक्ष्यति । आशीर्नामेति ।  
अभिलपिते इष्टे वस्तुनि आशंसनं प्राप्नोच्चाप्रकाशनं यदा  
अभिलपिते प्रियं वस्तुनि जने सुहृज्जने दत्यर्थः आशंसनं शुभा-  
भ्यर्थमाशीर्नामालङ्कार दत्यन्वयः । अयमलङ्कारो वैचित्र-  
विशेषात्मकत्वाभावान्न बङ्गभिरङ्गीक्रियते, केञ्चित्तु सौहृद्यस्या-

पनेन वैचिचं विद्यते एवेत्यज्ञीक्रियते, अदुक्तं ‘आशीर्विति च केषाच्छिदलङ्कारतया मता । सौहस्रास्त्राविरोधोक्ता प्रयोगोऽस्याश्च तादृशं’ इति । अन्यैस्तु न्याय एवास्त्राश्चमत्कारजनकत्वमिति नायालङ्कारत्वनोच्यते यथा ‘आशीर्वाकन्दकपटाच्च-मागर्वीद्यमाश्रया’ इत्यारभ्य, ‘इति नायालङ्कृतयो नाय-भृषणहेतवं’ इति, तत्कारमस्या लक्षणश्च ‘आशीर्विष्टजनाशमेति, यथा शाकुल्लते । ‘यदातेरिव शर्मिष्ठा पश्युबद्धमता भव । पुच्चं त्वमपि समाजं मेव पूर्णवास्तुहि’ इति । अपरे तु प्रयोगेन्द्र-ज्ञारस्त्वैवाचं भेद इत्याज्ञः । उदाहरति पात्रिति । अवाङ्ग-नमगोचरमिति वाक् च मनश्च ते गाचरौ प्रतिपादकं यस्य तत्त्वात् तद्विद्वां ‘यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा महेति अते�’ । वाचोमनम् इत्यत्समाप्तातः ॥ ३५७ ॥

अनन्वयसमन्देहावृपमास्वेव दर्शितो ।

उपमारूपकच्चापि रूपकेष्वेव दर्शितम् ॥ ३५८ ॥

इत्यं स्वभावार्थानादाशीः पर्यन्तानलङ्कारानुदेशकर्मण-  
लक्ष्यत्वा भंग्रति ग्रामान्मरतया मद्वार्ष्यं लक्ष्यितव्युपि अन्वेष-  
क्तानां अनिपयानङ्काराणामनिरुपणेन स्वस्य नूनत्वमाश्च  
तेषां स्वाक्षर्यन्तर्भावनेन तत्परिहरति । अनन्वयति । अनन्वयः  
‘उपमानोपमेयत्वे एकस्त्रैवेकवाक्यग्ं’ । अनन्वयः, इत्युक्तन्त्रणः ।  
समन्देहये ‘समन्देहस्तु भेदोक्तो तदनुकूलं च संशयं’ इत्युक्त-  
रूपः । उपमास्वेव दर्शिताविति तथाहि अनन्वयस्य ‘चन्द्रार-

विन्दधाः काञ्जिमतिक्रम्य मुखं तव । आत्मनैवाभवत्सुख-  
मित्यसाधारणोपमा' इत्यसाधरणोपमायामन्तर्भावः । सु-  
न्देहस्य च 'किं पश्यमन्तर्भावान्ति किन्ते लोकेष्वरं मुखम् ।  
मम दोषायते चित्तमितीयं संशयोपमेति संशयोपमायाम् ।  
उपमारूपकञ्चापीति 'उपमारूपकाख्यं रूपकान्तरं वामने-  
नाकं यथा, 'उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकमिति' उदाहृतञ्च  
'जयति चतुर्दशलोकवक्षिकन्द इति' अत्र चतुर्दशलोकस्य  
वर्णमास्त्रेन कृमंदवे कन्दलरूपणम्, अपरे चेदं परम्परितरूप-  
कमाचक्षते । अन्य तु उपमासहितं रूपकमुपमारूपकं, यदुकम्,  
'उपमानेन तद्वावमुपमेयस्य रूपयन् । यद्दइत्युपमाभेदमुप-  
मारूपकं यथा' इति । अस्योदाहरणं यथा, 'दिवाकरकर-  
स्यर्शादुदयाद्रेः पर्याधरात् । नीलांगुकमित्र प्राच्यास्त्रमोग-  
लति सम्प्रति' । अत्र नीलांगुकमित्रेत्युपमया सहितमुदयाद्रेः  
पर्याधरादिति रूपकमित्याङ्गः । रूपकंवेत्र दर्शितमिति 'इष्टं  
माधर्म्यवेधर्म्यदर्शनाङ्गोणमुख्याः । उपमावर्तिरकाख्यं रूपक-  
द्वितयं यथा' इत्यनेन गृहीतमित्यर्थः ॥ ३५८ ॥

उत्प्रेक्षाभेद एवासाक्तुप्रेक्षावयवोऽपि च ।

नानालङ्कारसंस्थिः सङ्कीर्णन्तु निगद्यते ॥ ३५९ ॥

उत्प्रेक्षते । असावन्त्यैरङ्गीकृत उत्प्रेक्षावयवोऽपि स्वमते  
उत्प्रेक्षाभेद एवेत्यन्वयः, उत्प्रेक्षावयवश उत्प्रेक्षाया आरभ-  
कमलङ्कारान्तरं तत्र स्त्रेषादिकं, यदुकं 'अयुषेनार्थन संस्यृष्टः

किञ्चित्तोपमयात्मितः । रूपकार्थेन वा युक्तं उत्तमेचावयवे यथा<sup>१</sup>  
इति । तत्र शिष्टार्थसंस्पृष्टो यथा ‘मुक्तोत्करः सङ्कटशुक्ति-  
मध्यादिनिर्गतः सारमलोचनायाः । जानीमहेऽस्याः कमलोद्य-  
कमुखीवाधिवासाद्गुणवत्तमाप’ । अत्र गुणवत्ते द्वेषः’ उपमया-  
त्वितो यथा कुमारमध्यवे, ‘अद्भुतीभिरिव केशसङ्खयं सञ्चिटज्ञ  
तिमिरं मरीचिभिः । ‘कुद्भलोक्तमरोजनोचनं चुम्बतीव रजनी-  
मुखं शशी’ । अत्राद्भुतीभिरिव मरीचिभिरित्यत्र कुद्भलोक्त-  
मरोजनोचनमित्यत्र चोपमा चुम्बतीवेत्युप्रवासामारभते । एवं  
रूपकार्थसंयुक्तोत्प्रेक्षापि । एवंतिधात्रेचावयवेऽपि स्वस्ते ईशा-  
दिसङ्कोर्णात्प्रेक्षेति नाचापि न्यूनता । केविच्चु यत्रावयव-  
क्रियैवात्प्रेक्ष्यते नावयविकिया म उत्प्रेक्षावयवः यथा ‘लोनेव  
प्रतिविम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च’ इत्यादीत्याङ्गः । एवं  
निपुणस्यादात्मे इष्टान्तस्यापमायाम् उभयपरिणामयादप-  
कारणमालाया हतो अपरेषाच्छापर्वैरङ्गोलतानामलङ्घ-  
न्तराणां, यथायथं निरक्षेयन्तर्भावावाध्यः ॥

अथ सङ्कोणं लक्ष्यति । नानालङ्घारेति । नानालङ्घा-  
राणां रजातीयानां विजातीयानाम्बा निरक्षलक्षणानामल-  
ङ्घाराणां मंसूष्टिरेकत्र मंसर्गः सङ्कोणं सङ्कोणास्यमलङ्घा-  
राणाम् निगद्यते प्रथग्नेविचविशेषोपलङ्घ्या प्राचीनेहस्यतं,  
युक्तश्चेतत् यथा लौकिकङ्घाराद्यलङ्घाराणां मिथ मंसर्गेण  
पृथक्त्वाहतातिशयजनकतया गुच्छगुच्छाद्गुच्छास्तादिसंज्ञया  
पृथगलङ्घारत्वेन व्यपदेगमया सङ्कोणानां काव्यालङ्घारा-

वामपि प्रथक्षास्ताप्रत्यायकतया प्रथगकहारस्य वद्दी-  
र्थतिमंजया व्यपदेश इति ॥ ३५८ ॥

अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकशता ।  
इत्यलङ्गारसंस्थेन्नेत्रीया दद्यो गतिः ॥ ३५९ ॥

सङ्कोर्षस्य भेदै दर्शयति । अङ्गाङ्गोति । अङ्गाङ्गिभावेन  
निर्वाञ्छनिर्वाहकत्वेनावस्थानमित्येका, तथा सर्वेषां समक-  
चता अनुग्राहानुग्राहकत्वमन्तरेण निरपेक्षतयावस्थानमित्य-  
परा, इत्यलङ्गारसंस्थेः सङ्कोर्षात्तद्वारस्य दद्यो गति-  
भेदद्रव्यम् । तत्र समकचतयावस्थानस्य क्वचिदेकाश्रयगतं  
क्वचिदिदिभिन्नाश्रयगतमिति दिविधं, तत्र प्रथममेकाश्रयानु-  
प्रवेशमंजया कथितमन्यैः, तथा सन्ते इमङ्गरस्थान्यैङ्गस्य तु  
सन्दिक्षमानात्तद्वारयोः संसर्गाभ्युपगमे समकचतेत्यनेनैव सं-  
यहः सन्दिक्षमानयारप्यनुग्राहानुग्राहकत्वाभावात्, तमादेत-  
न्नतेऽपि सङ्कोर्षस्य चतुर्विधिं चिह्नं, परम्परेकाश्रयानुप्रवेशे  
सन्दिग्धत्वेऽङ्गाङ्गिले च सङ्करसंज्ञा, समकचतायान्तु संस्थिति-  
मंजान्वेषामित्येव विशेषः ॥ ३६० ॥

आच्चिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तत्र मुखश्रियम् ।

कोषदण्डसमयाणा किमेपामस्ति दुष्करम् ॥ ३६१ ॥

तत्राङ्गाङ्गिभावसङ्कोर्षमुदाइति । आच्चिपन्त्योति । आच्चि-  
पन्ति जिगीषन्ति सङ्कोर्षम्भूतीति तु प्रतीयमानोऽर्थः तेना-

चेष्टमालहारः स चाच निर्बाच्चत्वादद्भौ, कोषो धनराजिः  
कुद्रूसश्च दण्ड उपायभेदः शास्त्रमित्यर्थः नाहस्त ताभ्यां  
समयाणां सम्पूर्णानामितिष्ठाविद्वोऽर्थात् रन्यामोऽयमलाङ्गं  
निर्बाहकत्वादित्यन्ये तथात्रे एषामिति सोकानामित्यर्थः, तत  
एवार्थान्तरस्योपन्यामसम्भवः अरविन्दानामित्यर्थकले तु न तथा  
एकस्य समर्थमसर्थकत्वाभावात्, अपरे तु कोषदण्डसमयाणा-  
मिति हेतुतयोपन्यामाद्वैलक्षड्कारोऽत्राङ्गमित्याङ्गः । वस्तुतस्य  
न किञ्चिदिह दुष्करमिति चतुर्थपादः सम्भवः । एषामिति  
सम्भविवचया षष्ठी ॥ ३६१ ॥

निष्पत्तीव तमोऽज्ञानि वर्षतीवाच्चनं नभः ।  
असत्युरुपसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ३६२ ॥

॥ सङ्कोषम् ॥

समकक्षतामङ्गीर्षमुदाहरति । लिखतीवति । अच पृष्ठ १  
उत्प्रेक्षा उत्तराद्देव चापमा अनयोरत्र निरपेचतयावस्थान्, मति  
समकक्षता । मङ्गीर्षत्वमिदं विभिन्नाश्रयगतम्, एकाश्रयगतं  
यथा ‘कुरवकारवकारणतां ययुरित्यत्र रवका रवका इति वकार  
वकार इति च यमकथाः, संसारध्वान्तविघ्वंसहंसः कंसनिसृदनः,  
इत्यत्र रुपकानुप्राप्योर्षीकत्र समकक्षतयावस्थानम्, अर्थात् लङ्गा-  
रयोरेकाश्रयानुप्रवेशस्तु बङ्गभिर्नाद्रियते अङ्गाङ्गिलेनैव दयो-  
रेकत्र सङ्गावात् । अन्ये तु समकक्षतयापि दयोरेकत्र सङ्गावः  
सम्भवत्येव यथा ‘अहिणप्रपञ्चाश्रमिए पहिप्रसामाइएसु दि-

अएसु । महद् पशारिष्टगीचाणं विश्वं भोरविन्दाणं । अच  
पथिकश्चामितेविद्युपमा पथिकशामाजिकेविति रूपकम्, इ-  
योरप्यनयोरत्र तात्पर्यं समकक्षतया चावस्थानमित्याङ्गः ।  
मुखचक्रः शोभते इत्यत्र मुखमेव चक्र इति रूपकस्य मुखं  
चक्र इतेविद्युपमाया वाच सङ्घाव इति साधकबाधकभावात्  
मन्दिरामानयोरनयोः समकक्षतयैवाचावस्थानमिति ॥ ३६१ ॥

स्नेषः सर्वासु पुण्णाति प्रायोवकोक्तिपु श्रियम् ।  
भिन्नं द्विधास्वभावोक्तिर्वकोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ ३६२ ॥

पूर्वं प्रदर्शितेषु तज्जदलङ्गारानारोदाहरणेषु वज्रपु केष-  
मङ्गावा दृष्टस्तत्त्वं अषेण वज्रनां सङ्कोणविमिति सुचयन्नाह ।  
अषेण इति । वकोक्तिपु भण्डितभङ्गीरूपासङ्गारवक्ताच्येषु । वको-  
क्तिविद्युक्त्या तद्विनमपि काव्यमस्त्रोत्यायातं ततश्चालङ्गार-  
क्तं काव्यस्य भंददयमाह । भिन्नमिति । स्वभावोक्तिर्ज्ञाति-  
गुणक्रियाद्रथ्याणां यथावत्स्वरूपवर्णनरूपा, वाङ्मयं काव्यं,  
स्वभावाख्यानाद्यलङ्गारवत् भण्डितभङ्गीरूपोपमाद्यलङ्गारव-  
चेति तत् द्विविधमित्यर्थः ॥ ३६३ ॥

तङ्गाविकमिति प्राङ्गः प्रबन्धविषयं गुणम् ।  
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्वि संस्थितः ॥ ३६४ ॥  
परस्परोपकारित्वं सर्वं धारित्वं वस्तुपर्वणाम् ।  
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥ ३६५ ॥

व्यक्तिरुक्तिक्रमबनाद्वभीरस्यापि वस्तुनः ।  
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्वाविकं विदुः ॥ ३६६ ॥

इत्यं केषाच्छिद्वैचिचाणि स्त्रभावाख्यानाद्वलद्वारलम्भकम्  
अपराणि चानन्नानि वैचिचाणि सम्भवन्ति तानि च प्रत्येकं  
तत्तत्त्वाद्वा दुर्ब्बिचानोति सर्वेषामेव तेषां मंगाहकमेकमेव भा-  
विकाख्यमस्तद्वारमाह । तद्वाविकमिति । प्रबन्धा महाकाव्य-  
नाटकाख्यायिकादयस्तद्विषयं तद्वतं प्रबन्धेषु चमन्कारजन-  
कतया निवेशनीयमित्यर्थः गुणं शोभाजनकं धर्मं, तत् अलद्वा-  
रेषु प्रसिद्धं भाविकमिति भाविकाख्यमस्तद्वारमाहरित्यन्यर्थः ।  
अख्यात्वर्थतां दर्शयति भाव इति कवेरभिप्रायोभावस्तुमर्हतीति  
कृत्यन्या भाविकमंज्ञाप्रवृत्तिरित्यर्थः, स चाभिप्रायः काव्येष्वा-  
मिद्व आरम्भावधिममाप्निपर्यन्तं संस्थितः, एतेनायमस्तद्वा-  
राऽलद्वारान्तरवन्न पदवाक्यमाचरणः किन्तु महावाक्यरूप-  
प्रबन्धगतोऽपि भवतीति सृचितम् । भृतभाविनोः प्रत्यक्षा-  
मालेन वर्णनं भाविकमिति प्रकाशकारः, अद्वृतपदार्थस्यापि  
प्रत्यक्षायमालत्वमिति दर्पणकारः, तत्र मंज्ञायाः सम्भगव्यर्थता-  
न सम्भवतीति विवेचनीयम् ॥ ३६४ ॥

कवेरभिप्रायविषयान् कतिचित् प्रबन्धधर्मान् दर्शयति ।  
परस्यरोपकारित्वमिति । वस्तुनि आधिकारिकंतिष्ठत्तानि  
पर्वाणि तदुपकारकाणि प्राप्तिकेतिष्ठत्तानि, यदाह नख-  
कुटः ‘इदं पुनर्वृक्षु बुद्धिर्दिविधं परिकल्पते । आधिकारिकमेकं

स्यात् प्रामङ्गिकमथापरम् इति । सर्वेषां तेषां परस्परोपकारित्वं कवेरभिप्रेतं, यथा रामायणे रामचरितमाधिकारिकं सुयोगादिचरितं प्रामङ्गिकं तयोरङ्गाङ्गितया परस्परोपकारोविद्यत एव । महाकाव्यादै करितुरगपुरगिरिप्रमृतिवर्णनमपि साक्षात् परम्परया वा प्रधानोपकारे पर्यवस्थतीति बोधम् । तथा व्यर्थानां प्रकृतस्यापरिपेषकाणां विशेषणानामकिया अनुपन्यासः अभिप्रेतार्थवाधकविशेषणोपन्यास इत्यर्थः, अयमेव परिकरालङ्घार इति प्रकाशकारादयः यथा ‘विशेषणैर्यसाकृतैरुक्तिः परिकरस्तु सः’ इति । अपरे तु अपुष्टलदोषाभाव एवायं नालङ्घार इत्याङ्गः । तथा स्थानानां प्रकृतरसापेणागिविषयविशेषाणां वर्णना ॥ ३६५ ॥

व्यक्तिरिति । उक्तिकमः पदरचनापरिपाटो तद्वलान्तदीयप्रतिपादकतामार्थात् गम्भीरस्यापि गूढतरस्यापि वस्तुनोर्यस्य व्यक्तिः प्रस्फुटत्वम्, तदिदं सर्वे भावायत्तं कवेरभिप्रायाधीनभिति भावायत्तलाङ्गाविकमिदं विदुरिति ॥ ३६६ ॥

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।

व्यावर्षितमिदच्चेष्टमलङ्घारतयैव नः ॥ ३६७ ॥

॥ भाविकम् ॥

किञ्च यच्चेति । सन्ध्ययोमुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणात्याः पञ्च, तेषामङ्गानि उपचेपपरिकरादीनि चतुःषष्ठिमङ्गकानि, दृच्छयः कौशिकीमात्रत्यारभट्टोभारत्यश्वतसः,

तासामङ्गानि नर्वनर्वसुर्ज्ञादीनि षोडश, स्त्रेणानि भूषणा-  
चरसङ्घातादीनि षट्चिंशत्, आदिपदेन नायालङ्कारवीथ-  
ङ्गलास्याङ्गानां यहणं, तत्र नायालङ्कारा आशीराकन्द-  
कपटादयस्त्रयस्त्रिंशत्, वीथङ्गानि उद्हात्यकावलगितादीनि  
चयोदश, लास्याङ्गानि गेयपदम्यतिपायादीनि दश । एतेषां  
प्रपञ्चोदशरूपकादौ द्रष्टव्यः वाङ्गल्यभियाच न दर्शितः । एतत्  
मर्वमागमान्तरे भरतादिप्रणीतनायगात्मे व्यावर्जितं नाय-  
गोभाजनकतया निरूपितम्, इदम्ब मर्वमस्माकमलङ्कारतये-  
वेष्टमित्यन्वयः । तत्र केषाच्चित् स्त्रभावाख्यानादावलभावः  
अपरेषां भाविकत्वमिति दग्धप्रादिग्न्यदत्तोदाहरणदर्शनं  
खबुद्या विवेचनीयम् ॥ ३६७ ॥

पन्थाः स एप विवृतः परिमाणवृत्त्या  
संहृत्य विस्तरमनन्तमलङ्क्रियाणाम् ।  
वाचामनीत्य विषयं परिवर्त्तमाना-  
नभ्यास एव विवरीतुमलं विगेषान् ॥ ३६८ ॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शुर्धान्तङ्कारविभागो  
नाम हितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

ते चाद्यापि विकल्पने कस्तान् कार्त्तेन वच्छतोत्याद्युक्तं  
पुनरपि स्मारयन् परिच्छेदमिममुपमंहरति । पन्था इति ।  
अलङ्क्रियाण् पूर्वनिरूपितस्त्रभावाख्यानादसङ्काराणामनन्त-

मसीमं विस्तरं सम्भवम् प्रभेदममुहं मंहत्या कार्येन वकुम-  
शक्तया शीर्षग्रहणन्यायेन प्रकटतरं तं संशुद्ध परिमाणवृत्त्या  
परिमितलेन स एषः पन्था विवृतः मार्गमात्रं प्रदर्शितम् । एष  
इत्यत्र एवेति क्वचित्याठः पन्था एवेत्यर्थः । अनेन पथा सम्भव-  
माणेरपरेऽपि भेदाः स्वयं ज्ञातव्या इत्याह वाचामिति वाचां  
विषयमतीत्य परिवर्त्तमानान्तिप्रभृतानित्यर्थः । विशेषान् प्रभे-  
दान् विवरीतुं प्रकाशयितुम् अभ्यास एव अस्य विवृतमार्गस्य  
पुनःपुनःपरिशीलनमेव अलं समर्थः संक्षिप्ताऽप्यस्मन्निरूपण-  
प्रकारः पुनःपुनरालोच्यतां तेनैवापरेऽपि प्रभेदा ज्ञातव्या  
इत्यर्थः ॥ ३६८ ॥

इति श्रीप्रेमचन्द्रतत्कर्वागीश-भट्टाचार्य-विरचितायां मा-  
लिन्यप्रोञ्चनीममाख्यायां काव्यादर्शटीकायां द्वितीयः परि-  
च्छेदः ॥ २ ॥

काव्यादर्शः ।

द्वतीयः परिच्छेदः ।

अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्षमंहतेः ।

यमकं, तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ १ ॥

द्वितीयपरिच्छेदे ‘काव्यशाभाकरान् धर्मानलङ्कारान्  
प्रचक्षते इत्यनेन शब्दार्थमाधारणमलङ्कारमामान्यलक्षणमभि-  
धाय शब्दस्य प्रथमवुद्धिविषयतया प्रथमं निरूपयितुमुचिता-  
नपि तदीयालङ्कारानतिचमत्कारजनकलाभावादनिरूप्य च-  
मत्कारविशेषभूमयोऽर्थालङ्कारा एव विनेयानां प्रवृत्तये पूर्वं  
निरूपिताः, मंप्रत्युपादेयधर्म्यपु प्राप्नावमरान् पूर्वनिरूपि-  
तानुप्राप्निक्वान् शब्दालङ्कारान्, तदनन्तरं हेयधर्मान् २-  
षांश्च निरूपयितुं द्वितीयपरिच्छेदमारभमाणेन प्रथमं मार्ग-  
विभागप्रसङ्गेनोक्तलक्षणमपि यमकमनूद्य तप्रभेदाः प्रदर्शने।  
अव्यपेतेति । अव्यपेतोऽव्यवहितः व्यपेतोऽव्यवहितश्च आत्मास्त-  
रुपं यस्यालङ्कारशी वर्णमंहतेः स्त्ररव्यञ्जनवर्णमहस्य व्यावृत्ति-  
विशेषणालङ्कारः पुनरुच्चारणं यमकमित्यव्ययः । अस्य विशेषाः  
पूर्वमेवोक्ता इति नाचेच्यन्ते । अव्यपेतव्यपेतात्मेति भेदकथ-  
नाय, तथाहि कृचित् पूर्वाच्चरितवर्णसङ्क्षायवधानेन पुन-

स्वारणं क्वचिद्ग्रवधानेनेति प्रथममिदं भेदद्वयम् । अस्य स्थानं  
नियमयति तच्चेति । पादानामादिमध्यान्तभागा अस्य स्था-  
नानीत्यर्थः । अत्रादिमध्यान्तेत्यनेन पादानां खण्डत्रयगतल-  
मेव यमकस्येति नाशङ्कनीयं मध्यपदेन सम्भवत् खण्डमात्स्वा-  
भान् चतुरादिखण्डेष्वयस्य म्यतिज्ञातव्या यदाह प्रकाशक्त् ।  
त्रिखण्डे त्रिशत् चतुःखण्डे चत्वारिंश्चदिति । एतदुपलक्षणं पादा  
अपि अस्य स्थानानीति ज्ञेयम् । यदुकं वामनेन ‘पादः पाद-  
स्यादिमध्यान्तभागः स्थानानीति । अत्र पादपदेन च पाद-  
द्वयात्मकस्य पद्माद्वृस्य पादचतुष्टयात्मकस्य सम्युर्षपद्मस्य च  
यहणं तेन पादखण्डाः पादाः पद्माद्वृः सम्युर्षपद्मस्य यमकस्य  
स्थानानीति निष्कर्षः ॥ १ ॥

एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां विकल्पनाः ।

आदिमध्यान्तं मध्यान्तं मध्याद्याद्यान्तं सर्वतः ॥ २ ॥

अत्यन्तवक्ष्वस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनयः ।

सुकरा दुष्कराश्वैव, दर्शने तेऽनु केचन ॥ ३ ॥

तत्राविमिश्रविमिश्रतया द्विविधानामादिमध्यान्तयमकानां  
भेदान् क्रमेण दर्शयन् प्रथममविमिश्रं विभजते । एकंति ।  
एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानामविमिश्राणामित्यर्थः विकल्पना-  
भेदाः, पद्मस्य चतुष्पादात्मकतात् प्रतिखण्डं चत्वारस्त्वारो-

भेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः, यथा अविमिश्रितमादिभागयमकं प्रथ-  
मपाद एव, द्वितीयपाद एव, तृतीयपाद एव, चतुर्थपाद एवेति  
चतुर्विधम्, तथा मध्यादिभागयमकमपि प्रत्येकं चतुर्विधमिति  
अथस्वाविमिश्रभेदप्रकारोऽयपेत्यपेत्साधारणः । अय विमि-  
श्रयमकं विभंजते आदीति । सम्बेदयोनयः सजातीययम-  
कान्तरसंमिश्रणजन्याः आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्तसर्व-  
तोवर्त्तमानानां तेषां यमकानां भेदा अत्यन्तबहवोऽतिवि-  
स्तरा ज्ञातव्या इत्यन्यः । सर्वं इति । सप्तमीबहुवचनान्तं,  
पदच्छेदस्त्रं ‘आदिमध्यान्तेषु, मध्यान्तेषु, मध्याद्येषु आद्यन्तेषु,  
सर्वेषु चेति । मध्यपदानि च सर्वाणि द्वितीयतृतीयपादबोधकम्,  
चरममादिपदस्त्रं प्रथमद्वितीयतृतीयपादबोधकम्,  
अन्तपादस्त्रादौ त्रयाणां पूर्वपादानां स्थितलात् । मध्याद्येति  
आद्यस्त्र मर्या चेति विद्यहः धर्मार्थादिपाठादाद्यस्य परभावः,  
तत्र आदिमध्यान्तेत्यस्य प्रथमे द्वितीये, प्रथमे तृतीये, प्रथमे च-  
तुर्थे, इति चयः प्रकाराः । मध्यान्तेत्यस्य द्वितीये तृतीये द्वि-  
तीये चतुर्थे, तृतीये चतुर्थे, इति चयः प्रकाराः । मध्याद्य-  
त्यस्य प्रथमे द्वितीये तृतीये चतुर्थे, प्रथमे तृतीये चतुर्थे चतुर्थे  
चेति चयः प्रकाराः । सर्वेत्यस्य प्रथमे द्वितीये तृतीये चतुर्थे  
चतुर्थे, प्रकाराः । मिलिला एकादश प्रकाराः । एते  
चादिभागविषयाः मध्यादिभागविषयास्त्रं बोध्याः । सुकरा  
दुष्कराद्येति सुबोधा दुर्बोधाच्छेत्यपि बोधं तदेति कवीनां

बोद्धुणाम् क्लेशकरा इति केवल दर्शने न तु सम्भविनः एव  
अपीत्यर्थः ॥ ३ ॥ ३ ॥

मानेन मानेन सखि प्रणयोभूत्प्रिये जने ।  
खण्डिता कण्ठमास्त्रिष्य तमेव कुरु सत्रपम् ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमपादगतमव्यपेतमविमिश्रमादिभागयमकमुदा-  
हरति । मानेनेति । मामप्रयोगेणाप्यत्यक्तमानां नायिकां प्रति  
नायकभेदितानां मखीनामुक्तिरियं । हे सखि । प्रिये जने प्रण-  
यित्रनं प्रति अनेनैदृशीनामाकमपि क्लेशकरेणेत्यर्थः मानेने-  
र्थाकोपेन मह तव प्रणयः प्रेम माभृत् प्रियजनं प्रति ईदृशं मानं  
माकार्षीरित्यर्थः । ननु मान एव कृतापराधनायकस्य शासनं  
तं परित्यज्य किं करोमीत्याह खण्डितेति खण्डिता ‘पार्श्व-  
मेति प्रियो यस्या अन्यमभोगचिक्षितः । मा खण्डितेति कथि-  
ता धीरौरीर्थाकषायिता’ इत्युक्तच्छाणा, अत्रापिकारोबाधः  
खण्डितापि त्वं कण्ठमास्त्रिष्य स्वयं तस्य कण्ठमास्त्रिष्य तमेव  
सत्रपं सखज्ञं कुरु, कृतापराधमपि मामियमौदार्थात् स्वय-  
मास्त्रिष्टीति मत्वा सज्जितो भविष्यतीत्येतदेवास्य शासनमि-  
त्यर्थः । अत्र मानेनमानेनत्यव्यपेतमादिपादगतमादिभागय-  
मकम् ॥ ४ ॥

मेघनादेन चंसाना मदनोमदनोदिना ।  
नुज्ञमानं मनः स्वीणा सह रत्या विगाहते ॥ ५ ॥

तदेव द्वितीयपादगतमुदाहरति । मेघनादेनेति । हंसानां  
मदनोदिना गर्वमपनयता वर्षासु हंसानां निर्मदत्वादिति  
भावः । मेघस्य नादेन गर्ज्जितेन नुक्तः उद्दीपकलात् खण्डि-  
तोमानो यस्य तत्तथा तादृशं स्त्रीणां मनः कर्म मदनः  
कामो रत्या अनुरक्षित्वा खभार्यथा सह विगाहते वि-  
स्तोडयति, वर्षासु कामिनोनां मनो मानं विहाय सकामं  
सानुरागञ्च भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

**राजन्वत्यः प्रजा जाता भवन्तं प्राप्य सत्पतिम् ।**  
**चतुरं चतुरम्भोधिरसनोब्बेकरथ्वे ॥ ६ ॥**

तदेव द्वितीयपादगतमुदाहरति । राजन्वत्य इति । भवन्तं  
सत्पतिं सुपालकं प्राप्य प्रजाः राजन्वत्यः सुराजयुक्ता जाताः ।  
सुराजि देशं राजन्वान् स्यान्ततोऽन्यत्र राजवानित्यमरः, ‘राजा  
मतौ सौराज्ये’ इति नन्मोपाभावः । किम्भूतं चत्वारोऽम्भोधय  
एव रसना काञ्छी यस्यास्तादृशो उर्बी तस्याः करथ्वे ॥ ६ ॥  
याञ्चाभागयहणे अथ च पाणियहणे चतुरं निपुणम् ॥ ६ ॥

**अरण्यं कैश्चिदाक्रान्तं कैश्चित् सद्ग दिवौकसाम् ।**  
**पदानिरथनागाश्वरहितैरहितैस्त्वत् ॥ ७ ॥**

तदेव चतुर्थपादगतमुदाहरति । अरण्यमिति । कैश्चित्  
पसाय्य जीवङ्गस्त्रव अहितैः अत्रभिररण्यमाक्रान्तं प्रविष्टं,  
तथा कैश्चित् सम्मुख्युद्देशं स्तैरहितैर्दिवौकसां सद्ग खर्गं

आकान्तं किञ्चूतैः पदातिरथनागाश्वरहितैः पदात्यादिसे-  
नाङ्गशून्यैः । एवमव्यपेताविमिश्रयमकस्यादिभागविषयाश्च-  
त्वारो भेदा दर्शिताः, द्वितीयभागादिविषया अप्येवं प्रकारा  
बोधाः ॥ ७ ॥

मधुरं मधुरम्भोजवटने वट नेचयोः ।

विभ्रमं भमरभ्रान्त्या विडम्बयति किं नु ते ॥ ८ ॥

अथ सम्भेदयोनीनव्यपेतयमकभेदान् दर्शयन् प्रथमं ताव-  
दादिमध्यान्तेत्यनेन प्रतिपादितं भेदत्रयं क्रमेणादाहरति ।  
मधुरमिति । नु भाः प्रिये मधुरम्भन्ते तत्र अभोजमदृशं यद्व-  
दनं तत्र वर्त्तमानयोर्नेचयोः ‘मप्तम्भन्तमिदं’ भमरभ्रान्त्या भम-  
रमिशुनमिदमितिभमेण, अभोजे भमरमिशुनवर्त्तनस्य सम्भवा-  
द्युच्यत एव भान्तिः । किं मधुरं विभ्रमं विलासं विडम्बयति  
विशेषेण प्रेरयति अपेयतोत्थर्थः । उन्नव प्रेरणे इत्यस्य चौरा-  
दिकस्य रूपं । वट कथय, तत्र नेचयोरयं विभ्रमो भमरभ्रम-  
वता वम्भनेनैव किं जनितः भमरमिशुनश्च वम्भन्तोदयेन समु-  
त्पन्नेऽभोजे सविलासं वर्त्तत इति युज्यतेऽयं वितर्कः । अभो-  
जवटने इति सम्बोधनपदमिति कस्थित् । नु इत्यत्र नेतिपाठे  
किं न विडम्बयति अपि तु विडम्बयत्येवेत्थर्थः, अत्र मधुरं  
मधुरमिति वटमे वटने इति प्रथमद्वितीयपादविषयमादिभा-  
गदमकम् ॥ ८ ॥

वारणो वा रणोद्धामो इयो वा स्मर दुर्द्वरः ।  
न यतो नयतोऽन्तं नस्तद्वा विक्रमस्तव ॥ ९ ॥

प्रथमद्वतीयपादगतं तदेवादाहरति । वारण इति । हे  
 स्मर यतस्तव रणोद्धामो युद्धदुर्भादो वारणो वा इस्तो च नाम्नि  
 तथा दुर्द्वरोरणदुर्द्वर्षी इयो वा घोटकश्च नाम्नि ‘वादयमुभय-  
 प्राधान्यद्योतकं’ तथापि नोऽस्मान् विरहिणोऽन्तं नाशं स्तुत-  
 प्रायत्वं नयतः प्रापयतस्तव विक्रमस्तत्त्वादद्वा आश्वर्य इत्य-  
 न्वयः । दुर्द्वर इति विक्रमस्य विशेषणमिति केचित् ॥ ९ ॥

राजितैराजितैक्षणेन जीयते त्वादशैर्न्वपैः ।  
नीयते च पुनर्स्तुप्तिं वसुधा वसुधारया ॥ १० ॥

तदेव प्रथमचतुर्थपादगतमुदाहरति । राजितैरिति । आ-  
 जिर्युद्धं तद तैक्षणं तीक्ष्णता प्रचण्डलभित्यर्थः तेन राजितैः  
 गोभितैस्त्वादशैर्न्वपैर्वसुधा पृथिवी तत्स्थालिक इत्यर्थः जीयते  
 जयेन प्रथमं चोणीक्रियते, पुनर्जयानन्तरं वस्तुनां धनानां आ-  
 रया धारावृष्ट्या निरन्तरदानेनेत्यर्थः तप्तिं नीयते च । इत्य-  
 मादिमध्यान्तेत्यनेन प्रतिपादितास्तयोविभागा उदाहताः ॥  
 ॥ १० ॥

करोति सच्चकारस्य कन्तिकोत्कन्तिकोत्तरम् ।  
मन्मनोमन्मनोऽप्येप मत्तकोकिलनिस्वनः ॥ ११ ॥

अथ मध्यान्तेत्यनेन प्रतिपादितं तस्य प्रकारचयं क्रमेण  
 दर्शयन् प्रथमं द्वितीयद्वतीयपादगतमुदाहरति । करोतीति ।

सहकारस्यास्मूलं कस्तिका मन्त्रनः प्रियाविरहिणो मम मान-  
सम् उत्कलिकोच्चरमुक्तपण्डाप्रधानं करोति वसन्नागमसूचक-  
तयोद्दीपकलादिति भावः । न केवलमैकैवयं किञ्चु मन्त्रनः  
कर्षमूले गुप्तास्ताप इव, गौणप्रदेशोऽयम्, एष मन्त्रानां  
वसन्नप्रारम्भेणान्नदानां कोकिलानां निखनोऽपि, सोऽपि  
मम मानसमुक्तलिकोच्चरं करोति । मन्त्रनश्च ‘सुरते कर्ष-  
मूले तु निजदेशीयभाषया । दस्यत्योः कथनं यत्तु मन्त्रनं  
तं विद्बुधाः’ इतुकलक्षणः । मां मनुते उद्दिशति पचा-  
दिलादजिति केचित् । मनसि मनुते प्रबुद्धनोति मन्त्रनः  
कामः मन्त्रकोकिलनिखनशेष्यपरे । अत्र कलिकोत्कलि-  
कोच्चरमित्यत्र तकारस्य स्वरप्तून्यत्वात् तद्वधानेऽपि यम-  
कस्य नाव्यपेतत्वहानिः पद्योद्यवर्षमस्त्वापूरकतया स्वरयुक्त-  
स्यैव वर्षस्य व्यवधायकलाभुपगमात् एवमन्यत्रापि वाष्ठम् ॥

॥ ११ ॥

कथं त्वदुपलभाशाविहताविह्व तादृशी ।

अवस्था नालमारोहुमङ्गनामङ्गनागिनो ॥ १२ ॥

• तदेव द्वितीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । कथमिति । प्रो-  
षितं नायकं प्रति दूतों प्रेरयन्या नायिकाया वाचिकमिदं । इह  
वसन्ते त्वदुपलभाशायास्त्रव प्राप्तिप्रत्याशाया विहतौ विघाते  
सति तादृशो अनुभूयमाना अङ्गनागिनो अङ्गचयकरो लग-  
लहृष्टेत्यर्थः अवस्था कामदशाविशेषः अङ्गनां स्त्रियं मामा-

रोदुमाक्षितुं कथं नालं न समर्था अपि तु समर्थेव,  
पुरुषा हि कथच्चित् धैर्यमवलम्ब्य कामदशया नाभिभूयन्ते  
अङ्गनास्तु स्वभावतोऽधीराः सुतरामभिभूयन्त एवेत्यङ्गना  
पदस्य सार्थकं, तत्र विरहे अतिकृशा मरणोन्मुखी जातास्त्रोति  
ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १२ ॥

निश्चयं नेत्रे कर्षन्ति वालपञ्चवशोभिना ।

तरुणा तरुणान् कृष्टानन्तिनो नन्तिनोन्मुखाः ॥ १३ ॥

तदेव वृत्तीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । निश्चयंति । नन्ति-  
नोन्मुखाः पद्मेषु पतनोद्युक्ता अलिनोभ्रमराः बालैः को-  
मलैः पञ्चवैः शोभिना तरुणा वृक्षेण कर्त्ता कृष्टान् प्रथममाक-  
ष्टान् तरुणान् चूनो नेत्रे निश्चयं तरुणाभादर्शनोत्सुके चक्षुषो  
बस्तेन गर्वत्वा कर्षन्ति स्वशोभादर्शनपरान् कुर्वन्तोत्यर्थः । इत्यं  
मध्यान्तेत्यनेन प्रतिपादितं प्रकारचयमुदाहतम् ॥ १३ ॥

विशदा विशदामन्तसारमे सारमे जले ।

कुरुते कुरुतेनेयं हंसो मामन्तकामिष्यम् ॥ १४ ॥

अथ मध्यादेत्यनेन प्रतिपादितमेकप्रकारं दर्शयति । वि-  
शदेति । विशदः प्रविशन्त आमन्ताय सारमाः पञ्चविशेषा  
यत्र तादृशे सारम् सरः समन्विति जले वर्त्तमाना विशदा गुभा  
दयं हंसो राजहंसीत्यर्थः कुरुतेन कुर्मितकुर्जितेन कृत्वा उद्दी-  
पकलेन विरहिणामसद्वत्त्वाद्गुतस्य कुर्वितत्वं, माम् अन्तकस्य

यमस्य आमिषं भोग्यं कुरुते, मां मारयितुं चेष्टत इत्यर्थः ।  
आमिषं पुनरुंप्रकाम् । भोग्यवस्तुनि सधोगेऽप्युक्तोचे पल्लेऽपि  
चेति मेदिनो । अत्र मध्ययोर्द्वितीयवतीयपादयोराद्यपादे च  
यमकमित्येक एव प्रकारः ॥ १४ ॥

विषमं विषमन्वेति मदनं मदनन्दनः ।

सहेन्दुकलयोपाठमनया मनयानिलः ॥ १५ ॥

अथाद्यन्तेनेन प्रतिपादितं प्रकारत्रयं क्रमेण दर्शयन्  
प्रथमं प्रथमद्वितीयत्रुट्यपादगतमुदाहरति । विषममिति ।  
अपेठमलया परित्यक्तिमानोजनितमालिन्यया इन्दुकलया  
मह वर्तमानः तथा मदनन्दनः सम विरहिणोऽनन्दनोऽम-  
न्नोषकः मदं मदनस्य गर्वं नन्दयति वर्द्धयतीति स तथेति  
वा, तादृशो मलयानिलः विषममप्रतिविधेयं विषं गरसं तथा-  
विधगरलस्तपमित्यर्थः, मदनं काममन्वेति अनुगच्छति उद्दी-  
पयतीत्यर्थः । इन्दुकला मलयानिलश्च काममुद्दीपयतीत्यर्थः ।  
विषमं विषमन्वेतीत्यत्र यम्यमानपदयोरेकस्य मानुस्सारत्वेना-  
मन्नोषस्येत् विषमं विषमं क्षणातीति प्रथमपादः पठनीयः ।  
द्वितीयविषममित्यस्य विषेण मा उपमा यस्तेति व्युत्पत्त्या विष-  
मदृशमित्यर्थः, क्षणाति तीक्ष्णं करोति ॥ १५ ॥

मानिनो मानिनोषुक्ते निषङ्गत्वमनङ्ग । मे ।

हारिणो हारिणो शर्म्म तनुता तनुता यतः ॥ १६ ॥

प्रथमहतीयचतुर्थपादगतं तदेवोदाहरति । मानि-  
जीति । हे अनङ्ग मा मां ते तव निषङ्गत्वं निरन्तरश्चरनिकर-  
पतनेन दृणप्रायत्वं निनोपुः प्रापयितुमिष्टुः तथा हारिणो  
हारवती अतएव हारिणो मनोहारिणो हाराद्यलङ्कारेण  
मनोहररूपवत्त्वात् दिगुणतरं विरहदुखं वर्द्धयन्तोत्यर्थः इयं  
मानिनो तनुतां यतः दुस्त्वजं मानं दृष्ट्वा चिन्तया क्षीणतां  
प्राप्नुवतो मे मम शर्म मङ्गलं तनुतां करोतु मानत्यागेन यथेयं  
मे सुखजनिका स्यात् तथा भवदनुयहो भवत्वित्यर्थः । यत इति  
इण्गतावित्यस्य शब्दनस्य यष्ठीष्ठपम् ॥ १६ ॥

जयता त्वमुखेनास्मानकथं न कथं जितम् ।

कमलं कमलंकुर्वदनिमद्वनि मर्तिप्रये ॥ १७ ॥

तदेव द्वितीयहतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । जयतेति ।  
हे मतिये मम प्राणप्रतिमे अस्मान् जयता वगोकुर्वता लभ्य-  
खेन अकथं कथारहितं निर्विवादमित्यर्थः यथा तथा कमलं  
पद्मं कथं न जितम् अपि तु जितमेव, किञ्चुतं कं जलमलंकु-  
र्वत्, तथा अलिमनि भवत्विशिष्टानि यानि दलानि तान्यस्य  
सन्तोति अलिमद्वनि । एवमाद्यन्तव्यनेन प्रतिपादितास्त्वयः  
प्रकाराः उदाहृताः ॥ १७ ॥

रमणो रमणीया मे पाटलापाटलांशुका ।

वारुणोवारुणीभूतसौरभा सौरभास्यदम् ॥ १८ ॥

अथ सर्वत इत्यनेन प्रतिपादितं पादचतुष्यगतमव्यपेत-  
मादिभाग्यमकमुदाहरति । रमणोति । ईदृशी रमणी स्त्री मे  
मम रमणोया रतिस्थानं, कीदृशो पाटला पाटलास्यवृच्छुमुम  
हरीतक्यादिषु पाठात् स्वोलं । तदृप्तं पाटलं श्रेतरकवसं अंगुकं  
वस्त्रं यस्याः मा, अतएव अरुणीभृता मौरी सुर्यमन्तिनो भा-  
दीप्तिर्यच्च तादृशी वारुणीव पश्चिमदिग्वित्या भौरभस्य भौग-  
न्धस्यास्यदं स्थानम् । इत्यमादिमध्यान्तेत्यादिकारिकया प्रति-  
पादिता अव्यपेतादिभाग्यमकस्त्रैकादश प्रकारा उदाहिताः ॥

॥ १८ ॥

इति पादादियमकमव्यपेतं विकल्पितम् ।

व्यपेतस्यापि वर्णन्ते विकल्पास्तस्य केचन ॥ १९ ॥

इतीति । पादादियमकं पादस्यादिभागगतयमकं । वि-  
कल्पितं सप्रभेदं दर्शितं । विकल्पा भेदाः । तस्य यमकस्य ।  
केचन नतु मर्व ॥ २० ॥

मधुरेणादशा मानं मधुरेण सुगन्धिना ।

सहकोरोद्गमेनैव शब्दशेषं करिष्यति ॥ २० ॥

तत्र व्यपेतमादिभाग्यमकमेकस्थिन् पादे न सम्बवतीति  
प्रथमं प्रथमद्वितीयपादगतं तदुदाहरति । मधुरिति । मधु-  
र्वसन्तः एणदृशां हरिणाच्छीणां मानं प्रणयेष्टकोपं सह-  
कोरोद्गमेनैव, छदभिहितभावलादुद्गतसहकारमुकुस्तेनवेत्यर्थः

शब्दशेषं मानेतिमाममाचावश्चिं करिष्यति गत्यतोमानं  
रचिष्यतीत्यर्थः, किञ्चूतेन यतोमधुरेण मधुयुक्ते मधुविन्दून्  
चरतेर्यर्थः तथा सुगन्धिना, इत एवास्यादोपकलम् । तत्र  
मधुरेण मधुरेण तिवर्षसङ्कावत्तेर्वशां मानमितिवर्षचतुष्टय-  
व्यवहितवाङ्गापेतयमकलम् । एवमयेऽपि बोधम् ॥ १० ॥

करोत्तिमो रामाणां तन्त्रीताडनविभ्रमम् ।

करोति सेर्वं कान्ते च अवणोत्पलताडनम् ॥ ११ ॥

तदेव प्रथमहतीयपादगतमुदाहरति । कर इति । रा-  
माणां रमणीनामतितास्त्रातिलोहितः करः पाणिः तन्त्री-  
ताडनविभ्रमं वीणागततन्त्राम्फालनश्चपं शविलामं कर्म  
करोति, तथा कान्ते च कृतापराधे नायके च मेर्ये यथा तथा  
अवणोत्पलन यज्ञाडनं तदपि करोति ॥ ११ ॥

सकलापोऽसनया कलापिन्यानु नृत्यते ।

मेघानी नर्तिता वातैः सकलापोविमुच्चति ॥ १२ ॥

तदेव प्रथमचतुर्थपादगतमुदाहरति । सकलापोऽसन-  
येति । वातैर्नर्तिता सकला मेघानी अपोजलानि विमुच्चति  
वर्षति, अनु पश्चात् कलापस्य पिञ्चस्य यदुऽसनमुच्चमनं तेज  
सह वर्तमानया कलापिन्या मयूर्या नृत्यते । वर्षास्त्रभावो-  
यम् ॥ १२ ॥

स्वयमेव गलन्मानकनि कामिनि । ते मनः ।

कनिकामिहं नोपस्य दृष्टा कां न स्युगेहशाम् ॥ २३ ॥

तदेव द्वितीयहतीयपादगतमुदाहरति । स्वयमेवेति । हे  
कामिनि स्वयमेव नायकहतानुनयमन्तरेणैव गलन् मानहृपः  
कल्पः कलहः मानजनकः कलिर्बा यमात् तादृशं ते तव  
मनः कर्त्त अतिकोमललाद्यैर्यशूलमित्यर्थः, इह प्रावृट्प्रा-  
रम्भे उद्गतां नोपस्य कदम्बस्य कलिकां कोरकं दृष्टा कां दशां  
न स्युगेत् अपि तु सर्वा अपि कामदशाः प्राप्यतोत्यर्थः ॥ २३ ॥

आरुह्याक्रीडशैलस्य चन्द्रकालस्यलोमिमाम् ।

नृत्यत्येप लसच्चारुचन्द्रकालः शिखावलः ॥ २४ ॥

तदेव द्वितीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । आरुह्येति । आ-  
क्रीड उद्यानं तत्र यः शैलः क्रीडापर्वतस्य इमां, चन्द्रकालो-  
मणिविशेषस्य स्यलोमारुह्य एष शिखावलोमयूरः लम्बन्  
चन्द्रकाणां भेदकानामन्तः प्रान्तभागो यस्य तादृशः सन् नृ-  
त्यति ॥ २४ ॥

उद्धृत्य राजकादुर्ब्बी द्वियतेऽद्य भुजेन ते ।

वराच्छेणाहृता यासौ वराच्छेष्परि स्थिता ॥ २५ ॥

तदेव हतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । उद्धृत्येति । हे  
राजन् यासौ वराच्छेष्परि स्थिता विष्णुना उद्धृता

पातालादुच्चोलिता सती वराहे: श्रेष्ठनागस्थानम्भूषणपरि  
स्थिता सा उर्वर्णं अद्य तव भुजेन राजकाद्राजदुन्दादुहृत्य  
भ्रियते ॥ २५ ॥

करेण ते रणेष्वन्तकरेण दिष्टतां हताः ।

करेणवः चरद्रक्ता भान्ति सन्ध्याघना इव ॥ २६ ॥

तदेव प्रथमद्वितीयहतीयपादगतमुदाहरति । करेणेति ।  
हे राजन् रणेषु दिष्टतां रिपुलामन्तकरेण विनाशकारिणा  
ते तव करेण हस्तेन हताः करेणवागजाः चरद्रक्ता गलद्रुधि-  
राः सन्तः सन्ध्याघना इव सन्ध्याकालीना मेघा इव भान्ति ।  
'करेणुर्गजयोघायां स्त्रियां पुंसि मतङ्गजे' इति मेदिनी ॥ २६ ॥

परागतहराजीव वानैर्धस्ता भट्टैश्वमः ।

परागतमिव कापि परागततमस्वरम् ॥ २७ ॥

तदेव प्रथमद्वतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । परेति । वा-  
नैर्धस्ता धंसिता उत्पादितेत्यर्थः अगस्य पर्वतस्य तहराजीव  
द्वचश्रेणीव भट्टैर्वर्षनोयनृपमैन्यैः परा परकीया चमुः सना  
धस्ता विनाशिता, अन्तर्भृतस्यर्थलात् धंसतः सकर्षकत्वम् ।  
ततश्च परागैः धस्तावर्गादपलायमानपरचमुत्यापितधूलिभि-  
स्तते व्याप्तं सदस्वरमाकाशं कापि दीपान्तरे परागतमिव  
पलायितमिव धूलिभिरस्वरमस्तुचितमभृदित्यर्थः ॥ २७ ॥

पातु वो भगवान् विष्णुः सदा नवघनद्युतिः ।  
स दानवकुलध्वंसो सदानवरदन्तिहा ॥ २८ ॥

तदेव द्वितीयहत्तीयचतुर्थपादगतमुदाहरति । पातिति ।  
 नवघनस्येव द्युतिर्यस्य मः, तथा दानवकुलध्वंसी, तथा सदानः  
 समदो वरः श्रेष्ठो यो इन्ही कुवलयापीडाख्यागजस्तस्य हन्ता  
 स प्रमिद्धो भगवान् विष्णुर्वायुशान् सदा पातु ॥ २८ ॥

कमलेः समकेशन्ते कमलेर्थाकरं मुखम् ।  
कमलेख्यं करोषि त्वं कमलेवोन्नदिष्णुषु ॥ २९ ॥

सर्वपादगतं तदेवोदाहरति । कमिति । हे सुन्दरि ते  
 तत्र कं शिरः अलेभ्यमरस्य समाः सदृशाः अतिश्यामला इत्यर्थः  
 केशा यत्र तत्, तथा तत्र मुखं कमलेर्थाकरं पद्मानां देष्टहत्  
 कमलमहृशमित्यर्थः, अतएव त्वं कमलेव लक्ष्मीरिव कं जनं  
 उन्नादिष्णुषु उन्नादवस्तु मध्ये अलेख्यमगणनीयं करोषि अपि तु  
 सर्वानेव पुरुषानुकृतान् करोषीत्यर्थः ॥ २९ ॥

मुदा रमणमन्तीतमुदारमणिभूषणाः ।  
मदभ्यमदृशः कर्तुमदभ्यजघनाः क्षमाः ॥ ३० ॥

सम्प्रति अपेतस्यैव सजातीयविजातीयघटितानि प्रकारान्त-  
 राणि दर्धयन् प्रथमं प्रथमदितीययोरेकविधं हत्तीयचतुर्थयो-

स्वन्विधमुदाहरति । मुदेति । उदाराति महाति अशामूच्या-  
भीत्यर्थः सजिभृषवानि सजिमवाक्षरवानि वासां ताः, तथा  
मदेव मधोपदोगेन ऐभाग्यदोवनाद्यवस्त्रेपञ्चिकारविशेष  
वा अमन्दो अूर्जन्दो वृक्षसूषि वासां ताः, तथा अदभृषवानः  
पृथुवानाः स्त्रियः मुदा इर्षव रमणं काममन्त्रोत्तमनुगतं  
कर्तुं मुदा अन्वीतं इर्षयुक्तं कर्तुमिति वा लमाः समर्थाः ।  
अन्वीतमिति ईमतावित्यस्य रूपम् । अवादभृषवाना इत्यत्र  
अदभृषवाना इत्यवपाठः सम्यक् पूर्वपादवचे वर्षवतुष्टुयस्त्रेव  
यस्यमानवादिति छेष्यम् ॥ ३० ॥

उदितैरन्यपुष्टान् मारुतैर्महते रथं मनः ।

उदितैरपि ते दूनिः मारुतैरपि दक्षिणैः ॥ ३१ ॥

तदेव प्रथमवतीययोर्द्दितीयचतुर्थयाद्यादाहरति । उदि-  
तैरिति । आः इति खंदं, अन्यपुष्टानां कोकिलानामुदितै-  
रुद्गतैः ‘उत्पूर्वादिष्ण गतावित्यमात् कर्त्तरिकः । रुतैः पश्चेम  
मनो हतं हिमितं व्यथितमित्यर्थः । न केवलं तैरक्षेत्रव किञ्चु  
हे दृति ते तत्र उदितैर्वचनैरपि । वदत्तर्भावे कः । प्रियाक्रंशनि-  
वेदकैर्वचनैरपि हतं तथा दक्षिणैर्दक्षिणादिग्मर्माद्दत्तर्यायु-  
भिरपि’ ॥ ३१ ॥

सुराजितक्रियोयूना तनुमध्यासते स्त्रियः ।

तनुमध्याः चरत्खेदसुराजितमुखेन्द्रवः ॥ ३२ ॥

तदेव प्रथमचतुर्थयोदितीयदतीययोद्यादाहरति । सुरे-  
ति । तनु शीणं मध्यं यासां ताः, तथा चरण् सत्त्वोदयाङ्गस्त्वं  
यः स्तेदो अर्पजलं तेज सुराजिताः सुज्ञाभिताः मुखानि  
इन्द्रवस्त्रा इव ते यासां ताः स्त्रियः सुरया मद्येन जिता-  
परास्ता छोर्लज्जा यासां ताङ्ग्यः सत्यः यूनां तनुं देहं  
आत्माश्रयणादेकवचम्, अध्यासते अधिश्वेते ‘यत्तार्थाऽधि-  
ष्टादेरित्याधारम् कर्मचम् ॥ ३२ ॥

इति व्यपेतयमकप्रभेदोऽप्येष दर्जितः ।  
अव्यपेतव्यपेतात्मा विकल्पोऽप्यस्ति तद्यथा ॥ ३३ ॥

इत्यमव्यपेतं व्यपेतश्च यमकं दर्जितं सम्प्रति तयोरेकत्र  
संमिश्रणं भेदान्तराणि दर्शयन्नाह । इतीति । अपिना पूर्व-  
दर्जिताव्यपेतयमकसमुच्चयः । अव्यपेतव्यपेतात्मा अव्यपेतव्यपेत-  
संमिश्रणात्मकः, विकल्पो यमकस्य भेदः । तद्यथेति, अव्यपेत-  
व्यपेतात्मकं यमकं यथेत्यर्थः, यदा तदित्यव्ययं स विकल्पो  
यथेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

सान्नं सान्नंवक्रनिकासान्नं सान्नं न वीक्षितुम् ।  
नानीनानोनवकुनानानो नानोकिनोरपि ॥ ३४ ॥

तत्र प्रथमदितीययोद्युतीयचतुर्थयोद्यादाहरति । सास्त्र-  
मिति । प्रोषितं नायकं प्रति दूद्या नायिकावस्थावर्णमिति ।  
सा आसी मम सखो सास्त्राः सम्भागतेज सहवर्त्तमाना

या: कलिकाः कोरकासाः वक्ति गच्छतीति शास्त्रकलिका-  
शासः । कर्त्तव्यो चिति चद । तं शासं हृषमाचं वर्जन्तुचं वा,  
‘शासः पादपमाचेऽपि प्राकारे सर्वपादपे’ इति मेदिनी ।  
वीचितुम् उद्दीपकलाह्रष्टुं नासं न समर्था । शास्त्रकलिकाः  
शासाः आवरणकारित्वात् प्राकारा इव अचेत्यन्ये । तथा  
चालोद्यन्तेऽत्रेति आलीनाः ‘अधिकरणे तः’ ताहृशा वकुसा  
वकुस्तुचायैसादृशानस्तोम् भ्रमरामपि वीचितुं नासं । तथा  
अखोकं मियावचनं तद्विद्यते यासां तास्तथा ताहृशीरसो-  
किनोः इटिति तव प्रिय आगमिष्ठोतिमिष्ठावादिनोः सखो-  
रपि वीचितुं नासं, यदा अखोकिनोः पद्मिनोः । ‘अखोकिनो  
पुटकिनो विसिनो पद्मिनो तर्थेति व्याडिः । अत्र प्रथमपादे  
शासं शास्त्रमित्यव्यपेतं तस्यैव द्वितीयपादे अवधानेन पुनरा-  
द्धित्तिरिति व्यपेतस्य, एवमुच्चराद्दें नालीनालीत्यचापि अत्र  
वर्षदयस्थापि संहतिलमस्येवेति न यमकलाभावशदा ॥ ३४ ॥

कालं कालमनालद्यतारतारकमोनितुम् ।

तारतारम्यरसितं कालं कालमद्याघनम् ॥ ३५ ॥

तदेव प्रथमचतुर्थं योर्द्वितीयहतीययोस्त्रोदाहरति । का-  
लमिति । का प्रियविरहिणी भारी रैदृशं कालं प्रादृष्टमय-  
मोनितुमसं समर्था अपि तु न कापि, कालपदस्य तदुत्पत्तो-  
होपकवस्तुपरम् । किञ्चूतम् अनास्त्वाः सम्यग्हृष्टास्त्रारा  
उज्ज्वलास्त्रारका नक्षत्राणि यत्र तं, तथा तारतया अत्युच्चलेन

अवस्थुः खदं रसितं मेषान्ना गच्छितं वच तं, तथा  
कालाः कृष्णवर्षा महाको घना मेषा वच तम्, अतएव कालं  
विरहिणां साक्षाद्यमिव । अत्र कालं कालेत्यच एकस्य सामु-  
खारत्वे अपरस्य तदभावे यद्यसमोषसादा कालं कालं दुरा-  
लक्ष्येति प्रथमपादः, कालं कालंकृतं घनैरिति चतुर्थपादस्य  
पठनीयः, घनैः कालंकृतं कुसितालङ्घारवन्मित्यर्थः ॥ ३५ ॥

याम यामचयाधीनायामया मरणं निशा ।

यामयाम धियाऽस्वर्त्याया मया मथिनैव सा ॥ ३६ ॥

तदेव पादचतुष्टयगतमुदाहरति । यामेति । निशायामु-  
हीस्तमदनस्य स्वावस्थयानुमितनायिकावस्थस्य कस्यचिद्दिरहि-  
णोविस्तापवर्णनमिदम् । यामचयस्य प्रहरचयस्याधीनः प्रहर-  
चयकृत आयामोदैर्घ्यं यस्याः सा तथा तया निशा रात्र्या हेतुना  
वयं मरणं याम गच्छाम, निशायास्त्रियामात्मकत्वं यथा  
'चियामां रजनों प्राङ्गस्त्वङ्काशनचतुष्टयम्' इति स्मृतिः । भव-  
त्वस्माकं मरणं न तच विशेषेण हानिः किम्नु धिया मनसा वयं  
र्थां कालामयाम अगच्छाम खस्त्रिम् यस्याः प्रणयमवर्द्धयामे-  
त्यर्थः, सङ्गपरमौपदोऽनभपुरुषबङ्गवचनं । सा अस्वर्त्याया मां  
विना अस्त्रिं प्राणपीडामायाति प्राप्नोतीति आयातेः किप्,  
ईदृशो सा मया मथिनैव मयैव विदेशागतेन सा विनाशिता  
मयि प्रणयं कृत्वा सा तपस्त्रिमि जियते इष्यमेव मे महतो  
हानिरिति भावः ॥ ३६ ॥

इतिपादादियमकविकल्पस्येद्ग्री गतिः ।

एवमेव विकल्पानि यमकानोनराण्यपि ॥ ३७ ॥

आदिभागयमकमुपमहरति । इतीति । गतिर्दिक् । इत-  
राणि मध्यात्मभागगतानि अच्युपेतव्यर्थतत्त्वमित्रष्टुपाणि एवमेव  
पूर्वोक्तप्रकारे लौब एकदिविचतु प्यादं प्रादिआदिमध्यानोन्यादि  
कारिकोक्तप्रकारे लौबेत्यर्थः, विकल्पानि विकल्प ज्ञातव्यानि  
कानिचिदेव मया दर्शयिष्यन्ते सकलानि तु पूर्वप्रदर्शितादि-  
भागयमकरीत्या स्थायं ज्ञातव्यानोत्यर्थः ॥ ३७ ॥

न प्रपञ्चभयाङ्गेदाः कार्त्स्नानाख्यातुमोहिताः ।

दुष्कराभिमता येतु वर्णन्ते तेऽन्त्र केचन ॥ ३८ ॥

ननु भवतैव कथं माकच्छेन न इर्जितास्त्रवाह । नेति ।  
प्रपञ्चभयात् यन्यवाङ्गल्पात्तश्चाहवैमुख्यभयेन, ईर्जिताः इष्टाः ।  
दुष्कराभिमताः दुष्करत्वेनान्येषां निश्चिताः, वर्णन्ते च च-  
द्वियन्ते, वक्ष्यन्ते इति क्वचित्पाठः । तेऽन्त्रेत्यन्त्र तत्त्वं तत्त्वं तत्त्वाः  
तत्त्वं तेषु मध्ये ॥ ३८ ॥

स्थिरायते यतेन्द्रियो न हीयते यतेर्भवान् ।

अमायतेयतेऽप्यभूत् सुखाय तेऽयते क्षयम् ॥ ३९ ॥

तत्त्वाच्युपेतं सर्वपादयतं मध्ययमकमुदाहरति । स्थिरायत  
इति । स्थिरा अविनश्वरा आयतिहस्तरकाखो अस्ति स तथा

तस्मोधनम् ‘उभरः काल आयतिरित्यमरः । वे स्थिरायते  
भवान् यतेः संयमात् समाधेरित्यर्थः, न हीयते न च्युतो भवति  
कर्षकर्त्तर रूपम्’ यतो यतेन्द्रियः इन्द्रियसंयमवान् इन्द्रिया-  
णामसंयमे हि समाधेः स्थिरत्वं न भवति तदुक्तं ‘बलवानिन्द्रि-  
यग्रामो विदांसमषि कर्षति’ इति । तथा ते तत्र अमायतापि  
मायारहितत्वमपि इयते एतत्परिमाणात् अतिप्रभृतायेत्यर्थः  
तथा चयं नाश्वम् अयते न गच्छते निष्ठायेत्यर्थः सुखाय परा-  
नन्दायाभृत् । अत्र यतेयते इति पादमध्यखण्डस्वाटुति ॥

॥ ४८ ॥

सभासु राजन्नसु गहनैर्मुखे-  
र्महीनुराणां वनुराजिते लुताः ।  
न भासुरा यान्ति सुरान्न ते गुणाः  
प्रजासु रागात्मसु राशितां गताः ॥ ४० ॥

तदेव प्रतिपादं केवलव्यपेतमुदाहरति । सभासिति । वे  
राजन् ते तत्र गुणाः सुरान् देवान् न यान्ति सुराणां मुणे-  
भ्याऽप्युत्तमा इत्यर्थः, सुरान् यान्ति अपि तु यान्त्येवति केचित् ।  
किमूताः महीसुराणां ब्राह्मणानाम् असुराहतैः सुरापानेन  
इतप्रायभिक्षैः अतिपवित्रैरित्यर्थः तथा वसुना तेजसा राजितैः  
शोभितैः धनदानेन प्रफुल्लैरिति वा ‘देवभेदऽन्तरम्भो वसुरङ्गे  
धने वस्त्रित्यमरः’ ईरुष्मैर्मुखैः सभासु रुताः प्रशंसिताः, तथा  
भासुरा उच्चदस्ताः, तथा रागस्त्रौ प्रत्यक्षुराम आत्मसु मनः सु

थामां तासुथा ताहृषीषु प्रजासु राजिता प्रभृतस्ता गताः  
प्रजाभिर्बहुतया अहोता इत्यर्थः ॥ ४० ॥

तव प्रियाऽसच्चरितः प्रमन्त् या  
विभृषणं धार्यमित्वाऽग्नुमन्तया ।  
रतोत्सवानन्दविशेषमन्तया  
प्रयोजनं नास्ति हि काञ्जिमन्तया ॥ ४१ ॥

अथ व्यपेतं पादचतुष्टयगतमन्तयमकमुदाहरति । तवेति ।  
किमिति विभृषणमियं न परिदधातीति पृच्छन्तं अठनायकं  
प्रति सख्या उक्तिरियं । हे अमच्चरित हे प्रमन्त या तव प्रिया  
प्रेयमी स्तोकसन्धिधाने लया प्रेमास्पदत्वेनोऽन्यमानेत्यर्थः, सच्च-  
रिताप्रमन्तेति पाठे सच्चरितेति अप्रमन्तेति च सासुण्डन-  
समुद्दिपदद्ययं । तया इह प्रस्तावे रत्नपो य उत्सवसञ्जन्यो य  
आनन्दविशेषस्तेन मन्तया सत्या अग्नुमदीप्तिमद् विभृषणं धार्यं,  
सम्प्रति तु त्वयि नायिकान्तरामकेऽस्या रतोत्सवानन्दविशेषं ना-  
स्त्वेव तत्किमिति विभृषणं धार्यमित्युच्चरत्वस्तमच प्रतीयमानं  
बोध्यं, ननु शोभार्थमपि किमिति न धार्यते तत्राह प्रयोज-  
नमिति हि अतः काञ्जिमन्तयाने सर्वकिविस्तुष्टमैन्दर्यवस्त्वेन  
विभृषणैः प्रयोजनं कार्यं नास्ति, काञ्जिरेवास्याः शोभासम्या-  
दिका न पुनर्विभृषणमित्यर्थः । आनन्देत्यच आमोदेति क्षचि-  
त्याठः । प्रयोजनं नास्ति शीत्यच न मे फलं किञ्चनेति पाठस्तु  
न मनोरमः ॥ ४१ ॥

भवादृशा नाथ ! न जानते नते  
रसं विरहे खलु सन्नतेनते ।  
य एव दीनाः शिरसा नतेन ते  
चरन्त्यलं दैन्यरसेन तेन ते ॥ ४२ ॥

अथपेतं तदेवोदाहरति । भवादृशा इति । हे नाथ  
राजन् भवादृशा नृपजनाः नतेनमनस्य रसमाखादं न जानते,  
कुत इत्याह खलु यतः सन्तं सम्यक् नमनम् इन्ता प्रभुता च  
ते सन्तेनते विरहे सामानाधिकरण्यशून्ये, तर्हि के जानत  
इत्यचाह ये जना दीना एव केवलं दरिद्राः ते तेन प्रसिद्धेन  
दैन्यरसेन दारिद्र्यरूपेण विषेण दैन्यस्य रसेनाखादेन वा  
हेतुना नतेन शिरसा ते तव अलमर्याद्यं चरन्ति लामुपचर-  
क्षीयार्थः । ते तु भयं नतेन शिरसेति केचित् । ‘रसो गन्धर्से  
जसे । गृह्णारादौ विषे वीर्ये तिक्कादौ इवरागयोः । देह-  
धातुप्रभेदे च पारदाख्यादयोः पुमान्’ इति मेदिनो ॥ ४२ ॥

सीलास्तिनेन शुचिना मृदुनोदितेन  
व्यालोकितेन लघुना गुरुणा गतेन ।  
व्याजृस्तिनेन जघनेन च दशितेन  
सा हन्ति तेन गतिं मम जीवितेन ॥ ४३ ॥

एकच व्यपेतसर्वपाद गतमधाक्षयमकद्यमुदाहरति । स्तो-  
क्षेति । सा नायिका शुचिना शुद्धेन सीलास्तिनेन विला-

सेषद्वृसमेन मां इति व्यथयति, एवं स्तुता मधुरेण उदितेन वचसा, तथा स्तुता हृषेण व्याख्याकितेन वीक्षितेन, 'चिक्षिष्टेऽन्ये स्तुतिरत्यमरः ।' तथा गुहणा स्त्राजघमगौरवान्मात्रेण गतेन गमनेन, तथा व्याजृभितेन जृमया, जृमा हि स्त्रीणामनुरागं व्यञ्जयति, यदुकं 'जृमते स्फोटयत्यन्न बालमास्त्रियं चुम्हति' इति । तथा दर्शितेन कथस्त्रित् प्रकाशितेन जघनेन च । सर्वत्र करणे वृत्तीया । तेन तत्त्वकरणकहनेन हेतुता मम जीवितेन गस्तिं गतसिव । भावेनः । अत्र पादानां मध्येष्वन्तेषु च तेनत्यस्य पुनःपुनरावृत्तिः ॥ ४३ ॥

श्रीमान्मानमरवर्द्धसमानमान-  
मात्मानमानतजगतप्रथमानमानम् ।  
भूमानमानमत यः स्थितिमानमान  
नामानमानमतमप्निमानमानम् ॥ ४४ ॥

तदेवाव्यपेतमुदाहरति । श्रीमानिति । हे जनाः यृग्मा-  
त्मानं ब्रह्म आनमत नमस्तुत, किञ्चूतम् अमरवर्द्ध आकाशं  
तेन समानं मानं परिमाणं यस्य स तथा तम् आकाशवदप-  
रिच्छिन्नमित्यर्थः, तथा आनते उपामनार्थं नम्ने जगति  
प्रथमानो विक्षारं गतो मानः पूजा यस्य स तथा तं, तथा  
भूमानं महान्म, यदा भुवा भूरुपेण कार्येण मीयतेऽनुमीयते  
यस्म, अथवा भूराश्चोऽधिष्ठानमित्यर्थः, तत्वेन मीयते  
ज्ञायत इति तम् भ्रमविषयस्य प्रपञ्चस्थाधिष्ठानमित्यर्थः ।

एव चामरवर्त्मसमानमानमित्यनेनैकार्थत्वाभावः । तथा अमानात्यपरिमितानि नामानि यस्य स तथा तं प्रकृतिसम्बन्धके लब्धभिर्नामभिः स्वातिं गतमित्यर्थः, तथा आईषत् अनन्ति श्वमन्तीत्यानाः प्राणसंयमवलो योगिनस्त्वैर्मतं योगधारणया ज्ञातम्, तथा प्रतिभीयते एभिरिति प्रतिमानानि प्रमाणानि तैर्मानं ज्ञानं यस्य स तथा तद्विक्रमं प्रमाणैरवेद्यमित्यर्थः, यदा अप्रतिमानमनुपसं मानं ज्ञानं यस्य स तथा तं प्रत्यक्षादिलैऽकिकप्रमाणताटस्थेन केवलं मनःसंयमेन ज्ञायमानमित्यर्थः । नन्दवस्मूत आत्मा गगनकुमुमादिवद्वलोक एवास्तां चार्याकादिभिरनङ्गोक्तत्वात्तत्वाह य आत्मा स्थितिमान् स्थिरतरः जगदुत्पत्तिविनाशकारितयावश्याभ्युपेयत्वान्वित्यः स्थिरतरत्वेन योगिनामनुभवविषयतयानपलपनीय इति वा, तथा श्रीमान् स्वयं प्रकाशमानः, तथा अमान् विभुत्वात् क्वचिदपि न माति । यमकानुरोधाद्वृत्तितयोजना सोढया । अत्राहुदयान्ते इत्यन्तमकारं याः पद्मपूरकलाभावेनागण्यत्वात्मानमानेत्यत्र नान्त्यमकलहानिः । पादानां सर्ष्ट्यवलोपु च मानयुग्मानामव्यवधानेनावर्त्तनात् पादचतुष्यगतमव्यपेतमध्यान्तयमकमिदं । ननु मध्यपदं यमनव्याग्यप्रथमखण्डतादृशान्तखण्डयोरन्तरालवाच्च, यमनव्याग्यता चैकवर्णस्य न ममवति वर्णसंहतेरित्युक्तेः तत् कथमेकवर्णात् परं मध्ययमकप्रदर्शयमिति चेन्द्रेवम् आद्यन्तवर्णयोरन्तरालस्येव मध्यपदेनोक्ततात्, अपरितोषस्त्रिदिदभिपि नमाननमानेति व्यपेतमध्यान्तयमकोदाहरणं बोध्यं पूर्वपदे

वर्णदद्यस्त उमनमच तु वर्णचयस्तेत्युदाहरणामरदर्शनायाः फ-  
लम्, अब्दपेतमध्यान्तयमकोदाहरणन्तु स्थमूहनीयम् ॥ ४४ ॥

सारयन्मुरमा रमयन्ती

सारभृतमुरमारधरा तम् ।

सारमानुष्टुतसारमकाञ्ची

सारमायनमसारमवैति ॥ ४५ ॥

पादचतुष्यगतं वर्णतमादिमध्यमकमुदाचरति । सार-  
यन्मिति । मा काचित् स्त्री रमायनमश्वतमपि असारं तुच्छ-  
मदैति अवगच्छति प्रियालिङ्गनमुखादस्तपानमुखमपहुय-  
मिति जानातोव्यर्थः, किमृता सारयन्ती स्वकुञ्जमभिसारयन्ती  
तथा सारभृतम् अद्यमेव जगतोकः सार इत्यभिसन्नामानं तं  
कान्तम् उत्सा वज्ञसा रमयन्ती वज्ञसा आर्लिङ्गु रमयन्ती-  
त्वर्थः, उत्सा सारयन्तमायिष्यन्तं तं रमयन्ती प्रत्यालिङ्ग-  
नेन सुखयन्ती ‘सु आस्तरणं’ इत्यस्य सारादिकस्य रूपपि ।  
वा । तथा उहमारालिं सुवर्णालङ्घारान् धरतीकुरुमार-  
धरा । उहमारं सुवर्णं स्वादिति व्याडिः । तथा सारमेः  
पचिविशेषेरनुकृता सारमा सगद्वा काञ्ची यस्माः मा ॥ ४५ ॥

नयानयालोचनयाजनयाजनया

नयानयाम्बान् विनयानयायते ॥

न यानयासोर्जिनयानयानया

नयानयास्तान् जनयानयाश्रितान् ॥ ४६ ॥

इदानोमेकत्र प्रथमहृतीष्वपादयोरत्यपेतमाश्चन्त्यमकं दि-  
तीयचतुर्थयोस्तु ताहृश्मादिमध्यमकस्त्रादाहरति । नयेति ।  
अत्र पदच्छेदः । नयानयालोकनया, अनया, अनयान्, अया-  
नयास्यान्, विनय, अनयायते, न, यान्, अयामीः, जिनया-  
नयान्, अयानयान्, अयान्, तान्, जनय, अनयाश्रितान्, इति ।  
न अयति गच्छतीति अनया अनपाया आयतिसूत्रकालो  
अस्य स तथा तत्स्योधनं । हे अनयायते स्थिरायते राजन्  
अनया ईदृश्या प्रत्यवर्त्तयमानयेत्यर्थः, नयोनीतिः अनयो-  
नीतिः तयारालोकनया अयं नयः श्रेयस्करः अयमनयो  
हानिकर इति विवेचनया अनयान् नीतिर्गहितान् अतएव  
अयस्य गुभावहविधिरानये आनयन् अस्यान् आत्मनः गुभ-  
मपश्यत इत्यर्थः, ईदृशान् जनान् विनय शिक्षय यथा ते नोति-  
मार्गानुसारिणो भवेयुस्तथा तानुपदिशेत्यर्थः । इति प्रथमार्द्द-  
सार्थः । किञ्च ते यान् जनान् न अयामीः गतवानभि यैः  
सह मङ्गं न लतवानमोत्यर्थः, किमृतान् यतो जिनयानयान्  
यात्यनेनेति यानं मार्गः जिनस्य बौद्धुस्त यानं जिनयानं  
दिगम्बरप्रस्यानमित्यर्थः, तद्यान्ति गच्छन्तीति ते तथा तान्  
दिगम्बरमतप्रविष्टानित्यर्थः, अतएव अयानयान् अगुभमव-  
स्तम्बमान् तान् जनान् अयान् अं विशुं यान्तोति अया-  
स्यादृशान् जनय कुरु जेनान् जनान् वैष्णवान् कुर्वित्यर्थः ।  
मर्वत्र आदन्तादमादेरप्रादेरित्यङ्, इत्युक्तराद्वार्थः ॥ ४६ ॥

रवेण भौमो ध्वजवर्त्तिवीरवे-  
रवेजि संयत्यतुलास्त्रौरवे ।  
रवेरिवोद्यस्य पुरोहरेरवे  
रवेत तुन्यं रिपुमस्य भैरवे ॥ ४५ ॥

अथ व्यपेतं पादचतुष्टयगतमाद्यन्तमकमुदाहरति । रवेजेति । श्रीकृष्णस्य नरकासुरेण मह युद्धवर्त्तनमिदं । भूमेरपत्यं भौमो नरकामुराः, ध्वजवर्त्तिः श्रीकृष्णस्य रथध्वजे वर्त्तमानस्य वीरस्य वीर्यवतो वे: पक्षिणो गरुडस्य रवेण शब्दन कर्त्ता संयति युद्धे अवेजि उद्देजितः, किमूर्ते संयतिः अतुल-मनुपमम् अस्त्वाणां गौरवं गुरुत्वं बाहुन्यं वा यत्र तस्मिन् स्त्रियां संयदित्यमरे संयच्छब्दस्य स्त्रीलोकावपि बहुपु पुंस्त्रमपि दृश्यते इत्यत्र पुंस्त्रं । तथा भैरवे भयहरे । यदाहनस्त्रदृशी चोग्यता तस्यायमकिञ्चित्कर इत्याह । रवेः सूर्यस्वेव उद्यस्य तिजस्मिनोऽस्य हरेः श्रीकृष्णस्य अथव तिजस्य पुरोऽये रितं नरकम् अवर्भैषस्य तुन्यमवेत यृद्यं जानोत, यथा तिजस्य अभैः तथा श्रीकृष्णस्याय नरक इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

मयामयालम्ब्यकलामयामया-  
मयामयानंव्यविरामयामया ।  
मयामयार्त्तिः निशयामयामया-  
मयामयामृं करुणामयामया ॥ ४६ ॥

तदेवाव्यपेतमुदाहरति । मर्यति । सखायं प्रति कम्बुचि-दिरहिणो वचनमिदम् । अत्र पदच्छेदः । तत्र प्रथमपादे

मयामयास्त्रव्यक्षामयामयाम्, इत्येकमेव पदम् । अयाम्, अयातव्यविरामयामया, इति द्वितीयपादे । मया, अमयार्ज्जिं, निशया, अमया, अमया, इति द्वितीयपादे । अमय, आमय, अम्, कहणामय, आमया, इति चतुर्थपादे । तदयमन्ययः । हे अमय ! मिनोति चिपतीति मयः ‘डुस्त्र् चेपणे इत्यस्य कर्त्तरि डः, तद्विवेऽमयः तत्स्वोधनं सर्वास्त्रव्यवस्थासु मामनुवर्त्तमानेत्यर्थः, तथा हे कहणामयः दयामय । मखे ! मया मह अम् नायिकाम् आमय मंगमय ‘अम्गतावित्यस्य णिङ्डलत्यस्य रूपम् । मया किमृतेन आमोरोगः ‘अमरोगे इत्यस्य चौरादिकस्य रूपम्, आमं कामपीडां याति प्राप्तेतोति आमयाः तेन आमया ‘धातिराशुक् शमाद्यचौत्याकारलोपः । मया मह तस्याः मङ्गमय न दुर्घट इति सुचयन् नायिकां विशिनश्चि मथो गमनं कलात्मय इत्यर्थः । मय्गतावित्यस्य रूपं, तद्विपरीतेऽमयः कलापचयश्च इत्यर्थः, ताभ्यामालस्य आश्रयणीयः कलापचयापचयपर्वतित्यर्थः, तादृशो यः कलामयः कलावांश्चन्द्रस्तस्मादामयो रोगः कामपीडां यस्याः सा तथा तां, मापि मामप्राप्य उदीपकेन चन्द्रेण पीडिता अतस्त्रव स्त्रुतैव यत्नेन तस्याः मङ्गमो भविष्यतीति भावः । तस्याः प्राप्तौ कथमेवं व्याकुस्त्रोभवसोत्यचाह, चतोऽहं निशया रात्रा हेतुनां मयो गमनं प्राप्तिरित्यर्थः तस्याभावेऽमयं तस्या अप्राप्तिरित्यर्थः तज्जन्यामर्ज्जिं पीडां अयाम् अगच्छ, निशया किमृतया अयातव्योऽप्राप्तव्यो विरामोऽवसानं येषां

ताहृशा यामाः प्रहरा यस्याः सा तथा तया दीर्घयामयेत्यर्थः,  
अतएव अमया नास्ति सा परिमाणं यस्याः सा तथा तया  
अतिदीर्घयेत्यर्थः, अतएव अमया नास्ति सा शोभा यस्याः सा  
तथा तया कुर्वितयेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

मतास्युनानारमतामकामता  
मतापलव्याधिमतानुलोमता ।  
मतावयत्कृत्तमता विलोमता-  
मतास्यतस्तु समता न वामता ॥ ४९ ॥

अथ व्यपेतमादिमध्यान्तयमकं पादचतुष्यगतमुदाहरति ।  
मतामिति । कञ्चिन्नाहाश्वयं प्रति कस्यचित् मत्युक्तिरियम् ।  
पदच्छेदो यथा । मतां, धुनाना, आरमताम्, अकामता, इति  
प्रथमे । अतापलव्या, अधिमतानुलोमता, इति द्वितीये । मतौ,  
अथतौ, उत्तमताविलोमताम्, इति तृतीये । अतास्यतः, ३,  
ममता, न, वामता, इति चतुर्थे । अतास्यतः कथमपि ५, म-  
गच्छतस्ते तत्र मतौ बुद्धो ममता मित्रामित्रादिपि तु च वृत्तिः  
तैव विद्यते, न वामता प्रतिकृतता तु न विद्यते, किञ्चूता ममता  
आरमतामात्मागमाणां योगिनां मतां समताम् अकामतां  
निरभिलाषतामपि धुनाना आचिपलो तथाऽप्युक्तिरित्यर्थः,  
तथा अतापलव्याकेशं लभ्या, तथा अधिमतायाः अष्टताथा  
अनुलोमता आनुकूल्यं यया सा शेषत्वसम्यादिकेत्यर्थः, तथा  
उत्तमताया गुणिताया विलोमतां प्रातिकूल्यम् अथतौ

अगच्छन्ति । अत्र पादानामादौ मध्येऽन्ते च व्यवधानेन सतेति  
वर्षद्वयस्थाहन्तिः ॥ ४८ ॥

कालकालगलकालकालमुखकालकाल

कालकालघनकालकालपनकाल काल । ।

कालकालसितकालका ललनिकालकाल

कालकालगतु कालकाल कल्लिकालकाल ॥ ५१ ॥

तदेवाव्यप्तमुदाहरति । कालंति । श्रीकृष्णं प्रति श्रीरा-  
धायाः महचर्या उक्तिरियं । हे काल कृष्ण ‘अयं द्वितीयपा-  
दालकालपदस्यार्थः, ललनिका अनुकम्पनीया ललना ‘अनु-  
कम्पायां कप्रत्ययः, श्रीराधेत्यर्थः, आलगतु लयि संसक्ता  
भवतित्यन्वयः । तत्र कृष्णस्य विशेषणानि ममुद्गुविभक्त्यन्त-  
पदानि । हे कालकालगलकालकालमुखकालकाल । कालः  
मर्वेषां स्त्रयकारकः ‘कलनात् मर्वभतानां म कालः परि-  
कोर्जित इति स्तुतः । तादृशायः कालगलो नीलकण्ठः शिवः,  
काल्या अयं पतिः कालो यः कालगलः शिव इति केचित्,  
तथा कालायमः, तथा कालमुख्यावानरविशेषश्च तेषां इत्थः,  
एषां कालकं कृष्णत्वमालाति गृह्णातोति म तथा तस्मभाधनम् ।  
ला श्रादान् इत्यस्तादन्तादमादेवप्रादेवित्यतः । शिवकण्ठ-  
अमदेहवानरविशेषमुखवत्कृष्णवर्षत्यर्थः । तथा हे कालकाल-  
घनकालकालपनकाल । कं जस्तमालाति धारयतोति कालः  
अतएव कालः कृष्णवर्षी यो घनो भेषः तस्य काले समये वर्षा-

काले इत्यर्थः, कायन्ति शब्दं कुर्वन्तीति कालकालघनकालका  
मयूराः ‘कैश्चेद्देव इत्यस्याङ्गे रूपं’ तेषामालपनं मुखं तदन्  
कलते शब्दं करोतीति स तथा तत्समोधनं ‘कलश्चेद्देव इत्यस्य  
घणि रूपं, मयूरवत् पद्मजस्त्रेण भाषमाणेत्यर्थः। कालकालपन-  
कालकालघनकालकालेतिपाठे तु काले वर्धाकाले कायन्तीति  
कालका मयूरस्त्रेषामालपनं रुतं कालयति प्रेरयति प्रवर्त्त-  
यतीत्यर्थ इति कालकालपनकालः ‘कल्पेरणे इत्यस्य चौरा-  
दिकस्य रूपं । तथा कालः पूर्वोक्तव्युत्पन्ना मजलो या घनस्तदृ  
काल श्वामलेत्यर्थः । तथा हे कालकालः । कालेन समयस्वरू-  
पेणात्मना कालयति लोकान् प्रेरयतीति स तथा तत्समोधनं,  
हृष्णस्त्र कालस्त्ररूपत्वं यथा ‘कालस्त्ररूपं रूपं तदिणार्भेत्य  
वर्तत इति सूर्तिः । तथा हे कलिकालकालः । कलिकालस्ता-  
न्त्रयुगस्य कालो स्त्रृत्युर्दतः स तथा तत्समोधनं कर्त्त्वकृष्ण  
कर्त्त्वयुगनिवर्त्तकेत्यर्थः भक्तानां कलिकालभयनिवारकेति च ।  
लग्नित्यनन्तरं चतुर्थपादभागस्यायमर्थः । ‘कालो चैत्यौ  
महाकाले समये यमकृष्णयारिति मंदिनो । लननिका किञ्चूता  
कालकालमितकालका कालकेन हृष्णेन आलमितं ग्राभितं  
कं मस्तकं चैम्पादृशा अलकाशूर्षकृत्तमा यस्याः सा । कं  
जलमालातीति कालं सरस्त्रवं कायन्तीति कालका हृष-  
स्त्रेषामिवालमितं सीलागमनं यद्याम्पादृशी कालकौ पादौ  
यस्याः सा इति कंचित् । तथा अलकालकालका अलकाशूर्ष-  
कृत्तमालान् अलते मुक्तादिना भृष्यतीति अलकाली ‘अलम्

भृषायामित्यस्य णटि रुपं, तथा कालं कलं ‘खार्चे टण्’ मधुर-  
मित्यर्थः, यथा तथा कायति वक्तीति कालका, अल्काली चासौ  
कालका चेति विशेषणयोः कर्षधारयः । अल्कायाः कुवेर-  
पुर्या आलको भृषकः कुवेरस्तस्याप्यालको भृषकस्तस्यो-  
धनमित्यन्ये । अत्र समसावयवानां केषाञ्चिदेकार्थलेऽपि समु-  
दायस्य तथात्वाभावात्त्र यमकलहानिः । षाडशात्तरमिदं  
रुच्चम् ॥ ५० ॥

सन्दृष्टयमकस्यानमन्तादी पादयोर्दयोः ।  
उक्तान्तर्गतमयेतत् स्वातन्त्र्येणात्र कोर्त्यते ॥ ५१ ॥

अथ स्वोक्तान्तर्गतस्यायन्त्रैकस्य सन्दृष्टयमकस्य स्थानं निय-  
मयति । सन्दृष्टेति । सन्दृष्टयमकं सन्दृशाकारं यमकं सन्दृशो  
यथा उभयभागाकमणकारी तद्येदमपि पादयोरन्तादि-  
भागाकमणकारीत्यर्थः । तस्य दयोः पादयोः सञ्जिकृदयोः  
पूर्वापरचरणयोः, अन्तादो प्रथमपादस्यान्तभागो दितीय-  
पादस्यादिभागस्य, एवं दितीयपादस्यान्तभागस्तीयपादस्या-  
दिभागस्य तथा हतोयपादस्यान्तभागस्यतुर्धपादस्यादिभाग-  
संत्यर्थः एतौ भागौ स्थानं विषयः । एतस्तन्दृष्टाख्यं यमकम्  
उक्तान्तर्गतमपि ‘रवेण भौम इत्यादावव्यपेतान्तादियमकमध्य-  
पतितमपि, अत यमकेषु भूष्ये, स्थातन्त्रेण पृथक्लेन कोर्त्यते  
प्राचोनमत्तमनुहम्भानेनोच्यते ॥ ५१ ॥

उपोढरागाथबला मदेन सा  
मदेनसा मन्त्रसेन योजिता ।  
न योजितात्मानमनङ्गतापिता-  
ङ्गतापि तापाय ममास नेयते ॥ ५२ ॥

षन्दृष्टमुदाहरति । उपोढेति । कस्यचिदिरहिणो मिवं  
 प्रति मानिनीकृतस्वावस्थावर्षनमिदं । सा अवला मदेन यो-  
 बनविकारेण मद्योपयोगेन वा हेतुना उपोढरागापि मां  
 प्रति प्राप्नानुरागापि, अतएव योजित आत्मा मनो यत्र ता-  
 दृश्येमनङ्गतापिताम् अनङ्गमङ्गतार्थं कामं तापयतीत्यनङ्ग-  
 तापितो तस्या भावेऽनङ्गतापिता तां गतापि, समुद्रिक्षो हि  
 कामस्तकार्यमनाचरन्तीभि. स्त्रीभिस्ताप्यते । तदाह कालि-  
 दामः ‘आवाध्यन्ते न खलु मदनेनैव लभ्यान्तरतादावाधन्ते  
 मनसिजमपि चिप्तकालाः कुमार्य’ इति । मानुरागा सकामा  
 च मत्यपीत्यर्थः, मदेनमा सम पापेनापराधेन वा कर्त्ता मन्त्र-  
 रमेन क्रोधरसेन सह योजिता सतो सम इयते एतावत  
 तापाय एतावन्तं तापं जनयन्तीत्यर्थः न न आस रराज अपि  
 त्वामेव अस्मगत्यादानदीप्तिवित्यस्य लिटा रूपम् ॥ ५२ ॥

अर्द्धाभ्यासः समुङ्गः स्यादस्य भेदास्त्वयो मताः ।  
पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा व्यज्यते स निर्दर्शनैः ॥ ५३ ॥  
 इत्यं पादभागयमकभेदान् प्रदर्श्य सम्प्रति समस्तपादयमक-  
 भेदान् दर्शयितुमारभते । अर्द्धाभ्यास इति । अर्द्धस्य पाददद्यस्य

न तु पश्येय पूर्वा दूर्माचस्य अभ्यासः पुनरावृत्तिः समुद्भवः समुद्भवं-  
संज्ञः स्थान् समुद्भवः संपुटकः स च यथा भागदयात्मकस्तथाय  
पाददयात्मक इति समुद्भवंजा, अस्य भेदास्तयो मता इति  
तथाहि प्रथमवृत्तीयौ द्वितीयचतुर्थी च पादौ तु ल्याविव्योक्तः  
प्रकारः, प्रथमद्वितीयौ त्रितीयचतुर्थी च पादौ तु ल्याविव्योक्तः,  
प्रथमचतुर्थी द्वितीयहृतीयौ च पादौ तु ल्याविव्योक्तः इति चयो  
भेदाः, एतक्लमणेणादाहरणानि दर्शयन्ते । एव च समुद्भव-  
समुद्भवात् यमकदयं, वक्ष्यमाणसकृत्यादाभ्यासे तु एक एवाभ्यास  
इत्येकमेव यमकमिति बोध्यं । पादाभ्यास इति एकेकपादस्या-  
भ्यास इत्यर्थः, अनेकात्मेति पादस्य सकृद्विस्त्रिरावृत्तिलंबनैका-  
दशविध इत्यर्थः, तथाहि प्रथमो द्वितीये, प्रथमस्तृतीये, प्रथम-  
स्वतुर्थी, इति चयः । द्वितीयस्तृतीये, द्वितीयस्वतुर्थी, इति हौ,  
हृतीयस्वतुर्थी इत्येकः । प्रथमो द्वितीये हृतीये च, प्रथमो द्वि-  
तीये चतुर्थी च, प्रथमस्तृतीये चतुर्थी च, द्वितीयस्तृतीये चतुर्थी  
चेति चलारः । प्रथमो द्वितीये हृतीये चतुर्थी चेत्येकः, इति  
मिलिला एकादशविधः, सोऽयं पादाभ्यासः निदर्शनैर्व्यगते  
समुद्भादाहरणचयानक्तरमेव दर्शयिष्यमाणैदाहरणैः सूचते,  
वर्ज्ञमानमामोष्ये लट् ॥ ५३ ॥

नास्येयः सत्या वक्त्यः परमायतमानया ।

नास्येयः सत्या वक्त्यः परमायतमानया ॥ ५४ ॥

समुद्भव भेदचयं कमणेणादाहरति । नास्येयः सत्येति । मा-

निनीं प्रति सख्या उपदेशोक्तिरियं । परमायतोऽतिदीर्घा मानः  
कोपो यस्याः सा तथा तादृश्यापि अस्येदोऽस्यिरतरं सत्वं स्व-  
भावो व्यवसायो वा यस्याः सा तथा तादृश्या लया स ना पुरुषः  
प्रेयान् न वर्ज्यः न त्याज्यः, परन्तु आयतमानया सम्यक् यद्वं  
कुर्वत्या सत्या आस्थेयः आदरणीयः, तथा आवर्ज्यः प्रणय-  
प्रकाशनेन स्वप्रवणोकर्त्तव्यस्त्वत्यन्वयः । अस्येभ्यः सत्येति तत्र  
स्वभावो व्यवसायो वा न स्यिरतरः अतः प्रेयांमें परित्यज्य  
पश्चात्तापं प्राप्यसि तदयमपरित्यज्यानुकम्प्यतामिति भावः ॥

॥ ५४ ॥

नरा जिता माननया समेत्य  
न राजिता माननयासमेत्य।  
विनाशिता वै भवताऽयनेन  
विनाऽशिता वै भवतायनेन ॥ ५५ ॥

नरा इति । कस्ति भमरविजयम् राजानं स्तौति । मान-  
या साधुवादादिहृतपृश्या समेत्य सङ्कलेन सता भवता अयनेन  
गमनेन युद्धाच्चयेत्यर्थः, जिताः पराभृता नरा रिपवः मानः  
मम्मानः नयोनीतिश्च तदोरामं चेष्ट परित्यागमित्यर्थः ‘असु-  
च्छेद इत्यस्य भावघणि रूपम्’ एत्य प्राप्य न राजिताः न शा-  
भिताः, भवता विजितानां कथस्त्रिज्ञानकवल्लनादिना रचित-  
जीवितानां रिपूर्णां मानमयपृश्यतया दुरवस्था जातेत्यर्थः,  
ये तु साहसिकाः न च यस्यास्तेषामवस्थामाह । विनाशिता वै इति

भवता विमाशिता वै हतास्तु 'वै इति लर्थ' विना योध्रादि-  
पच्छिष्ठा अशिता भक्षिताः । किञ्चूतेन भवता वैभवतायनेन  
रिपुजयादिभिर्भुलविक्षारकेण 'तायृ पास्तनविक्षारयोरि-  
त्यस्य बृन्दादित्वान्डनः ॥ ५५ ॥

कलापिनां चारुतयोपयान्ति  
बृन्दानि लापोदघनागमानाम् ।  
बृन्दानिलापोदघनागमानां  
कलापिनां चारुतयोुपयान्ति ॥ ५६ ॥

कलापिनामिति । वर्षावर्षनमिदं । कलापिनां मयूराणां  
 बृन्दानि समूहाः चारुतया वर्षाकालजनितशोभया सह उप-  
 यान्ति सङ्कुच्छन्ते, किञ्चूतानां स्थापः केकाष्वनिः स ऊळः  
 प्राप्तो यस्मात् तादृशो घनानां मेघानामागमो येषां ते तथा  
 तेषाम् 'अग्न्यादित्वाङ्गापस्य प्राग्मावः । स्थापिनोळः सुचितो  
 घनागमो यैरिति केचित् । तथा कलं मधुरास्फुटध्वनिमासु-  
 वन्ति क जले लपन्तीति वा कलापिनो इमाः तेषाम् आरु-  
 तयः उच्चमरुतानि अपयान्ति अपगच्छन्ति वर्षासु इमानां  
 निर्षदत्वादिति भावः । किञ्चूतानां घनं नृत्यविशेषः 'घनं स्थात्  
 कांच्यतालादिवाद्यमध्यमनुत्ययारिति मेदिनी । तद्युक्त आगम  
 आगमम् घनागमः सविलासागममनमित्यर्थः, बृन्दानिलेन  
 वार्षिकमंघातवातेनापोदोऽपास्तो घनागमो येषां ते तथा  
 तेषाम् । एवं समुद्धयमकस्य चर्या भेदा उदाहृताः ॥ ५६ ॥

न मन्दयावर्ज्जितमानसात्मग्रा  
नमन्दयावर्ज्जितमानसात्मग्रा ।  
उरस्युपास्तीर्णपयोधरद्वयं  
मया समालिङ्ग्यत जोवितेश्वरः ॥ ५७ ॥

अथानेकविधं पादाभ्याम् क्रमेणादाहरन् प्रथमं प्रथम-  
 दितीयपादगतमुदाहरति । नेति । नायकोपेचया गलित-  
 मानाया मानिन्याः पश्चात्तापवर्णनमिदं । मन्दया मूढया  
 मया नमन् प्रणामं कुर्वन्नपि जोवितेश्वरः प्राणनायः उरसि  
 तदीयवचसि उपास्तीर्णमासच्चितं पयोधरद्वयं सनद्वयं यत्र  
 तद्यथा तथा न समालिङ्ग्यत नाम्निष्टः, किमृतया यतोऽव-  
 च्छितऽपरित्यके माने शात्मया सयद्वया यद्वेन मानं रज-  
 न्येत्यर्थः, यदा आवर्ज्जिते अनुकूलतया गृहीते माने शात्मया  
 सयद्वया । तथा दयावर्ज्जितौ प्रियस्य कातरतां दृष्ट्यापि करु-  
 णाशून्यौ मानसम् शात्मा च तौ यस्याः सा तथा तथा  
 ‘उभयत्र युम्बमानश्च बङ्गब्रीहिरित्यनेन’ डाप्रत्ययः । सात्मये-  
 त्यत्र सार्थयंति कर्चित्याठः तचेतत्र अत्यक्तमानसमूहया,  
 अपरत्र दयाशून्यमानसप्रयाजनयेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सभा सुराणामवला विभूषिता  
 गुणस्तवारोऽहं सृष्टाननिम्नलः ।  
 स भासुराणामवला विभूषिता  
 त्रिहारयन्निविश्वा सम्पदः पुराम् ॥ ५८ ॥

प्रथमद्वतीयपादगतमुदाहरति । सभेति । राजानं प्रति  
कसचिच्छाटुकारस्योक्तिरियं । हे राजन् मृणालनिर्मलैः मृणाल-  
वदतिपरिगृह्णैस्तव गुणैर्यगाम्भीर्यादिभिः सुराणां देवानां  
सभा आरोहि आरुष्ठा, देवसभा तव गुणान् गायतीत्यर्थः,  
किञ्चूता सभा यतोऽवला बलनामकदैत्यरहिता इन्द्रेण बलदै-  
त्यस्य विनाशितवादधुना निर्भया सतो लङ्घणान् गायतीत्यर्थः,  
तथा विभोर्नेत्राणां विष्णोः शङ्करस्य वा उषितं वासायत्र सा,  
विभोरिन्द्रस्ति केचित् । स तादृशस्तु विभूयिता अलङ्कृता  
अबला नारोर्विहारयन् रमयन् मन् भासुराणां देदीयमानानां  
पुरां नगरीणां सम्पदः सम्पत्तोर्निर्दिश उपभुक्तः ॥ ५८ ॥

कलङ्कमुक्तं तनुमझ्नामिका  
स्तनदयो च त्वद्वते न हन्त्यतः ।  
न याति भूतं गणने भवम् खेदे  
कलङ्कमुक्तं तनुमझ्नामिका ॥ ५९ ॥

प्रथमचतुर्थपादगतमुदाहरति । कलमिति । कसचित्  
मंयमिनः स्तुतिरियं । कलं मधुरास्फुटम् उक्तं रमणीयां वचनं,  
तथा तगोः शरीरस्य मद्भागं मद्भागं नमयतोतितनुमझ्नामिका  
पृष्ठतरेत्यर्थः स्तनदयो च त्वद्वते लां विना कं पुरुषं न इन्ति न  
व्यथयति अपि तु लां विहाय सर्वमेव व्यथयतोत्यर्थः रमण्य-  
स्तु अधुरालापादिभिर्मोहयितुं शङ्कवलीत्यतिजितेन्द्रियो-

असीति भावः । अत्र महोति ‘अजादिहस्तोऽदीर्घादिति पाच्चिको धकारस्य दिर्भावः’ अतएवोच्चरेण सह साम्यम् । अतः कारणात् ‘होति प्रसिद्धौ’ भवन्तु लक्ष्यभृतौ विषये गणने जितेन्द्रियगणनायाम् अनामिका गणयितुरङ्गुडाचतुर्थे अङ्गुलो कसङ्गमुकं निर्दीषं तनुमत् देहभृत् भृतं कमपि जन्मं न याति न प्राप्नोति न गण्यं करोतोत्थर्थः ‘भृतं ज्ञादै पिण्डाचादै जन्मौ क्लीवम्’ इति भेदिनो । अङ्गुलीभिर्गणना हि कनिष्ठादिकमेण क्रियते अत्र च जितेन्द्रियगणनायां प्रमुतायां कनिष्ठाङ्गुल्या भवन्तं प्रथमं गणयित्वा अनामिकया भवादृशोऽपरोगणयित्वः स च नास्यवेत्यनामिका न कमपि विषयोकरोतोति लत् सदृशः कोऽपि संयमी नास्यवेति भावः ॥ ५८ ॥

यशश्च ते दिक्षु रजश्च सैनिका  
वितन्वतेऽजोपम ! दंशिता युधा ।

वितन्वतेऽजोपमदं शितायुधा  
द्विपाच्च कुर्वन्ति कुलं तरस्विनः ॥ ५० ॥

द्वितीयहतोयपादगतमुदाहरति । यश्चेति । विजिगीष नृपस्य प्रश्नं सन्मिदं । हे अजोपम ! अजोरचुराजपुत्रः तत्सदृश ! ते तव सैनिकाः युधा युहेन हत्वा दिक्षु यशश्च तथा रजश्च धृत्यश्च वितन्वते विज्ञारथनि, तथा द्विषां अचूर्णां सुखश्च वितन्मु विगतदेहं तथा अतेजोनिष्ठतापं तथा अपमदं निर-

हङ्कारस्त्र कुर्वन्ति, किमूताः दंशिताः कृतमन्नाहाः, तथा  
शितायुधाः शितानि तोक्षणानि आयुधानि येषां ते, तथा  
तरस्सिनो वेगवन्तः ॥ ६० ॥

विभर्ति भृमेर्वलयं भुजेन ते  
भुजङ्गमोऽमा स्मरतो मठच्चितम् ।  
शृणुक्तमेकं स्वमवेत्य भृधरं ।  
भुजङ्गमो मा स्म रतो मठच्चितम् ॥ ६१ ॥

द्वितीयचतुर्थपादविषयमुदाहरति । विभर्त्तिति । राज्ञः  
स्मृतिरियं । हे राजन् ते तव भुजेन अमा सह भुजङ्गमोऽनन्ता  
भृमेर्वलयं मण्डलं विभर्ति धारयति, अनन्तदेववक्तव्यभुजेऽपि  
भृभारं वहति अनेन च गच्छा न कर्तव्य इत्याह स्मरतोऽविशेषं  
जानतो मत् मनः मत्सकाशात् अच्छितं सर्वजनपृजितमेकमुक्तं  
वचनं शृणु, किं तदित्याह स्वं स्लोकं भुजं भृधरं भृमिधारकम्  
श्रवेत्य ज्ञात्वा रतः प्रीतः सन् चितमुपचितमत्यधिकमित्यर्थः  
मदं गच्छ मास्म गमः न प्राप्नुद्दीति ॥ ६१ ॥

स्मरानलोमानविवर्दितो यः  
स निर्वृतिन्ते किमपाकरोति ।  
समलतस्तामरसेक्षणे । न  
समलतस्तामरसे । क्षणेन ॥ ६२ ॥

द्वितीयचतुर्थपादविषयमुदाहरति । स्मरानल इति । मा-  
निनों प्रति सख्या उक्तिरियम् । हे तामरसेक्षणे पद्मनयने तथा

अरसे अविदग्धे ते तत्र यः स्मरानलः कामस्पाग्निः मानेन  
विवर्द्धितो वृह्णि गमितः सः ततो विस्तृतः सन् चणेनोत्सवेन  
समं सह समन्ततः सर्वतोभावेन तां मानप्राग्नुभ्यमार्ना  
निर्दृतिं सुखं किं न अपाकरोति निराकरोति अपिलपाकरो-  
त्येव, माने जाते तवेदृशी कामानलच्छाला यथा मुखोत्सवादिकं  
सर्वं निवारितं तथापि तं दुर्बोनं न मुच्चसि अहो धन्या ते  
यद्विस्तेति भावः ॥ ६२ ॥

प्रभावतो नामनः वासवस्य

प्रभावतो नाम नवासवस्य ।

प्रभावतोऽनामः न वा सवस्य

विच्छिन्निरासोत्त्वयि विष्टपस्य ॥ ६३ ॥

अथ पादत्रयाभासे उदाहर्त्ये प्रथमं प्रथमदितीयद-  
तीयपादविषयमुदाहरति । प्रभावत इति । अत्र पदच्छेद  
प्रभावतः, नामन, वासवस्य, इति प्रथमे । प्रभावतः, ...म,  
नवासवस्य, इति द्वितीये । प्रभौ, अतः, अनाम, न, वा, म-  
वस्य, इति तृतीये । श्रीकृष्णस्य स्तुतिरित्यं । हे प्रभावतः स्वप्र-  
भावात् प्रभावतः श्रीमतोवासवस्येन्द्रस्यापि नामन ! नामयति  
नमोकरोतीति नामनः तद्गम्भोधनं, मयभङ्गपारिजातहर-  
णादिना इन्द्रस्यापि गर्वनिवारकेत्यर्थः, नामनि प्राकाश्ये,  
तथा हे अनाम ! नाम्ति आमोरोग्या यस्य अस्मादा स तथा  
तत्सम्बोधनं, तथि विष्टपस्य भुवनस्य प्रभौ स्वामिनि सति

दुर्दान्तदमनादिना भुवनं पालयति सतीत्यर्थः अतोऽस्मात्  
कर्षणः कं सनरकशाल्वादिदमनादित्यर्थः नवासवस्त्र नवीनायाः  
सुरायाः सवस्य वा यज्ञस्य च विच्छिन्निर्विच्छेदो नासोत्  
भागिनां सुरापानादिविषयभेदो धार्मिकाणां यज्ञादि धर्मो-  
कर्मानुष्ठानस्त्रियाधिप्रवृत्ते इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

परम्पराया बलवारणानां  
परम्पराया बलवारणानाम् ।  
धूलोः स्थनीर्व्याम विधाय हृष्ण  
परम्परायाऽबलवारणानाम् ॥ ६४ ॥

प्रथमद्वितीयचतुर्थपादविषयमुदाहरति । परमिति । राज्ञः  
स्मृतिरियम् । पदच्छेदो यथा । परं, परायाः, बलवाः, रणानाम्,  
इति प्रथमे । परम्परायाः, बलवारणानाम्, इति द्वितीये ।  
परं, पराय, अबलवारणानाम्, इति चतुर्थे । हे पराय । पर  
उत्कृष्टायः शुभविधिर्यस्य म तथा तसम्बोधनं, तं रणानां संया-  
माणां परम्परायाः समूहस्य स्थलोः धूलोर्विधाय रेणुमयोः कृत्वा  
व्याम आकाशं हृष्णं धूलिभिरेवाच्छादयन् सन्, एतेन रथा-  
शादिभेनाङ्गानां चाङ्गल्यं ध्वनिते । परं श्रेष्ठं प्रबलमित्यर्थः,  
परं शत्रुं परायाः गतवानसि ‘परापूर्वयाधातोर्लङ्घसुडिं-  
हृषं । तं किम्भूतः बलवाः बलेन मामर्थेन परबलानि वा  
वारयतीति मः ‘वारयते किपि रूपं । रणानां किम्भूतानां

बला बलवन्तो वारणा हस्तिनो यत्र ते तथा तेषां, तथा अबल-  
वारणानाम् अबलान् दुर्बलान् वारयन्तीति ते तथा तेषाम् ॥  
अनन्तरं प्रथमहतीयचतुर्थपादाभ्यासोदाहरणं भवितुमर्हति  
तत्तु कस्मिक्षपि पुस्तके न दृश्यते पादचयाभ्यासस्यैकपाद-  
त्यागेन चातुर्विधस्यौचित्यात्, तस्मादतिपूर्वमेव लिपिकरप्रमा-  
दादिनष्टमिति ममाच्यते, पुस्तकान्तरे तु एतत्पद्म्य धृत्योः  
स्वलोक्याम विधाय स्त्वर्विति द्वितीयपादो दृश्यते तदा प्रथम-  
द्वितीयचतुर्थपादाभ्यासोदाहरणं विनुप्रमिति यथा तथा भवत  
प्रतितमेकमुदाहरणं स्वयं ज्ञातयम् ॥ ६४ ॥

न अद्धे वाचमनञ्जः मिथ्या  
भवद्विधानामसमाहितानाम् ।  
भवद्विधानामसमाहितानो  
भवद्विधानामसमाहितानाम् ॥ ६५ ॥

द्वितीयादिपादचयाभ्यासमुदाहरति । नेति । गठन्, यक्ष  
प्रति नायिकाया उक्तिरियं । हे अनञ्ज भवद्विधानो त्वादृ-  
ग्नानां प्रतारकाणाम् ‘अयं चतुर्थपादादिगतभवद्विधानामिता-  
स्यार्थः । वाचं न अद्धं न प्रत्येमि, वाचं किञ्चूतां यतो मि-  
थ्याभवत् असत्यं भवत् विधीयते यदिति विधानं प्रतिपाद्य  
यस्याः मा तथा तां, तथा असमोऽग्रलः कुण्डलीभृत इत्यर्थः  
याऽहिः सर्पस्त्वस्य तामो विस्तारी यस्याः मा तथा ताम्  
अतिवक्तामित्यर्थः, तथा भवेत्तत्त्वं अवणसमकाल एवत्यर्थः,

दे धाने अर्थपोषणे अस्ता: सा तथा तां अवणमाचेषैवार्थदय-  
बोधिकामित्यर्थः । भवद्विधानां किञ्चूतानाम् असमाहिता-  
नामनवहितानां, तथा असमा अनुपमा अधिका इत्यर्थः,  
अहिताः श्रवो येषां ते तथा तेषाम् ॥ ६४ ॥

**सन्नाहितोमानमराजसेन !**  
**सन्नाहितोऽमानमः राजसे न ।**  
**सन्नाहितो मानमः राजसेन**  
**सन्ना हितोऽमानमराजसेन ॥ ६४ ॥**

इत्यं पादचयविषयं द्विरभ्यासमुदाहत्य भम्पति पादचतु-  
ष्टयविषयं चिरभ्यासमुदाहरति । सन्निति । कञ्चित् शेवं रा-  
जानं प्रति कस्यचित् सुतिरियम् । अत्र पदच्छ्रेदः । सन्,  
आहितोमानमराजसेन, इति प्रथमे । सन्नाहितः, अमानम,  
राजसेन, इति द्वितीये । सन्नाहितः, मानम, राजसेन, इति  
हतोये । सन्ना, हितः, अमानमराजसेन, इति चतुर्थे । तद-  
यमन्त्यः, हे सन् ! माधो !, तथा हे आहितोमानमराजसेन !  
न नमन्ति परं नम्यन्त इत्यनमा ब्राह्मणाः तेषां राजा चक्षुः  
अनमराजः, उमा पार्वती च अनमराजश्च उमानमराजौ  
आहितौ स्वाङ्गे स्यापितौ उमानमराजौ येन म आहितो-  
मानमराजः शिवः तेन मेनः इनेन ईश्वरेण मह वर्त्तमानः  
तत्सम्बोधनं शिवपरायणेत्यर्थः, तथा हे अमानम ! अमाना  
अपरिमिता मा भम्पत्तिर्यस्य स तथा तत्सम्बोधनं, लं सन्नाहितः

कृतमन्नाहः सन् युद्धयाचां कुर्वन्नित्यर्थः, न राजसे शोभमे,  
कथमित्याह हे राजसेन रजोगुणजेन सोभादिना मानम् !  
मा नस्यते नायत्तीक्रियत इति स तथा तत्स्मोधनं सोभाद-  
वशोक्तेत्यर्थः, यतस्यं सन्नाहितः सन्नाः पूर्वमेवावसादं गता  
अहिताः शत्रवे यस्य सः, तथा हे अमानमराजसेन ! मानः  
पूजा मा लक्ष्मीश्च मानमे न विद्येते मानमे यस्याः सा अमा-  
नमा तादृशी राजसेना प्रतिपक्षनृपसैन्यं यस्य स तथा तत्स्मोधनं, त्वं सन्ना सत्पुरुषः अतएव हितः सर्वेषां हितकारी  
तव शैवलादिना परपीडाकरो युद्धोद्यमो न युक्त इति भावः॥

॥ ६६ ॥

सकृद्विस्तिव्य योऽभ्यासः पादस्यैव प्रदर्शितः ।

श्लोकदद्यन्तु युक्तार्थं श्लोकाभ्यासः स्मृतो यथा ॥ ६७ ॥

अथ पादाभ्यासमुपसंहरन् श्लोकाभ्यासमाह । शङ्खदिति ।  
पादस्य यः सङ्खदेकवारः, द्विर्दिवारः, चित्तिवारेऽभ्यासः पूर्व-  
रात्रित्तिः स एवं पूर्वोपन्यस्मैहदाहरणे प्रदर्शित इत्याद्यः,  
अत्र स इत्यधाहार्यं, तत्र सङ्खदभ्यासः पाददद्यविषयः, द्वि-  
रभ्यासः पादचयविषयः, चिरभ्यासः पादचतुष्टयविषयः ।  
श्लोकदद्यन्तिति युक्तार्थं सम्बद्धार्थम् एकवाक्यतया एकविशेष-  
काच्चयलोधकमित्यर्थः, श्लोकदद्यं समानानुपूर्वकिममानवर्ष-  
घटितपद्यदद्यं श्लोकाभ्यासः श्लोकाभ्यासार्थयमकविदित्यन्ययः ।  
अत्र श्लोकदद्यं श्लोकदद्यमेत्यर्थः, तेन दित्तिरभ्यासात्मकमिदं  
न भवति केनाप्यनुकृत्वादिति वोध्यम् ॥ ६७ ॥

विनायकेन भवता वृत्तोपचितवाङ्गना ।

स्वमित्रोद्घारिणाऽभीता पृथ्वीयमतुलाश्रिता ॥ ६८ ॥

विनायकेन भवता वृत्तोपचितवाङ्गना ।

स्वमित्रोद्घारिणाऽभीता पृथ्वीयमतुलाश्रिता ॥ ६९ ॥

विनायकेनेति । राज्ञः सुतिरिदं । हे राजन् भवता  
हेतुना इयं पृथ्वी पृथिवी अभीता दुर्जनेभ्यो भयशूल्या जाता,  
भवता किमृतेन यतो विनायकेन दुर्जनानां विनेचा दर्ज-  
नान् दण्डयतेत्यर्थः, तथा वृत्तौ वृत्तौ उपचितौ स्वृतौ च  
बाह्य यस्य स तथा तेन, तथा स्वमित्रान् सुयुरिपून् प्रब-  
ल्लान् रिपूनित्यर्थः, उद्धृतुं विनाशयितुं श्रोतं यस्य स तथा  
तेन, तथा अतुलाश्रिता केनापि मादृशं न भजता ‘श्रित्  
सेवायामित्यस्य किप् ततस्तृतीयैकवचनम् । इति प्रथमस्काक-  
स्यार्थः ॥ ६८ ॥

द्वितीयस्य यथा । अभीता युद्धार्थं त्वामभ्यागच्छता ‘अभि-  
पूर्वादिष्णतावित्यमात् किप् ततस्तृतोदैकवचनम् । अरिणा तत्र  
शुल्लाणा विनायकेन नायकरहितेन भवता सता पृथ्वी महतो  
यमस्य कृतान्तस्य तुला मानयन्ते ‘गौणप्रधागोऽयं’ विचार-  
स्यतान्तर्याम्यत्यर्थः, मानयन्ते यथा न्यूनाधिकलनिश्चयस्तथा यमस्य  
विचारस्यत्यां पापपृष्ठनिश्चय इति गौणता, आश्रिता प्राप्ता  
स्वतमित्यर्थः, किमृतेन वृत्तौ जातौ उपचितौ चितां अश्वान-  
मुपगतौ बाह्य यस्य स तथा तेन ‘उपचितेति चितामुपगता-

विति 'दितीयथात्यादेः क्रान्तादाविति तत्पुरुषः, तथा  
खानि धनानि मित्राणि वस्त्रं उच्चाहाति परित्यजनोनि  
खमित्रोद्धाः तेन खमित्रोद्धाः 'उत्पुर्वात् आहाकथागे इत्य-  
स्मात् किंवन्नात् छतोर्यैकवचनं धातोरामुक् भ्राद्यचीत्या-  
कारस्तोपः ॥ ६८ ॥

एकाकारचतुर्घाटं तन्महायमकाङ्क्षयम् ।

तत्रापि दृश्यते भ्यासः सा परा यमकक्रिया ॥ ७० ॥

अथ पादचतुर्ष्टयगोचरस्य विरभ्यासस्य प्रतिपादसवा-  
न्तराभ्यामे विच्छिन्नतरमभ्रवान्महायमकमंजामाह । एका-  
कारेति । महायमकमंजाकरणे हेतुमाह । तत्रापोति । तत्रापि  
पादसधेऽपि अभ्यासः पादखण्डस्य पुनरावृत्तिर्दृश्यते तस्मा-  
द्यत इयं परा उल्लेष्टा यमकक्रिया यमनविधिस्तत इदं  
महायमकाङ्क्षयमित्यन्वयः, तत्रापीत्यत्र तस्यापीति पाठो ।  
मम्यक् । पादचतुर्ष्टयाभ्यामे यत्र पादखण्डस्याद्यभ्यासस्तत् ।-  
यमकमित्यर्थः, इदम्भ्र मक्षदावृत्तीं द्विग्रावृत्तीं च मम्भ्रवति  
किञ्चु न केनापि गणितमित्युपेचितं यन्यक्तता ॥ ७० ॥

समानयास् । मानया । समानयासमानया ।

समानया । समानया । समानः । या । समानया ॥ ७१ ॥

महायमकमुदाहरति । समानयासति । सखायं प्रति त्रि-  
रहिष्ट उक्तिरियं, पदच्छेदो चथा, समानयास्, मा, अनया,

इति प्रथमे । समानय, असमानया, इति द्वितीये । समानया, समानया, इति हतोये । समान, या, समानया, इति चतुर्थे । हे समानयास ! समानो चासो यद्वा यस्य स तथा तक्षमोधनं सर्वकार्येषु तुल्यप्रयत्नेत्यर्थः, मा माम् अनया नायिकया सह समानय सङ्गमय, किम्भूतया यतोऽसमानया अनुपमया, तथा समानया मानः कोपस्तवहितया माननीयेत्यर्थः, तथापि समानया मानः पूजा तक्षहितया माननीयेत्यर्थः, एतदपि कथमित्याह हे समान ! सम आनः प्राणो यस्य स तथा तक्षमोधनम् एकप्राणेत्यर्थः, या नायिका समानया मा लक्ष्मीर्णयो नोतिश्च ताभ्यां सह वर्जमाना यतः सा लक्ष्मीमतो नोतिमतो च अतस्या मानेन बलवद्युषितोऽस्मि तत्परितं मानमपमारयन्ननया सह मां सङ्गमयेत्यर्थः । अत्र पादानां खण्डदयेऽवान्तरयमनम्, एवं चिखण्डादौ चेदं भवितुमर्हतोति वाञ्छ । प्रमाणिकावृत्तम् ॥ ७१ ॥

### धराधराकारधरा धराभुजी

भुजा मच्चों पातुमहोनविक्रमाः ।

क्रमात् सहन्ते सहसा हतारयो

रयोहुरा मानधुरावलम्बिनः ॥ ७२ ॥

अत्यन्तश्चहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनय इत्यनेन प्रतिपादिताः सजातीयसंमिश्रणजनितभेदा उदाहृताः संप्रति विजातीयसंमिश्रणजनितान्यपि भेदान्तराणि सम्भवितुमर्हन्तोति

प्रतिपादयन् दिङ्गात्मुदाहरति । धरेति । धराभुजां राजां  
भुजा बाह्वः क्रमात् महों पृथिवीं पातुं रचितुं महते  
समर्था भवति, किञ्चूताः धरां पृथिवीं धरतोति धराधरो-  
उन्नतनागस्त्वाकारं धरतोति धराधराकारधराः दीर्घा  
इत्यर्थः, तथा अहीनोऽपरिच्छुते विक्रमो येषां ते, यदा  
अहीनां नागानामिनस्य प्रभोरनन्तस्वेव विक्रमो येषां ते आ-  
कारतो विक्रमतश्चानन्तमदृशा इति विशेषणद्वयेन ज्ञापितं,  
तथा महमा बलेनैव हता अरथा यैस्त, तथा रथेण विगेनोद्धुरा  
उद्धटाः, तथा मानधुरां मानस्य भारमवलम्बन इति मान-  
धुरावलम्बिनः सम्मानरचका इत्यर्थः । अत्र प्रथमपादे अव्यपत-  
मादिमध्यमकं पादचतुष्यमभ्यन्तये चाव्यपेतमन्तादियमकं  
मन्तश्यमकञ्च, द्वितीयपादे च वर्णदयव्यवहितं महीमहोति  
मथ्यमकं, तृतीयपादे च महमहेत्यकवर्णव्यवहितं तदेव ।  
चतुर्थपादे च पुनर्वर्णदयव्यवहितं तदेवेति बहुनां विजातीय-  
यमकानामत्र मर्मदः । अयम्ब्रह्मोक्ताऽमङ्गत इति कृत्वा । व-  
राजादिभिरुपेचितः, अस्माभिस्त बज्जपु प्रामाणिकपुस्तकेषु दृश्यत  
इत्यनुपेच्य यथाकथञ्चित् यमर्थितो व्याख्यातस्य ॥ ७२ ॥

आवृत्तिः प्रतिलोम्येन पादार्हस्त्रोक्तगोचरा ।

यमकं प्रतिलोमत्वात् प्रतिलोममिति स्मृतम् ॥ ७३ ॥

इत्यमनुलोमाभ्याम् यमकभेदा दर्शिताः, संप्रति प्रति-  
लोमाभ्याम् तत्पकारान् दर्शयति । आवृत्तिरिति । पादः,

अद्वे शोकस्य, एते गोचरा विषया यस्यामादृशो ‘अत्रार्द्धपदं  
शोकार्द्धपरं’ प्रातिलोम्येन विलोमेनावृत्तिः प्रतिलोमवात्  
विलोमावृत्तिरूपवात् प्रतिलोमं प्रतिलोमनामकं यमकं  
स्मृतमित्यत्यः, पादगतं शोकार्द्धगतं शोकगतञ्चत्यस्य त्रयो  
भेदा इत्यर्थः, अयमर्थः यत्र पूर्वपादस्य प्रतिलोमेनावृत्त्या  
उत्तरपादः उत्तरपादस्यापि तथैवावृत्त्या पूर्वपादः तत्याद-  
गोचरं, यत्र च पूर्वार्द्धस्य प्रतिलोमेनावृत्त्या उत्तरार्द्धं उत्त-  
रार्द्धस्य च तथावृत्त्या पूर्वार्द्धं तदर्द्धगोचरं, यत्र च संपूर्व-  
पूर्वशोकस्य प्रतिलोमेनावृत्त्या शोकान्तरं तस्य च तथावृत्त्या  
पूर्वशोकः तत्शोकगोचरमिति ॥ ७३ ॥

या मताग्नि कृतायासा सायाता कृशता मया ।  
रमणारकता तेऽस्तु स्तुतेताकरणामर ॥ ७४ ॥

तान् क्रमेणादाहरति । येति । मानिन्या नायकं प्रत्युक्ति-  
रियं । हे मताग्नि ! मता ज्ञाता आशा परकान्ताविषयिणो  
इच्छा यस्य स तथा तत्सम्बोधनं, या कृशता चोणत्वं कृता-  
यासा कृता जनितः आयासः क्रंगा यथा सा, मया मा कृशता  
• आयाता प्राप्नो, तत्र द्वेषेष्टितचिन्तनया पूर्वमेव मे कृशता  
जाता संप्रति लां परित्यजन्याः काधिका सा भविष्यतोत्यर्थः ।  
हे कृतेत ! स्तुतं स्तवमिति प्राप्नो ! स्तुतं प्रशस्तमितं गमनं यस्य  
स तथा तत्सम्बोधनमिति वा, तथा हे अकरणामर ! अकरणे  
निन्दितकियायां देवतुल्य ! देवतस्मिषिद्वकार्यमनाचरणित्यर्थः ।

हे रमण ! अस्माकं प्रोतिकर ! । ‘सर्वाण्येतानि समोधनपदानि  
सोऽनुष्टुप्नानि प्रकृतानुपयोगादिति वोध्यं । ते तव आरकता  
इथर्ज्जित्तोति आरको गन्ता तस्य भावोऽस्तु भवतु इत्यत्व  
गमनं भवतु लभितः परकामिनीसविधमेव गच्छेत्यर्थः । अत  
प्रथमपादस्य प्रतिस्तोमेनावृत्या दितीयपादः, दितीयपादस्य  
च तथावृत्या प्रथमपादः, एवं द्वतीयचतुर्थयोरपि, तेनाच  
पादविषयं प्रतिस्तोमवत्म ॥ ७४ ॥

नादिनो मदनाधीस्वा न मे काचन कामिता ।

तामिका न च कामेन स्वाधीनादमनोदिना ॥ ७५ ॥

स्तोकार्द्धविषयं प्रतिस्तोममुदाहरति । नादिन इति । कस्य-  
चिद्योगिन उक्तिरियं । नादिनो नादविशिष्टस्य नादब्रह्मानु-  
भवत इत्यर्थः मे मम मदनाधी मदनः कामस्य आधिसज्ज-  
नितमानसव्यथा च तै, तथा स्वा स्वकीया काचन कापि  
कामिता विषयाभिलाषश्च न, नादसुखवृप्तस्य मम च मः  
कामजनितमानसपोडा स्वार्थं विषयाभिलाषश्चेते न मनो-  
त्यर्थः, स्वेत्यनेन परार्थं कामिता तु विषयत एवेति सुचितम् ।  
अतएव दमनोदिना दमो वहिरिन्द्रियमंथमः तं नोदितुं नि-  
रभितुं श्रीलमस्य म तथा तेन कामेन हेतुना स्वमाक्षा  
अधीनमायन्तं यस्यास्तादृशो अजितन्द्रियाणामात्मानं व्या-  
कुलयन्तीत्यर्थः, तामिका च म्लानिरपि न, मम नास्तीत्यर्थः ।  
सोगिनां नादोत्पन्निश्च प्राणायामकृता । तदुकं सुरेश्वराचा-

र्यणं 'मरेच्चपूरैरनिलस्य कुम्हैः सर्वासु नाडोषु विशेधितासु ।  
अनाहतादमुहुरहादुदेति स्वात्मावगम्यः स्वयमेव नादः' इति ।  
केचिच्चु धीरिति सविसर्गपाठं धत्वा मम धीरमदनेति आच-  
चते तत्र हचिरं प्रतिलिप्तमाभ्यासे विसर्गस्य समन्वासम्भावादिति  
ध्येयम् ॥ ७५ ॥

यानमानय माराविकशोनानजनासना ।  
यामुदारशताधीनामायामायमनादि सा ॥ ७६ ॥  
सा दिनामयमायामा नाधीता शरदाऽमुया ।  
नासनाजनना शोकविरामायनमानया ॥ ७७ ॥

॥ यमकचक्रम् ॥

ममस्तथाकर्गाचरं प्रतिलोममुदाहरति । यानमिति ।  
वेग्यामक्रम्य सखायं प्रत्युक्तिरिये । हे सखे त्वं यानमश्चाद्यन्यतमं  
वाहनमानय, किमर्थमत्याह अहं याम् उदारशताधीनाम्  
उदाराणां दातृणां शतमधीनं यस्याः सा उदारशतस्याधीनोत  
वा तां वेग्यामित्यर्थः, आयां पूर्वं गतवान् सा आयमागमनम्  
अनादि मया उक्ता अद्य तत्र सभीपमागमिष्यामीति कर्त्यतेत्यर्थः ।  
नद् अव्यक्तशब्दे इत्यस्य कर्षणि लुडि रूपं कथनार्थकत्वविवक्ष-  
याच एकर्षकता ततएव दिकर्षकत्वात् सेत्यस्य गौणकर्षण  
उक्तलं । तस्माद्गमनस्यावश्यकतया यानस्य प्रथाजनमिति  
तदानयेति हेतु हेतुमद्विनान्वयः । सा किञ्चूता मारः काम  
एव अविर्मिषस्य कणा ताडनी कामिनां कामज्ञात्वानिवा-

रिकेत्यर्थः, तथा ऊना धनहीनाः सन्तोऽनन्ति जोवन्तीति  
ऊनानास्त्रूपा ये ऊनास्त्रान् अस्यति चिपतीति ऊनजना-  
सना निर्दूनजनावाङ्गीकर्तीत्यर्थः ॥ ७६ ॥

शोकस्य प्रतिलोभनावृत्तौ आकान्तरं, तदर्शयति । मेति ।  
वेश्यापीयं मयि दृढानुरागा संप्रति मामप्राप्य नितर्णा व्या-  
कुला भवति तच्चरितमेव तत्र गन्तव्यमित्याह । सा वेश्या  
अमुया शरदा अत्युदीपकेनानेन शरत्कालेन आधीता आधिं  
मानसव्यथामिता प्राप्ता सतो शोकविरामा न शोकस्य विरह-  
दुःखस्य विरामो यस्याः सा न भवति निरन्तरं विरहदुःख-  
मनुभवतीत्यर्थः, शोकविरामेत्यस्य दितीयपादादिस्थितेन ने-  
त्यनेनान्वयः । सा कोदृशो दिनामयमायामा दिने दिवमें  
आमयस्य रोगस्य मायां व्याजममति गच्छतीति सा दिवमें  
सखोममत्तं रोगस्यपरिदृश विरहदुःखं गोपयन्तीत्यर्थः, तथा  
नामनाजनना नामि आमनाया उपवेशनस्य म्यरत्वस्यत्यर्थ-  
जननमनुष्टानं यस्याः सा सततमस्यिरत्यर्थः, अत्र नैकम् ।  
इत्यादिवचिपदबङ्गब्रीहावृत्तरपदपरताभावान्त्राऽन्त्राभावः ।  
तथा अयनं मद्गमनवर्त्म तस्य मानं ज्ञानं दर्शनमित्यर्थः,  
याति प्राप्नोतीत्ययनमानया केवलं मद्गमनमार्गं निरोक्त-  
माणत्यर्थः । इत्यं विशेषणेरस्या अनुरागः सृचितः । अर्थ-  
लिप्तुरपि वेश्या क्वाण्यनुरक्ता भवति यथा मृच्छकटिकादैं  
वमन्तमेनादिः । अतएवोक्तम् ‘एषापि मद्नायन्ता क्वापि  
मत्यानुरागणीति ॥ ७७ ॥

वर्षानामेकहृपत्वं यच्चेकान्तरमईयोः ।

गोमूचिकेति तत् प्राङ्गुर्दुष्करं तदिदो यथा ॥ ७८ ॥

दुष्करयमकनिरूपणप्रमङ्गेन दुष्करांश्चित्तालङ्कारानपि कां-  
श्चिनिरूपयन् प्रथमं गोमूचिकां लक्षयति । वर्षानामिति । तु  
इत्यलङ्कारान्तरात्मजापनाय । अहूंयोः ऊर्ध्वाधःकमेण पक्षि-  
दयेन लिखितयोः श्वाकम्बुद्धीन्तराहृष्योर्वर्षानामेका-  
न्तरमेकवर्षयवहितं यदेकहृपत्वमभिन्नत्वम् अहृष्यदयघटकवर्ष-  
मधयोरकैकात्मरात्मवधानेन यदेकविधवर्षानामुपन्याम इत्यर्थः,  
तदिदश्चित्तालङ्कारज्ञास्तत्त्वाविधवर्षविन्यमनं दुष्करं सहमा  
कर्त्तुमण्डकं गोमूचिकेति प्राङ्गः, चलतो गोमूचिधाराकार-  
लेन श्वाकबभ्यस्य लिखितत्वाद्गोमूचिकामंडां चित्तालङ्कारं  
वदन्तीत्यत्वयः । दुष्करमिति निरूपणोयते हेतुः एतेन ये  
सुकरा बन्धास्ते अर्चेऽन नोच्यन्ते यन्यान्तरतो ज्ञातया इति  
सुचितम् । यच्चित्तव यदीति कर्त्तियाठः तत्र तदेत्याहत्या-  
त्वयः, तर्दत्यव च कर्त्तित् तमितिपाठः तस्मलङ्कारमित्यर्थः ।  
इयस्तोन्तराहृष्येकान्तरितवर्षानां तादृशपूर्वाहृष्येऽर्कहृष्या-  
दर्हगोमूचिका, यत्र च प्रथमहितोयपादयास्तादृशवर्षाना-  
मेकविधत्वं द्वतोयत्तु र्थणादयास्तु तेषामपरविधत्वं तत्र पाद-  
गोमूचिका यथा ‘काङ्गन् पुलोमतनयास्तनार्डितानि वक्त-  
म्बलात्यितरयास्तुलपीडितानि । पायादपायभयतो नमुचि-  
प्रहारो मायामपास्य भवतोऽमुमुक्षुं प्रसारो’ इति । अत्र च

पश्चिमतुष्टयेन शोकस्तिष्ठनम् । एवं प्रकारान्तरेणापरेऽपि  
गोमूचिकाभेदाः सम्भवति ते वाहूस्यभियाच न लिखिताः  
एव्याकृतोऽनुमर्त्याः ॥ ७८ ॥

म द नो म दि ग ची या म पा झा स्तो ज ये द यम् ।  
◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇ ◇  
म द नो य दि तत् ची य म न झा याझ् ज ति द दे ॥ ७९ ॥

### ॥ गोमूचिका ॥

मदन इति । अयं मदनः कामः मदिरे मन्त्राज्ञनके  
मन्त्रमध्यनमदृशं इति केचित् अलिङ्गो यामां ताम्तया तामा-  
मपाङ्गुरुपमस्तु यस्य तादृशः मन् यदि जयेत् मां पोडयेत्  
तत्तदा मर्दनो मम पापं चीणं स्यात् अताऽस्मै अनङ्गाय  
अच्छलिं दद नमस्कुर्यां कामपरतत्त्वतया रमणीभिः मव-  
टाचमीचितश्चेत् लतार्द्धा भवेयमित्यर्थः । अत्र विषमवर्त्ता-  
मेकरुपत्वम् ईदृशस्यले च वन्धुनिर्वितश्चाकाञ्जगार्द्धम् प्रथमा-  
चरमारभ्य पूर्वार्द्धे पठनीयम्, एवं पूर्वार्द्धप्रथमाचरमारभ्या-  
त्तरार्द्धे पठनीयं । यत्र च समवर्षनामेकरुपत्वं तत्र पूर्वार्द्ध-  
प्रथमाचरमारभ्यैव पूर्वार्द्धम् उत्तरार्द्धप्रथमाचरमारभ्यैव  
चोक्तरार्द्धे पठनीयं यथा ‘अजरामशुभाचारवस्त्रिक्षेपविजो-  
चिता । भुजङ्गमनिभामारकलिकाखजनोचिता’ इति । अत्र  
दितीयादिसमवर्षनामेकरुपत्वम् ॥ ७८ ॥

प्राङ्गरह्वभमं नाम शोकार्द्धभमणं यदि ।  
तदिष्टं सर्वतोभद्रं भमणं यदि सर्वतः ॥ ८० ॥

अथ दुष्करमेवार्द्धभमं सर्वतोभद्रस्त्र चित्रदयं स्त्रयति ।  
प्राङ्गरिति । शोकार्द्धभमणं शोकस्य बन्धलिखितशोकीयपाद-  
चतुष्यस्य अर्द्धनार्द्धमार्गेण अनुलोमप्रतिलोमरूपयोहचारण-  
मार्गयोर्मध्ये केवलमनुलोममार्गेणत्यर्थः, यदि भमणं भम-  
णेन पादेत्यितिसदा अर्द्धभमं नाम चित्रं प्राङ्गः, यदि च  
सर्वतोऽनुलोमप्रतिलोमाभ्यां भेमणं तदा तत् सर्वतोभद्रमिष्ट-  
मित्यन्वयः, अयमर्थः, बन्धदृशमिदं प्रादेणाद्याचरवृत्तविशेष-  
विषयं, तत्र मन्त्रिवेशप्रकारः, चतुःषष्ठिकोषात्मकेऽस्मिन् बन्ध-  
कमणाद्यपङ्किचतुष्ये पादचतुष्यं सेष्यम्, अनन्तरज्ञाधःस्य-  
पङ्किचतुष्ये चतुर्थतीयदितीयप्रथमपादा सेष्याः, तत्रार्द्ध-  
भमं अधःस्यपङ्किचतुष्ये परावृत्या सर्वतोभद्रे तु परावृत्या  
समावृत्या वा चतुर्थादिपादलिखनमितिविशेषः । तत्राद्वार-  
कमस्तु अर्द्धभमे ऊर्ढपङ्को वामाद्विषेषः अधःपङ्को दविषेष-  
द्वामतः, एवं वामस्यार्द्धकोषादधकमेण दविषेषाधकोषा-  
दृद्धकमेण चानुलोमाचारणेन प्रथमादिपादोत्थानं । सर्वतो-  
भद्रे तु वामाद्विषेषे दविषेषाद्वामतः ऊर्ढादधस्तः अध-  
स्तादृद्धतशानुलोमविलामाभ्यां सर्वत आवर्तनेन पादानामु-  
त्यानमिति ॥ ८० ॥

म	नो	भ	व	त	वा	नो	कं
नो	द	या	य	न	मा	नि	नो
भ	या	द	मे	या	मा	मा	वा
व	य	मे	नो	म	या	न	त
॥१॥	॥२॥	॥३॥	॥४॥	॥५॥	॥६॥	॥७॥	॥८॥
॥९॥	॥१०॥	॥११॥	॥१२॥	॥१३॥	॥१४॥	॥१५॥	॥१६॥
॥१७॥	॥१८॥	॥१९॥	॥२०॥	॥२१॥	॥२२॥	॥२३॥	॥२४॥
॥२५॥	॥२६॥	॥२७॥	॥२८॥	॥२९॥	॥३०॥	॥३१॥	॥३२॥

॥ अद्वैतमः ॥

तचाद्वभममुदाहरति । मनोभवेति । हे मनोभवं आम !  
 तत्र अनीकं सेनाहृषा मानिनो इयं मानवतो तत्र न न उद-  
 याय जयाय अपि तु उदयायेव, तवेष्युभयचाच्यि । ननु वि-  
 जिगोषारनीकमपराधिनं दण्डयति तत्र कात्र चिन्तेत्यत्राह,  
 हे भत ! नमस्कृत ! वयमेनोमयाः अपराधिनो मा वा न वा  
 हतापराधा वा न भवामः किन्तु भयात् अमेयोऽपरिमित  
 आमः पीडा चेषां ते, यद्यपि वयं नापराधिनः तथापि भयेन  
 व्याकुला जाताः स्म इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

सा	मा	या	मा	मा	या	मा	सा
मा	रा	ना	या	या	ना	रा	मा
या	ना	वा	रा	रा	वा	ना	या
मा	या	रा	मा	मा	रा	या	मा
मा	या	रा	मा	मा	रा	या	मा
या	ना	वा	रा	रा	वा	ना	या
मा	रा	ना	या	या	ना	रा	मा
सा	मा	या	मा	मा	या	मा	सा

॥ सर्वतोभद्रम् ॥

सर्वतोभद्रमुदाइरति । मेति । अत्र पदच्छेदः । मा, अमायामामाया, मामा, इति प्रथमे । मारानायायानारा-मत्यकमेव पदं दितीये । यानावारारावा, अनाया, इति दृतीये । माया, रामा, माराय, अमा, इति चतुर्थे । प्रेषितस्य विरहिणो विलपनमिदं । मा स्मर्यमाणा रामा रमणी मामा चन्द्रेण अमा मह 'क्षायास्त्रगधरो राजा मा:, इति चन्द्रपर्याये चिकापडशेषः । माराय विनाशाय, स्मर्यमाणा नाथिका हृष्मानस्त्रसालम्बमोहीपमविभावावुभौ संप्रति मम विनाशाय भवत इत्यर्थः, मा कोहृष्मी यतोऽमायस्या व्याजस्य अमस्यापरिमितस्य आमस्य पीडाया आय आगमनं

यथा मा, तथा मारः काम एव आनायो जास्तं बन्धनका-  
रित्वात् तस्यायानेनागमनेनारामः कीडा यस्याः, मारानाय-  
स्यायानं यतस्मादृश आरामो यस्या इति वा मा, तथा यानं  
गमनभावारयति निवारयतोति यानावारः तादृश आरावे  
वचनं यस्याः मा मधुरवचनभज्ञा विदेशगमनं निवारयनो-  
त्यर्थः, अतएव अनाया नायो नयमाद्भिता अकार्यंज्ञत्यर्थः  
नास्ति आयो गमनं यस्याः सेति केचित्, तथा मां लक्ष्मीं या-  
तोति माया अतिसुन्दरीत्यर्थः । इत्यं बन्धपु दुष्करा एव  
लक्षिताः खड्गादिवस्याख्वितः सुकरा इत्युपचिताः यस्या-  
न्नरतोऽनुमत्त्वाः ॥ ८२ ॥

यः स्वरस्यानवर्षानां नियमो दुष्करेष्वसौ ।

इष्टश्वतुःप्रस्तृत्येष दर्शयते, सुकरः परः ॥ ८३ ॥

अय कायशोभाजनकलेनालङ्घारतया प्राचीनैरभूपरम्भ्य  
स्वरादिनियमस्य बड्डभेदस्यापि दुष्करं भेदचतुष्टयं दर्शयति ।  
य इति । स्वरा अकारादयः, आनानि कण्ठादीनि एषां  
काये निवशामभावान्द्वावा वर्षा इत्यर्थः, तथा वर्षाश्च कण्ठ  
दक्ष्यत्वाद्यविशेषितवर्षमाचाणि, तेषां नियम इतरव्यवस्थेदे-  
नापादानं चतुर्भिरंव स्वरैः स्यान्वैर्षेवा निवन्धनमित्याद्यव-  
धारणमित्यर्थः तद्रूपो योऽलङ्घारः प्राचीनैरुक्त इति शेषः,  
अस्मै चतुःप्रस्तृति चतुरादि यथा स्वात्मया दुष्करेषु भन्ते  
इष्टोऽभिमतः यस्यबाहुल्यमित्या दुष्कराणामेव दर्शनाया

आवश्यकतात् चतुरादिस्तरस्यानवर्णनियम एव दुष्करतया  
दर्शयितुमुचित इत्यर्थः, चतुःप्रभृतीति दर्शत इति क्रियाया  
विशेषणं वा, तस्मादेष चतुरादिनियम एव दर्शते, परः पञ्च-  
षडादिनियममूः सुकरः सुकरतात् म न दर्शत इत्यर्थः ।  
चतुःप्रभृतीति प्रभृतिपदेन चयाणां द्वयोरेकस्य च यहणं तेन  
स्तरस्यानवर्णानां प्रत्यकं चतुरस्त्रिलोकनियमसृपाङ्गुलारो भेदा  
दर्शन्त इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

आम्नायानामाहान्त्या वाग्नीतीरोतीः, प्रीतीभर्तीः ।  
भेगो रोगो, मोदो मोहो, ध्येये धेच्छे देशे चेमे ॥ ८४ ॥

तत्र प्रथमं चतुःस्तरनियमसुदाहरति । आम्नायानामिति ।  
आम्नायानां वेदानामन्त्या वाक् उपनिषत् गीतीर्गानानि ईतीः  
अतिवृष्ट्याद्युपद्रवरूपा आह चित्तमोहकवादिति भावः,  
तथा प्रीतोः कल्पुचादिषु स्तेहान् भीतोर्भयजनिका आह  
वियोगादिना दःखदावत्वादिति भावः, तस्माङ्गागो गानादि-  
विषयानुभवो रोगो व्याधिरेव, तथा मोदो विषयानन्त्या  
मोहोऽज्ञानमेव, तर्हि विषयमङ्गं परिहत्य किं कर्त्तव्यमि-  
त्याह चेमे पुण्ये अनुपद्रवे वा देशे, ध्येये धातव्ये ब्रह्मणि, धेच्छे  
धानं मनःसमाधानं धाः इच्छा तदेकलिप्ता च ते कर्त्तव्ये  
इति शेषः । धेच्छे इति सयकारपाठे तु धा धानमिच्छा चेत्य-  
र्थः । अत्र आ हौ ओ ए इति चतुर्भिरेव स्तरैः पद्धनिवन्धनम् ।  
विष्णुमालावृत्तम् ॥ ८४ ॥

क्षितिविजितिस्थितिविहितव्रततयः परगतयः ।

उह रुद्धुर्गुरु दुधुवर्युधि कुरवः स्वमरिकुलम् ॥ ८५ ॥

चिस्वरनियममुदाहरति । चितोति । चितेर्विजितिर्विजयः  
स्थितेर्मर्यादाया विहितिर्विधानस्त्र ते एव ब्रतं तत्र रतिर्यथां  
ते ततस्य स्वजात्युचितकर्मकरणात् परा उत्तेष्ठा गतिर्दशा  
ज्ञानं वा येषां ते । 'गतिः स्तो मार्गदशयोर्ज्ञाने याचाभ्युपाय-  
योरिति मेदिनो । ईदृशाः कुरवः कुरवंशोयाः कुरुदशजा  
वा भृषाः युधि युद्धे स्वं स्वीयमरिकुलम् उह अधिकं यथा  
तथा रुद्धुरावृतवन्तः, गुरु मातिशयं यथा तथा दधुवः कम्प-  
यामासुः । अत्र ह अ उ हति त्रय एव स्वराः । लरितगतिर्व-  
त्तम् ॥ ८५ ॥

श्रीदीप्ती ह्रीकीर्त्ती धीनोती गोःप्रीतो ।

एधेते द्वे द्वे ते ये नेमे देवेशे ॥ ८६ ॥

दिस्वरमुदाहरति । श्रीदीप्ती इति श्रीर्लक्ष्मीर्दीप्तिः गंभा-  
च ते, ह्रीर्लक्ष्मा कीर्त्तिश ते, धीर्बुद्धिर्वीतिश ते, गोर्वाणो  
प्रीतिः मनोषस्त्र ते, एते दे दे ते तत्र एधेते वद्धेते, ये दे दे इमे  
देवेशे इन्द्रेऽपि न विद्यते । अत्र ई ए हति दाविव स्वर्गो । वाणो-  
वृत्तं 'सर्वं च हीर्घाणो वाणीति प्राक्ता मेति स्वचणात् ॥ ८६ ॥

सामायामामाया मासा मारानायायानारामा ।

यानावारारावानाया माया रामा मारायामा ॥ ८७ ॥

॥ स्वरनियमः ॥

एकस्त्रमुदाहरति । सेति । आकोऽथ सर्वतोभद्रोदाहरणेन पूर्वमुक्तस्त्रैव व्याख्यातः । अत्र आकार एवैकं स्वरः ॥ ८७ ॥

नयनानन्दजनने नक्षत्रगणशालिनि ।

अघने गगने दृष्टिरङ्गने ! दीयतां सकृत् ॥ ८८ ॥

अथ स्थाननियमं दर्शयन् प्रथमं चतुःस्थानमुदाहरति ।  
नयनेति । मानिनों प्रति नायकस्याक्रियां । हे अङ्गुने ! प्रश्न-  
स्त्राङ्गुवति । अघने मेघरहिते अतएव नक्षत्रगणशालिनि तत्  
एव नयनानन्दजनने गगने महादेवकवारमपि दृष्टिर्दीर्घतामि-  
त्यन्वयः । ईदृशगगनस्योदीपकलात् दर्शने जाते मानो न  
स्थास्तीत्यभिप्रेत्य दर्शनार्थं नायकस्थानुरोध इति भावः ।  
अत्र दक्ष्यतालयकण्ठ्यमूर्द्धन्यैरेव वर्णेन्विष्यमानत्वाच्चत्वार्थं व  
स्थानानि ॥ ८८ ॥

अनिनीनालकलतं कं न हन्ति घनस्तनि !

आननं नलिनक्षायनयनं शशिकालिते ॥ ८९ ॥

चिन्मानमुदाहरति । असोति । हे घनस्तनि ! कठिनकृते  
अस्त्रिनो भ्रमरास्तद्वीला अस्त्रकलता यत्र तत्, तथा नलिन-  
क्षाये पद्मसदृशे नयने यत्र तत्, तथा शशिन इव कान्तिर्थस्य  
तत् ईदृशं ते तव आननं कं पुरुषं न हन्ति न व्याकुलयति ।  
अत्र कण्ठ्यदक्षयतालयवर्णेन्वैरेव गिब्भनमिति चोष्येव स्था-  
नानि ॥ ८९ ॥

अनङ्गलङ्घनालङ्घनानातङ्का सदङ्गना ।

सदानघ ! सदानन्दनताङ्गासङ्गसङ्गतः ॥ ८० ॥

दिष्यानमुदाहरति । अनङ्गेति । भार्यामनादृत्य गीत-  
वाचादिप्रमोदेन कालं गमयन्ते सखायं प्रति कर्मचिदपा-  
लभ्यन्मिदं । हे सदानघ ! मर्वमिहपि समये व्यापारहित ।  
निर्जिन्नेत्यर्थः, तथा हे सदानन्दनताङ्ग ! सदा आनन्द आ-  
नन्दकरं कर्म गीतवादनादिः तत्र नतं प्रवर्णं व्यापृतमित्यर्थः  
अङ्गं गाचं यस्य स तथा तत्पराधनं, नास्ति मङ्गो यथां तेऽमङ्गा  
दुर्जनास्तेषां सङ्गतः मर्यकात् मतो चामावङ्गना चेति सदङ्गना  
साध्यपि स्तो अनङ्गस्य कामस्य लङ्घनया आकर्मणं लग्नाः  
मभवन्तो नाना बङ्गविधा आतङ्का यस्यास्तादृशो भवति  
भर्वविरहिता हि स्तो साध्यपि दर्जनमङ्गात् सदाया भवति  
तु मर्हति तस्मादृथाप्रमोदं परिहत्य भार्यानुको भवति  
भावः । अत्र पाठान्तराण्यनुपादेयानीत्युपेचितानि । कृ-  
कण्ठदक्षिणैव वर्ष्णिन्वन्धनमिति दिष्यानता ॥ ८० ॥

अगा गाङ्गाङ्गकाकाकगाहकाघककाकहा ।

अहाहाङ्ग खगाङ्गागकङ्गागखगकाकक ॥ ८१ ॥

॥ स्थाननियमः ॥

एकस्यानमुदाहरति । अगा हति । कर्मचिदिहितवङ्ग-  
तीर्थमष्टस्य सुतिरियं । पदच्छेदो यथा । अगाः, गां, गाङ्ग-

काकाकगाहक, अघककाकहा, इति प्रथमाहुँ । अहाहाङ्ग, खगाङ्गागकङ्ग, अगखगकाकक, इत्युच्चराहुँ । तदयमन्वयः । हे गाङ्गकाकाकगाहक ! गङ्गाया इदं गाङ्गं यत् कं जलं तस्य आकाकः मशव्दकुटिलगमनं ‘कै शब्दे इत्यसादाडपूर्वाङ्गवे विष्णु, आकाः तस्महितोऽकः ‘अक् कुटिलायां गतावित्यस्माङ्गावे उः’ आकाकमरङ्ग इत्यर्थः तं गाहत इति गाङ्गकाकाकगाहकस्तस्मोधनं, निन्दितान्यघानि पापान्यघकानि ‘कुत्सायां कः’ तान्वोपद्रवहेतुलात् काका वायसाः तान् इन्नोति अघककाकहा तादृशस्वं गां पृथिवीम् अगा गतवान् प्रद-चिणीकृतवानित्यर्थः । अतस्य पापकृतविषादाभावात् हे अहाहाङ्ग ! चार्हेतिदीनध्वनिगङ्गति गच्छतीति हाहाङ्गः ‘अगि-गत्यामित्यस्य एष्टि रूपं’ तद्द्विनोऽहाहाङ्गस्तस्मोधनं । तया हे खगाङ्गागकङ्ग ! खे आकाशे गच्छन्तीति खगाः सृथ्यादयः ते अङ्गाश्चिङ्गानि यस्य तादृशा योऽगः पर्वतः सुमेहरित्यर्थः तं कङ्गते गच्छतीति खगाङ्गागकङ्गः ‘ककि गत्यामित्यस्य एष्टि-रूपं’ तद्वामोधनं, पुण्यप्रभावेन सुमेहर्पर्यन्तगामिन् स्वर्गसुखव-भिजापिन्निति वार्यः । तया हे अगखगकाकक ! अगन्ति कु-टिलं गच्छन्तीत्यगानि यानि खानोन्द्रियाणि तानि गच्छति कारणतया प्राप्नोतीति अगखगं तादृशं यत् कं मुखं तस्मै न ककते चपलोभवतोति अगखगकाककः ‘अक् गर्वच्छालौच्ये-वित्यस्य रूपं’ तस्मोधनम्, इन्द्रियजन्यसुखायालोलुपेत्यर्थः । अत्र कर्णेत्रे व वर्णनिवन्धनमित्यकस्यानता ॥ ८१ ॥

रे रे रोहुरुहुरोहुगागेगोऽगाङ्गेऽगगुः ।

किं केकाकाकुकः काको मामा मामम मामम ॥ ८२ ॥

अथ वर्णनियमान् दर्शयन् प्रथमं चतुर्वर्णमुदाहरति । रे रे इति । बङ्गपण्यायाः कस्याद्विदाराङ्गुणायाः स्वमभिन्नत्वं कस्त्रित् पुलिन्दं प्रति देषाकिरियं । रे रे इति नीचमनोधने । रे रे मामम ! मा लक्ष्मीस्त्वां मम ममता यस्य मः तस्माधनं, ममेत्यव्ययं धर्मपरोऽयं निर्देशः, दरिद्रलात् धनव्यये लक्ष्मीरोत्यर्थः । मायाम् अममत्वं यस्येति विश्वस्त्र लक्ष्मीशुभूत्येति । इति केचित् । मामेति नियेधे मम्भ्रमे द्विवेचनं, त्वं मां त्वां अम गच्छ उपमर्पत्यर्थः । इति चतुर्थपादस्यार्थः । य एकाको वायमः किं केकाकाकुको भवति अपि तु नैव, के मयूरधनिः तस्याः काकुर्मदक्षता विकारः तां कायति दयति शब्देन प्रकाशयतीत्यर्थः । इति केकाकाकुकः ‘आदर्शवादहृ’ काको यथा केकाकाकुमधिगन्तु नार्हति तस्य त्वं मामत्यर्थः । इति हतीयपादार्थः । विकृष्टकार्यकारित्वादपि त्वं न मे याग्य इत्याह त्वं रोहुरुहुरोहुगागेगः ‘रोहुयते भयेन भृशं पुः पुनर्ब्र्वा रौतोति रोहः ‘रौतेर्यनन्नात् किप् कौय इति यमोपातादृशो या रुहस्त्रगविशेषः तस्यारम्भा वत्सो या रुक् शरविधक्तपोडा तद्रूपमागः पापं तद्वच्छति प्राप्नातोति रोहुरुहुरोहुगागेगः निरपराधजीविंसकत्वात् पापात्मत्यर्थः । निकृष्टदेशवामित्वाच त्वं न मे याग्य इत्याह अगाङ्गः अगम पञ्चतस्याङ्गमेकदेशं गच्छतोति मः पञ्चतीयत्वादविदग्ध इत्यर्थः ।

असम्बद्धप्रलापित्वाच लं न मे योग्य इत्याह अगगुः न गच्छति  
सम्बद्धविषयं न प्राप्नोतीत्यग्ना तादृशी गौर्वाणी यस्य सः,  
अगतीत्यग्ना कुटिला गौर्यस्येति केचित् । अत्र रगक म इति  
चतुर्भिरेव वर्णनिवन्धनमिति चतुर्वर्षता, वर्णपदञ्च वृत्तपूरक-  
वर्षपरं तेजाङ्केत्यत्र डंकारमङ्गवेऽपि न चतुर्वर्षनियमव्या-  
घातः तस्य वृत्तपूरकत्वाभावादिति बोध्यम् । उदाहरणे चा-  
स्मिन्द्वितवर्षचतुष्टयेन पादचतुष्टयनिवन्धनादयमेव नि-  
यम इति न मन्त्रयं सव्यवधाननिवेशेऽपि चतुर्वर्षनियमानपा-  
यात् यन्महता तु केवलं ग्रन्थिप्रदर्शनार्थमेवं निवद्धमिति ज्ञे-  
यम् ॥ ८२ ॥

देवानां नन्दनो देवो नादनो वेदनिन्दिनः ।  
दिवं दुदाव नादेन दाने दानवनन्दिनः ॥ ८३ ॥

चिवर्षमुदाहरति । देवानामिति । देवानामिन्द्रादीनां  
नन्दनो दैत्यगणदमनात् सन्तोषणः तथा वेदनिन्दिनो वदान्  
निन्दयतो नास्तिकजनस्य नोदनो निराकर्त्ता, देवो नरमिह-  
रूपो भगवान् विष्णुः, दानवान् इन्द्रादिजयादिना नन्दयतोति  
स तथा तस्य दानवनन्दिनो हिरण्यकशिपार्दाने खण्डनममये  
'दाऽउखण्डने इत्यस्य रूपं' नादेन तारतरमिहनादेन कुवा  
दिवमाकाशं दुदाव उपतापितवान् अन्तरिक्षचरान् सच-  
कितांशुकारंत्यर्थः । अत्र द व न इति चिभिरेव वर्णनिवन्धन-  
मिति चिवर्षता ॥ ८३ ॥

चरिः सुरासुरासारिसारः सारससारसाः ।  
ससार सरसीः सीरी सद्गुरः स सुरारसी ॥ ८४ ॥

दिवर्खमुदाहरति । सुरिरिति । बलदेवस्य जलकोडाप्रक-  
रणीयस्त्रिकोडयं । सुरिः पण्डितः, तथा सुरासुरान् देवदैत्या-  
तपि आमन्त्रमाक्षमितुं शीलं यस्य तादृशः मारी बलं यस्य मः,  
सुरासुरासारिसारः, तथा शोभनावृहु सूरु ताभ्यां मह  
वर्त्तमानः मसुरः, तथा सुराया मद्यस्य रम आम्बादाम्बास्त्रिति  
सुरारसी, स प्राकरणिकः प्रसिद्धो वा भीरी बलदेवः आर-  
मन्त्र मधुरशब्दं कुर्वन्तोत्यारसा ये मारमाः पचिविशेषाः ते  
सह वर्त्तमानाः मारमभारमास्तादृशीः मरमीः मरांमि ममार  
विहन्तुं जगाम । अत्र मर इति दाभ्यामेव वर्णाभ्यां निवन्धन-  
मिति दिवर्खता ॥ ८४ ॥

नृनं नुन्नानि नानेन नानेनाननानि नः ।  
नानेना ननु नानुनेनेनानानिनो निनोः ॥ ८५ ॥  
॥ वर्षनियमः ॥

एकवर्खमुदाहरति । नूनमिति । प्रबलरिपुपराजितस्य क-  
स्यचिन्त्यपतेः सेन्यानां देलोकिरियम् । अत्र पदच्छेदः, नूनं  
नुन्नानि, न, अनेन, न, आननेन, अननानि, नः, इति पृष्ठाद्द्वे ।  
न, अनेनाः, ननु, ना, अनुनेन, एनेन, अनान्, इनः, निनोः,  
इत्युत्तराद्द्वे । अनेन विजयिना रिपुला कर्त्ता आननेन भुकुटि-

मता मुखेनैव कृत्वा जोऽस्माकम् अननानि प्राणाः नूनं निश्चितं  
न न नुनानि अपशीतानि अपि तु नुनान्वेत् च स्य मुखमेव  
इष्ट्वा वयं स्मृतप्रायाः का कथा युद्धप्रहारादिनेत्यर्थः, इति  
पूर्वाद्वार्थः । ननु भाः ‘सैन्यानां बन्धूं प्रति सम्बोधनमिदम्’  
अनूनेन प्रवल्लेन एनेन एतेन रिपुणा हेतुना अस्मादित्यर्थः  
‘इदमश्च कथितानुकृथने द्वितीयाटौःवेनः’ इत्यनेन इदम  
एनः । इनो ना अस्माकं प्रभुः पुरुषः अनान् प्राणान् निनोः  
नेतुमिच्छुः द्वाणवल्लनादिना रचितुमिच्छुः सत्रित्यर्थः, ‘नि-  
नीरिति नीजः मनन्तस्य किपि रूपं’ न अनेनाः अपापो न भवति  
शत्रुविजितस्य ययाशक्ति युद्धेनैव मरणं श्रेयो न पुनर्स्त्वानु-  
वृत्त्या प्राणरक्षणमिति भावः । अत्र केवलं नकारेणैव निवन्धन-  
मित्येकवर्णनियमः ॥ ८५ ॥

इति दुष्करमार्गेऽपि कश्चिदादर्शितः क्रमः ।  
प्रहेन्निकाप्रकागणां पुनरुद्दिग्धते गतिः ॥ ८६ ॥

अथ दुष्कररचित्वमुपमंहरन् प्रहेन्निकामवतारयति । इतीति ।  
कश्चिदिति स्वल्पतर इत्यर्थः, अन्येऽपि दुष्कराश्चिनालङ्घाराः  
पश्चादिवन्धक्रियाकारकगुप्त्यादयः प्राचीनेन्हकाः सन्ति यन्य-  
षाङ्गल्यभिया ते नोकाः यन्यान्तरतो ज्ञातव्या इत्यर्थः ।  
प्रहेन्निकेति प्रहेन्निकायाः प्रकाराणां विशेषाणां गतिर्लक्षणम्  
उद्दिग्धते उद्देशपूर्वकमुच्यते विशेषा उद्दिग्धते तेषां स्त्रेण-  
स्त्रोच्यत इत्यर्थः, सामान्यलक्षणतु प्रसिद्धत्वास्त्रोक्तं यन्यान्तरतो

ज्ञातव्यं यथा 'प्रहेलिका तु सा ज्ञेया वचः मन्दृतिकारि  
यदिति' अभिप्रेतार्थसंवरणकारिवचनविच्चामः प्रहेलिकेति सा-  
मान्यलक्षणम् ॥ ८६ ॥

क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्षमन्तरे ।  
परव्यामोहने चापि सेपयोगा प्रहेलिकाः ॥ ८७ ॥

ननु प्रहेलिकाया यमकादिवत् सम्यक् गच्छापस्कारं तता  
नाभिः प्रत्युत प्रकृतार्थसंवरणात्मकलाच्च रसप्रातिकृत्यमतएवास्या  
अलङ्कारत्वमपि नाह्नोकृतमन्तेः यदुकं 'रसस्य परिपन्थित्वा-  
न्नालङ्कारः प्रहेलिकेति' तत् कृत्वास्या उपयोग इत्यवाह ।  
क्रीडेति । क्रीडार्था या गोष्ठी सभा तत्र विनोदाः संनाप-  
भज्ञा प्रमोदास्तेषु, यदा मिथोवाक्चातुरीकौतुकं कोडा,  
विद्यधानामामनवस्त्रो गोष्ठो, काण्डामापेन कालहरणं विनोदाः  
अतएव काटमर्थां 'कदाचिदत्तरच्युतकमाचाच्युतकविन्दुमनो  
गृद्धचतुर्थपादप्रहेलिकाप्रदानादिभिरित्युक्तं तेषां इदं एषु,  
तथा तज्ज्ञैः प्रहेलिकाभिज्ञैः सह आकीर्ष जनसङ्कले दंशं य-  
न्मन्त्रणं गुप्तभाषणं तस्मिन्, तथा परस्य द्यादुव्यभिन्नम्य व्या-  
मोहने अपरिज्ञात्वप्रतिपादने च प्रहेलिकाः सेपयोगाः  
सप्रयोजनाः, तस्मात् क्रीडाद्युपयोगित्वादस्या अलङ्कारत्वम्  
अन्यत्र तु दोष एवेति विध्यम् ॥ ८७ ॥

आङ्गः समागता नाम गृद्धार्था पदमन्धिना ।  
वच्चितान्यत्र छढेन यत्र शब्देन वस्त्रना ॥ ८८ ॥

प्रहेलिकाप्रकाराश्चादुष्टा दुष्टाश्च, तत्रादुष्टानामेव षाड-  
शानां पश्चाददाहरणैः परोचां दर्शयिष्यन् प्रथमं सोहृष्णं  
स्वचलमाह । आङ्गरिति । पदयोः सविना सान्निध्यजनित-  
सर्व्यकार्यदीर्घादिना गूढो दुर्बोधार्थो यत्र तां समागतां  
नाम प्रहेलिकामाङ्गरित्यन्वयः । अत्र पश्चादद्यमाणानां सर्वेषां  
प्रथमान्तत्वात् समागतामित्यत्र द्वितीयान्तता प्रकमभङ्गमा-  
वहति तस्मादाङ्गः समागतां नामेत्यादिपाठे लिपिकरप्र-  
मादकृतः संयं समागता नामेत्यादि पठनीयं । तथा अन्यत्र  
विवक्षितभिन्ने रुद्धेन प्रसिद्धेन शब्देन यत्र वञ्चना प्रतारणा सा  
वञ्चिताख्या ॥ ८८ ॥

युक्तान्तानिव्यवहितप्रयोगान्मोहकारिणी ।  
सा स्यात् प्रमुषिता यस्यां दुर्बोधार्थो पदावली ॥ ८९ ॥

युक्तान्तेति । अतिव्यवहितानामत्यनामन्तपदानां प्रयोगात्  
मोहकारिणी वोद्धुर्गर्थयहवैभुव्यमस्यादिका मंटतिकारित्वाक्  
युक्तान्ता युक्तान्ताख्यत्यन्वयः, अत्र किञ्चिज्ञावधानेन प्रयोगो  
न तथा माहयतीत्यतिशब्दप्रयोगः, आसन्तिश्चाच्यवोध-  
हेतुः तद्युपकमलङ्घनाङ्गुक्तान्तिसंज्ञा । सा स्यादिति । दु-  
र्बोधाः तत्तदर्थेषु तत्त्वदानां प्रयोगप्रसिद्धिरहितत्वात्  
दुर्बोध बोधा अर्था यस्यास्तादृशो पदावली पदमूहः न त्वेकं  
पदं सा प्रकर्षण वोद्धुर्मुषितत्वमस्यादनात् प्रमुषिता, निरुक्त-  
वञ्चितायान्तु एकं पदं दुर्बोधार्थमित्यतोऽनयोर्भेदः, किञ्च

वस्त्रितार्था नानार्थस्य पदस्थाप्रसिद्धेर्थं प्रयोगः अत्र तु पदा-  
नेकार्थानीत्यतोऽपि भेदः ॥ ८८ ॥

**समानहृषा गौणार्थारोपितैर्थ्यथिता पदैः ।**

**परुषा लक्षणास्तित्वमाचव्युत्पादितश्रुतिः ॥ १०० ॥**

समानहृषेति । गौणार्थपु साध्वसानगौणलक्षण्या वेष्या-  
र्थपु आरोपितैर्नक्षणाप्रयोजनोभूतारार्थाभूदप्रतीनिजनदत्तथा  
प्रयुक्तैः पदैर्थ्यथिता निवद्वा मंटृतिकारिवाक् सदृशयोः शक्य-  
लक्ष्यद्यार्दयोः समानहृषपतानिवन्धनत्वात् समानहृषा स्यात् ।  
परुषेति लक्षणस्यानुशासनस्यास्तित्वमाचेण तदर्थेऽस्य गौक्रियसि-  
न वेत्यविविच्य केवलमनुशासनमस्तीति कृत्वा व्युत्पादिता श्रुतिः  
शब्दो यत्र तादृशो वाक् पारुष्येण प्रयुक्तत्वात् परुषा स्यात् ॥  
॥ १०० ॥

**सङ्घाता नाम सङ्घातं यत्र व्यामोहकारणम् ।**

**अन्यथा भासते यत्र वाक्यार्थः सा प्रकल्पिता ॥ १०१ ॥**

सङ्घातेति । यत्र सङ्घातं वर्णानां गणना यदा प्रयुक्तमानः  
सङ्घाताचक्षव्दा व्यामोहकारणं श्रातुद्दितिनिश्चयाभावेन  
विशेषेण मात्रं जगयति मा सङ्घातघटितत्वात् सङ्घाता । अन्य-  
थेति यत्र वाक्यार्थाऽन्यथा भासते आपाततः प्रतीयमानाद-  
र्थादन्यप्रकारेण पर्यवसानं प्राप्य शोभां गच्छति सा अन्यार्थस्य  
प्रकल्पनात् प्रकल्पिता स्यात् ॥ १०१ ॥

सा नामान्तरिता यस्यां नाम्नि नानाथकल्पना ।  
निभृता निभृतान्यार्था तुल्यधर्मसुशा गिरा ॥ १०२ ॥

मेति । नाम्नि संज्ञाविशेषे ज्ञातव्ये यस्यां नानार्थानां कल्पना शब्दस्य नानार्थमहोत्तितत्वात् बहुनामर्थानां विकल्पगं घटते मा नामान्तरेणान्तरितार्थविषयत्वान्वामान्तरिताख्या । निभृतंति । तुल्यधर्मसुशा प्रकृताप्रकृतयोः माधारणधर्मं प्रतिपादयन्या गिरा वाक्येन निभृतो गोपितेऽन्यार्थः प्रकृतार्थाय च मा निभृताख्या, अस्याद्यानुपात्तस्य प्रकृतस्य माधारणविशेषणमहित्वा सुध्यमानतात् समासाक्षिमूलकूलं बाध्यम् ॥ १०२ ॥

समानशब्दोपन्यस्तशब्दपर्यायसाधिता ।  
संमूढा नाम् या साशान्निहित्यार्थापि मृढये ॥ १०३ ॥

समानशब्देति । उपन्यस्तेन शब्दस्य प्रकृतार्थवोधकपदस्य पर्यायेण स्वार्थवोधकनामान्तरण साधिता निवद्धा वाक् समानशब्दाख्या स्यात् । अत्र पर्यायता च लक्षितत्वणादिनैकार्थवोधकता न त्वमरतिर्जुरादिवदेकार्थशक्ता तथात् अर्थस्य संवरणीयत्वाभावेन ग्रहीत्विकात्यानुपपत्तरिति बाध्यम् । संमूढेति । साचात् वाचकशब्देन निर्दिष्टार्थापि कथितार्थापि या वाक् मृढये आपाततां साहाय भवति मा संमूढा नाम ॥ १०३ ॥

योगमालात्मिका नाम या स्वात् सा परिहारिका ।  
एकचक्षुश्चाश्रितं व्यक्तं यस्यामाश्रयगोपनम् ॥ १०४ ॥

योगेति । या वाक् 'नामेति प्राकाशे, योगानां योगिक-  
शब्दानां माला परम्परा सैवात्मा स्वरूपं यस्याः सा योगिक-  
शब्दपरम्परया एकेकछडपदप्रतिपाद्यार्थानां वाधिकेत्यर्थः,  
मा परिहारिका स्वात्, हारो मुक्तामाला तां परिगतेति यु-  
त्पत्त्या मुक्तामालामद्योगिकशब्दमालारूपत्वादन्वर्यता, यदा  
परिहरति इटिति प्रकृतार्थवाधि निवारयतोति परिहारिका,  
अत्र योगमालात्मकं नाम यस्याः भेति पाठस्तु न मनोरमः ।  
एकेति । यस्यामाश्रितमाधियमेत्र व्यक्तम् आश्रयस्याधारत्वं गोपनं  
मा एक आश्रयच्छन्नो निगृहितो यत्वेति व्युत्पत्त्या एकचक्षुश्चा-  
ख्या ॥ १०४ ॥

सा भवेदुभयच्छन्ना यस्यामुभयगोपनम् ।  
सङ्कोर्षा नाम सा यस्यां नानानक्षणसङ्करः ॥ १०५ ॥

मेति । यस्यामुभयोराश्रिताश्रययोर्गोपनं मा उभयम् आ-  
श्रिताश्रययार्दयं क्वनं यत्वेति व्युत्पत्त्या उभयच्छन्नास्या भवेत् ।  
सङ्कोर्षेति । यस्यां नानानक्षणानां समागतादिपञ्चदशप्रभदा-  
नां सध्यं दिव्विचतुरादीनां सङ्करः साहित्येनावस्यानं मा  
सङ्कोर्षा नाम भवेत् । एवं षाडश प्रभेदाः प्रहेत्यिकाया उद्दि-  
ष्टास्तन्त्रक्षणेन सर्विताख्य ॥ १०५ ॥

एताः षोडश निर्दिष्टाः पूर्वीचार्यः प्रहेलिकाः ।  
दुष्टप्रहेलिकास्तान्यास्तैरधीतास्तुर्दश ॥ १०६ ॥

एता इति । एताः समागतादयोऽदृष्टाः, षोडशेति शुद्ध-  
सङ्कोर्लभेदेनेत्यर्थः, अदुष्टत्वाच्चायापि इर्शिता इति भावः । तैः  
पूर्वीचार्येरेव, अन्याः च्युताच्चरादन्नाच्चराच्युतदन्नाच्चराविन्दु-  
सतीप्रभृतयः इति केचित्, गुप्तादीनामणवैवान्तर्भाव इत्यन्ते,  
अधीताः पठिताः ॥ १०६ ॥

दोषानपरिमङ्ग्लेयान् मन्यमाना वयं पुनः ।  
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वनक्षणाः ॥ १०७ ॥

ननु दुष्टप्रहेलिकाः पूर्वीचार्येरुक्तास्तेच्चयाप्यनन्तरमुच्चेर-  
न्नित्यत्राह । दोषानिति । अपरिमङ्ग्लेयानलाधिकान् तासां  
दोषान् अत्यन्तशाङ्क्वाधप्रतिवन्धकलह्यपान् मन्यमानाः दोष-  
वाङ्मन्यादनङ्कारत्वाभावं जानन्त इत्यर्थः साध्वीरेव दोषवा-  
ङ्मन्याभावेनाजङ्कारत्वमापन्नाः समागताद्याः षोडशेवाभिधा-  
स्याम उदाहरिष्यामः, अत्राभिधानमुदाहरणेन परोक्षा न  
तृद्देशो स्त्रियां वा तथारुक्तवेन अभिधास्याम इतिभविष्यत्प्र-  
यागानुपपत्तेः । ननु तर्हि शिष्याणां कथं दुष्टप्रहेलिका-  
परिज्ञानं स्वादित्यत्राह, ता इति । यास्तु प्रहेलिकाः अस्त-  
क्षणाः निहक्षसमागतादिलक्षणशून्याः ता दुष्टाः निहक्षस्त्वय-  
शून्यसंष्टिकारिवचनं दुष्टप्रहेलिकेत्यर्थः ॥ १०७ ॥

न मयागोरसाभिज्ञं चेतः, कस्मात् प्रकुप्यसि ।  
अस्यानहृदितैरेभिरलमालोहितेत्तते ॥ १०८ ॥

तत्रादृष्टाः षोडश कमेणोदाहरन् प्रथमं ममागतामुदाहरति । नेति । जनममाजे मानिनों गोपों मानवयतः श्रोकृष्णस्याक्रियं । हे आलोहितेचले ! कस्मात् प्रकुप्यसि, तत्र एभीर्गृहैरस्यानहृदितैरलं, यतो मया गोरसो दृग्धादिस्याभिज्ञं चेतो न, अत्र धार्यत इत्यध्याहृतेन मङ्गतेन क्रियापदेनात्मयः, तत्र दृग्धाद्यपचयो मया न कृतः कथं त्वं कुप्यसि रादिपि चेत्युदामीनबोधः संवरणकारी प्रथमोऽर्थः, अत्र सम्मुमात् क्रियापदं नोक्तमिति अध्याहृतेन धार्यत इति क्रियापदेनात्मयबोधं कुर्वन्त उदामीनाः अनेनास्या दृग्धाद्यपचयः कृतमादर्थमियं कुपिता रादितीति जानन्त्वति वाक्यस्य संवरणकारिता, प्रकृतार्थम् मे मम चेतः आगोऽपराधः नायिकान्तरमङ्गादितस्य रसे आस्तादे अभिज्ञं न तदितरां चेतमापि नाकार्त्त त् कथं कुप्यसि मानिनो भवसीति । अत्र मे आगोरसाभिज्ञमित्यत्र मन्त्रिकार्येण एकारस्यायादेशेन मयागोरसेत्यादि जातं तेनैव प्रकृतार्थी गूढः ॥ १०८ ॥

कुञ्जामासेवमानस्य यथा ते वर्हते रतिः ।  
नेवं निर्विश्वतो नारोरमरस्त्रोविडम्बिनीः ॥ १०९ ॥

विद्यतामुदाहरति । कुञ्जामिति । कान्यकुञ्जनगर्यां तत्रत्यनार्यां दानुरकं प्रति कस्यचिदुक्तिरियं । कुञ्जां भुग्नपृष्ठां काञ्जि-

शारीमासेवमानस्य उपभुज्ञानस्य ते तव यथा रतिशनुरागो  
वर्द्धते एवं तथा अमरस्त्रोविडम्बिनीर्दिवाङ्गनामहृशीर्णारीर्नि-  
र्विश्वत उपभुज्ञानस्य ते रतिर्न वर्द्धते इति प्रथमोऽर्थः । संव-  
रणीयार्थस्तु कुञ्जां कान्यकुञ्जाख्यनगर्णे तत्त्वगमणीमेत्यादिः,  
अत्र कुञ्जाशब्दो भुग्नपृष्ठनार्थासेव प्रसिद्धः विवचितायां कान्य-  
कुञ्जनगर्णां तदत्पत्रनार्थां वा न तथेत्यप्रसिद्धार्थस्य निष्पुणमति-  
बाधतया संवरणम् ॥ १०८ ॥

दण्डे चुम्बनि पद्मिन्या हंसः कर्कशकण्ठके ।  
मुखं वल्लुरवं कुर्व्वस्तुपद्मेनाङ्गानि घट्टयन् ॥ ११० ॥

द्युक्तान्नामुदाहरति । दण्डिर्विनि । कर्कशकण्ठके पद्मिन्या  
दण्डे नाले अङ्गानि घट्टयन् घर्षयन् तथा वल्लुरवं कुर्व्वन् हंसः  
तुण्डेन मुखेन पद्मिन्या मुखं चुम्बतीति योजना, तदियमन्वय-  
बाधतेतोरामन्तर्विशेषेणातिकमाङ्गुल्कान्ना ॥ ११० ॥

खातयः कनि ! काले ते स्फातयः स्फार्द्ववल्लावः ।  
चन्द्रे साक्षाङ्गवल्लन्यन्त्र वायवो मम धारिणः ॥ १११ ॥

प्रमुषितामुदाहरति । खातय इति । हे कनि ! कन्ने !  
'कन्या कमी कुमारी चेति हेमचन्द्रः' ते तव कान्यते प्रचिष्ठते  
यः स कालः पादः 'कल प्रेरणे इत्यस्य चारादिकस्य कर्मणि  
घणि रूपं' तस्मिन् खातयः खमाकाशं खस्यायं गुणः खः शब्द-  
इत्यर्थः, अतनस्म् अतिः 'अत् सातत्यगमने इत्यस्य भावे इड़'  
खस्य शब्दस्य अतिर्गमनं येषु ते तथा शब्दकारिनूपुराद्यसङ्गारा

इत्यर्थः ‘कुद्रघण्टिका इत्यन्ये’ ते स्फातयः स्फायम् स्फाः वृद्धि-  
रित्यर्थः, तस्या अतिर्गमनं यत्र ते स्फीता इत्यर्थः प्रभृता इति  
यावत्, तथा स्फां स्फीततामहतीति स्फार्हः वल्लानाञ्जातो ष्वनि-  
वल्जुः स्फार्ही वल्जुर्येषां ते गमनवशात् तत्र पादं नृपुराद्यन्त-  
ङ्काराः अधिकं शिङ्गितं कुर्वन्तीत्यर्थः, चन्दति आङ्गादयतीति  
चन्द्रमस्तित्वं अत्र ईदृशे संशिङ्गितनपुराद्यन्तङ्कारवतीत्यर्थः तत्र  
पादे मात्रात् प्रत्यक्षोक्ते सति मम वायवः प्राणाः धारिणा-  
उवस्थिता भवन्ति ‘धृड़ अवस्थाने इत्यस्य रूपम्। अत्राप्रभिद्वा-  
र्द्धर्वज्जभिः पदैः श्रावणां प्रमोषणात् प्रमुखितेयं ॥ १११ ॥

अत्राद्याने मया दण्डा वक्त्री पञ्चपञ्चवा ।

पञ्चवे पञ्चवे ताम्रा यस्यां कुसुममञ्चरी ॥ ११२ ॥

समानरूपामुदाहरति । अत्राद्यान इति । वक्त्री लता ।  
अत्रयः सुगमः, अत्राद्यानलेन नायिकाया दंहः, वक्त्रीलेन  
बाङ्गः पञ्चवलनाङ्गुलयः, कुसुममञ्चरालेन नखा अधारिताः,  
नखानां ताम्रता च ताम्राङ्गुलिमंमर्गात् ॥ ११२ ॥

सुराः सुरालये स्वैरभमन्ति दशनार्चिषा ।

मञ्जल इव मत्तास्ते सौरे सरसि संप्रति ॥ ११३ ॥

परम्पामुदाहरति । सुरा इति । सुरा मद्यं तां कुर्वन्तीति  
सुराः शौणिडिकाः ‘नामणिडल्लात् सुरागद्वात् पचादिलाल्  
डः’ यदा सुरा एषामसीति सुरापायिनः, दशनार्चिषा रा-  
स्येन विवृतमुखतया निष्ठतेन दलकिरणेनोपलक्षिताः, सुराया

इदं मौरं तस्मिन् सरसि मञ्जन इव मन्त्राः मन्त्रः सुरा-  
स्ये मद्यग्रहे स्वैरं भ्रमन्ति इत्यर्थं संवरणीयोऽर्थः, अत्र सुरा  
इति पदं देवमसूह एव शक्तम् अनुशासनस्यान्तिक्षमात्रमवलम्ब्य  
सुराकारकं पु तत्यार्थियु चाशक्तमपि प्रयुक्तं तदियं प्रयोक्तुः  
पाहृथ्यप्रकाशनात् प्रस्था ॥ १३ ॥

**नामिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता ।**

**अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवण्णाङ्गया नृपाः ॥ १४ ॥**

सङ्क्षातामुदाहरति । नामिक्यमधेति । काचित् पुरी नगरी  
अस्ति कीदृशी नामिक्यत्यादिः, अत्र काञ्ची इति संवरणीयो-  
र्थः तथाहि नामिकायां भवो नामिक्यः प्रकृते अकारः स  
भ्ये यस्याः मा, तथा पर्गितः मर्वतः समुदायत इत्यर्थः चतु-  
र्भिर्वर्णः क आ च ई इति चतुर्भिर्गच्छैः नामिक्यत्रकारमहितैः  
पञ्चभिरित्यर्थः, विभूषिता यथिता, ईदृशी काञ्चीत्येव, मञ्जा-  
मञ्जिनोरभद्रोपचारात् पुर्या विशेषणददयं । यस्यां पुर्याम् अष्टौ  
वर्णां अचराणि यत्र तादृश आङ्गयो नामयेषां तादृशा नृपा  
आसन्, एतेन पुण्ड्रकनामानो नृपा इत्यायातं पुण्ड्रकशब्दस्य  
पउण्ड्रडर अक अ इत्यष्टभिर्वर्णनिर्बद्धः पुण्ड्रकवंशा नृपास्य  
काञ्चां पूर्वमामविति प्रसिद्धिः, अत्र चतुरष्टेति वर्णसङ्क्षानेन  
आदृणां भोहनादियं सङ्क्षाता ॥ १४ ॥

**गिरा स्खलन्त्या नम्रेण गिरसा दीनया दृशा ।**

**तिष्ठन्तमपि सेत्कम्यं वृद्धे ! मा नानुकम्यसे ॥ १५ ॥**

प्रकल्पितामुदाहरति । गिरेति । हे वृद्धे ! अविरे ! वार्द्ध-  
क्येन स्वलन्धा गिरा नम्रेण शिरमा दीनया दूशा चकुषा  
चोपलचिता तं मोक्षं तिष्ठत्तमपि मां नानुकम्यम् इति  
प्रथमोऽर्थः । मंवरणीयार्थसु हे वृद्धे ! चक्षु ! लक्ष्मीत्यर्थः  
'वृद्धिशब्दस्य मम्बुद्धिप्रथमया रूपं, 'चक्षुः मिद्दिलक्ष्मी वृद्ध-  
रण्याङ्क्या इमे इत्यमरः' दारिद्र्यात् स्वलङ्घीः प्रभृतिभृप-  
लचितं तथा मोक्षं मां नानुकम्यम् इति, अत्र प्रथमं प्रतो-  
यमानादर्थात्प्रकृतलेनार्थान्तरप्रकल्पनादियं प्रकल्पिता ॥ ११५ ॥

आदौ राजेत्यधीरात्रि पार्थिवः कोऽपि गीयते ।

सनातनश्च, नैवास्त्रो राजा नापि मनातनः ॥ ११६ ॥

नामान्तरितामुदाहरति । आदाविति । हे अधीरात्रि  
चम्बलनयने कोऽपि पार्थिवः पार्थिवशब्दवाच्यः आदौ प्रथम  
राजा इत्यनेन नाम्ना गीयते कथते तथा म मनातना नित्यात्  
इत्यमप्रकृतोऽर्थः, प्रकृतार्थमुद्भावयन्नाह अस्तो पार्थिवा वज्रुता  
नैव राजा भृपतिः तथा नापि मनातना नित्यः, तस्मात्  
कोऽपावृच्छातामिति प्रश्नाऽत्र गम्यः, उत्तरभृतः मंवरणीया-  
र्थस्तु कोऽपि पार्थिवः पृथिवीविकारो वृक्षविशेष इत्यर्थः म  
आदौ प्रथमभागे राजेति गीयते तद्वाचकनाम्नः प्रथमभागे  
राजा इति शब्दो वर्तते इत्यर्थः, तथा मः नातनः तत्त्विशब्द-  
शृण्यो न, तत्रास्त्राऽन्ते तत्त्वशब्दाऽपि वर्तते इत्यर्थः तस्मात्  
राजातनवृक्ष इत्यायाते म च पियालवृक्षः 'राजातनं पियालं'

सादित्यमरः' राजातनं राजादनमिति च रूपदद्यम् । अत्र  
राजात्मेति नाच्च वक्तव्ये नानार्थकल्पनादियं नामाकृतिता ।  
खल्लणे नामपदस्त्र वस्तुपरं न तु संज्ञामाचपरं बोध्यं, तेज  
'तरुणाभिज्ञितः कण्ठे नितमस्त्रखलमाश्रितः । गुरुणां सच्चि-  
धानेऽपि कः कृजति मुड्डमुडः' अत्र सजलकल्पसरूपवस्तुनि-  
वक्तव्ये प्रथमं नानार्थकल्पनानामाकृतिता । एवं य एवादौ  
स एवान्ते मध्ये भवन्ति स्थमः । अस्यार्थं यो न जानाति तस्मुखे  
तं ददाम्यहमित्यादावपि, अत्र यवसः प्रतिपाद्यः ॥ ११६ ॥

इतद्रव्यं नरं त्यक्ता धनवन्तं ब्रजन्ति काः ।

नानाभिज्ञिसमाङ्गष्टलोका वेश्या न दुर्द्धराः ॥ ११७ ॥

निभृतामुदाहरति । इतद्रव्यमिति । नानाभिज्ञिभिर्बड़-  
विधविदभ्येष्टाभिः समाङ्गष्टा वशीकृता लोका द्वाभिस्तामुद्धः  
काः इतमपहतं द्रव्यं धनं यस्य तादृशं नरं पुरुषं त्यक्ता  
धनवन्तं ब्रजन्ति भजन्ते, इतिप्रश्न्य तत्तदिग्नेषणमहिष्या  
वेश्या एवुविषया भवितुमर्हन्ति तस्मिषेधेन संवरणीयार्थमुद्घा-  
वयति दुर्द्धरा दुःखेन प्रियमाणाः कथमपि वशतामनापा-  
चमाना इत्यर्थः, ईदृशो वेश्या न वेश्या मम प्रश्नविषया नेत्य-  
र्थः, अतस्माः का उच्चानामिति प्रश्नः, अतोन्तरभूतसंवर-  
णीयार्थस्तु पर्वतभवा नद्य दति, तथा हि नाना भङ्गास्तरङ्गा  
विशम्भेष्यति नानाभिज्ञि जलं तेजं समाङ्गष्टा लोका अवतर-  
ण्यना याभिस्ताः नानाभिज्ञिभताङ्गेति पाठे तु भिज्ञिष्वद्वा-

भद्रपरः, तथा दुर्दराः धरः पर्वतस्ताहुर्गताः दर्दुषोऽगम्य  
हत्यर्थः धरोत्थाभिस्ता हति वा, द्रुदृक्षतस्मभित्वास्ता-  
पहवादीनि इवाणि हतानि स्तोतवा नीतानि इवाणि  
यस्ते स तथा तं नरं नरमदृशम् ‘आश्चयशीघ्रताद्गौण-  
प्रयोगेऽयं’ पर्वतमित्यर्थः, त्यक्ता धनवज्ञं रक्षाकरं ब्रज-  
नीति अच विशेषजानामुभयसाधारणादेकतरनिषेधेऽन्यतर-  
प्रतीतिर्युज्यते हति नदीप्रतीतिः, तदर्थम् च तुल्यविशेषण-  
प्रतीतत्वे सत्यपि वाचकशब्दानुपात्ततात्त्विभृतत्वमित्यस्तात्त्विभृ-  
तेषम् ॥ ११३ ॥

जितप्रहृष्टकेशाख्यो यस्तवाभूमिसाक्षयः ।  
स मामद्य प्रभूतोत्कं करोति कलभाषणि ॥ ११८ ॥

समानशब्दामुदाहरति । जितेति । प्रहृष्ट उत्कृष्टा च:  
केशस्तास्ता तदाचकं नाम प्रवाल इत्यर्थः जिता प्रहृष्टकेशः  
स्ता येन सः, भूमिर्धरा नास्ति भूमिर्यच सः अधर इत्यर्थः  
तेन साङ्क्षयः सनामा, तव ईरुषो यः स्तोऽय मां प्रभूतो-  
त्कमद्युत्कृष्टिं करोति प्रवालसदृशस्तवाधरो मां व्याकुल-  
यतोत्यर्थः । अच प्रहृष्टकेशाख्याभूमिशब्दै लक्षितस्तत्त्वया  
प्रवालाधरयोः पर्वायौ, तथा हि प्रहृष्टकेशस्त्रे प्रवालशब्दे  
अभूमिशब्दस्त्रे चाधरशब्दे सत्त्वया सक्षितयोऽस्त्रे तथोः शब्दयोः  
शक्तियेष प्रवालाधरहपार्थयोऽपस्त्रितिरिति तदियं प्रहृत-  
प्रयोग्यशब्दस्त्रे समानशब्देनार्थोपस्त्रापमात् समानशब्दा ॥ ११९ ॥

शयनोये परावृत्त्य शयितौ कामिनौ कुधा ।

तथैव शयितौ रागात् स्वैरं मुखमचुम्बनाम् ॥ ११९ ॥

संमूढामुदाहरति । शयनोये शय्यायां,  
परावृत्त्य पराञ्जुखीभृय, तथैव शयितौ परावृत्त्य शयितावपि,  
स्वैरं स्वच्छन्दम्, अत्र कुधा परावृत्त्य शयितयोः स्वैरं मुखमुम्बनं  
दुर्घटमित्यापाततामोहः । अथ च प्रथमं कुधा पराञ्जुखीभृय  
शयितौ पञ्चानु रागात् तथैव पुनः परावृत्त्य शयिताविति  
पराञ्जुखीभृय पार्श्वाक्षरेण शयितयोः पुनःपरावर्तनेन शयने  
संमुखीनलाञ्जुम्बनं सुघटमेवेत्यापातत एव श्रोदृणां मोहजन-  
नादियं सधूढा ॥ ११९ ॥

विजितात्मभवदेषिग्रुपादहते जनः ।

हिमापहमित्रधरैर्याप्नं व्योमाभिनन्दति ॥ १२० ॥

परिहारिकामुदाहरति । विजितात्मेति । विना पक्षिषा  
गहेन जित इद्रस्यात्मभवः पुचोऽर्जुनः तस्य देषी कर्लस्यस्य  
गुहः पिता सूर्यः तस्य पादाः किरणाः तैर्हतस्यापितो जनः  
। हिमं जायमपहन्तीति हिमापहो वङ्गिः तस्यामित्रो जलं तद्व-  
रैर्मध्यैर्याप्नं व्योमाकाशमभिनन्दति प्रब्रंसति, अत्र वौगिक-  
व्यमासया प्रहतार्थवोधनादियं परिहारिका ॥ १२० ॥

न सृशत्यायुधं जातु न स्त्रीणा स्तनमण्डलम् ।

अमनुष्यस्य कस्यापि इतोऽयं न किलाफलः ॥ १२१ ॥

उभयच्छामुदाहरति । एति । अमयस्तु मनुष्येषगच्छ  
कलावि चक्षः चातु चक्षाविद्विष चायुधमस्तं न सृष्टति न वा  
चातु चीर्णा लग्नमस्तसं सृष्टति, तथायथं इसः किं लाफलः  
च्छायां परम् लफल एवेत्यापाम्नोऽर्थः, अचायुधच्छीलन-  
स्पर्शाभवेन जायं वीरो न वा गृह्णारीति कथमस्य हस्तस्य  
लफलतेति विरोधेन बाधावतारादमनुव्यपदेन गम्भीर्णे ल-  
क्ष्यते तस्य इसो गम्भर्वहस्त इति समुदायेन एरण्डवृक्षः प्रति-  
पाद्यते तथाच हारावली ‘अमण्डपञ्चाकृत्वर्द्धमाना गम्भ-  
र्वहस्तस्त्रिपुटीफलसंति । तस्य फलं विद्यत एवेत्याग्रितं फल-  
संव व्यक्तं न त्वाश्रयादृक्षस्तदियमेकच्छामा ॥ १२१ ॥

केन कः सह सम्भूय सर्वकार्येषु सन्निधिम् ।  
लब्ध्वा भोजनकाले तु यदि दृष्टे निरस्ते ॥ १२२ ॥

उभयच्छामुदाहरति । केनेति । कः पदार्थः केन पद-  
र्थेन सह सम्भूय मिलिता सर्वकार्येषु सन्निधिं सन्निकर्त्ते लब्ध्वा  
च भोजनकाले तु यदि दृष्टे स्यात्तदा निरस्ते निःमार्यते  
इत्ययं प्रश्नः, उत्तरम् केन मस्तकेन सम्भूय कस्य मस्तकस्यायं  
कः केऽपि इत्यर्थः इदमर्थे टण् । स च सर्वकार्येषु सन्निधिं लब्ध्वा  
भोजनकाले दृष्टे निरस्त एवेति, अचाश्रयाग्रितयोर्मस्तक-  
केश्योऽभयोरेव चक्षस्त्रमितीयमुभयच्छामा ॥ १२३ ॥

सहया सगजा सेना सभटेयं न चेष्टिता ।  
अमार्चिकोऽयं मृढः स्यादक्षरज्ञय नः सुनः ॥ १२४ ॥

सङ्कोर्णामुदाहरति । सहयेति । सहया इवैरम्बैः सहिता,  
तथा सगजा गम्भीरस्त्रिभिः सहिता तथा सभटा भट्टर्याधैः  
सहिता इयं अत्रुमम्बन्धिनी मेना चमूः चेष्टदि न जिता परा-  
भूता स्थात् तदा नोऽप्साकमयं सुतः अचरञ्जस्य अचरं ब्रह्म  
तज्ज्ञोऽपि मूढो मूर्ख एव स्थात्, तत्र हेतुः यतोऽयममाचिकः  
मीयन्न इति माचाविषयाः ता अर्हतीति माचिकस्तद्विचः  
ब्रह्मज्ञोऽपि वैषयिकमुद्भावेन मूर्खलेनैव गण्डः स्थादित्यापा-  
तिकोऽर्थः, मंवरणीयार्थस्तु इकारेण यकारेण च गकारेण  
जकारेण च भकारेण टकारेण च सहिता इयं मेना वर्ष-  
माला इनः स्यावरजङ्गमानां प्रभुर्ब्रह्मा तेन सहिता ब्रह्मणैव  
स्थेत्यर्थः, ‘धाचाच्चराणि स्थृतानि पत्रारुढान्यतः पुरेति सार-  
णात्’ न चेज्जिता अभ्यस्ता तदा अमाचिको माचा अचस्त-  
ज्ज्ञामरहितोऽयं नः सुतः न चरतोत्यचरो वेदस्तज्ज्ञोऽपि मूढ  
एव स्थात् अभ्यस्तवेदोऽपि वर्षपरिज्ञानपूर्व्यशेषमूर्ख एवेत्यर्थः ।  
यदा जिता संखितुं शका, अचरञ्जा वर्षञ्जः वर्षपरिज्ञानवा-  
नपि यदि इकारयकारादिवर्जलिखनानभिज्ञस्तदामूर्ख एवे-  
त्यर्थः ॥ १२३ ॥

सा नामान्तरितामिश्रा वच्चितारूपयोगिनी ।

एवमेवेतरासामप्युन्नेयः सङ्करक्रमः ॥ १२४ ॥

॥ प्रत्येलिकाचक्रम् ॥

॥ इति शब्दालङ्काराः ॥

अत्र बाहुर्यमुपपादयति । मेति । सा पूर्वोक्तेयं नामान्नरितामित्रा इथादिशब्दानां नामार्थकस्यनामामरिताख्यप्रहेत्तिकालचक्षयुक्ता । तथा सेनाशब्दस्य चमूरूपेऽविविजितेर्थे प्रसिद्धत्वेन प्रथमं तदर्थप्रतिपत्त्या वच्छनात् वच्छिताख्यप्रहेत्तिकायाः स्वरूपसमन्वयती च । एवमेव अनया दिशा, इतरासां नामगतादीनाम्, उक्तेयः स्वयं ज्ञातव्यः । अत्र च दयोः बाहुर्ये इर्गतं चिच्छतुःप्रभृतीनामयेवं बाहुर्ये स्वयं बोध्यम् ॥ १२४ ॥

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।

शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसञ्चिकम् ॥ १२५ ॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।

इति दोषा दशैवेते वज्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥ १२६ ॥

एवं काव्यस्योपादेयधर्मा गुणा अस्त्रागाम्य सपरिक्षितिर्थिताः, अथ ‘दुष्प्रयुक्ता पुरुर्गात्मं प्रयोक्तुः सैव शंखतीत्यादिशब्दर्थेण तदीयहेयधर्मतया प्रतिपादितेषु दोषेषु अग्रिपुराणादिप्राचीननिवन्धरीत्या गुणास्त्रागरूपोपादेयधर्मनिरूपणामन्तरमेव निरूपयितव्येषु श्रुतिकटुत्वाद्यतिप्रभृतानामेषां कात्स्त्रेन निरूपणं यन्यवाङ्मामापादयेत् येनाच जियाणामप्रवृत्तिः यादित्याग्रस्त्रामानोऽस्त्रागरपरिच्छेद एवाम्यान् प्रयोक्तुरत्यनानभिज्ञतास्तत्त्वतया जितान्नपरित्याज्यानेव दशविधांसान् निरूपयितुमुद्दिष्टति । अपार्थमिति । यद्यपि

सामान्यलक्षणमन्मेर विशेषाणां निरूपणमुचितं तथापि  
दोषपदस्य स्फुटार्थलेन योगवस्तादेव सामान्यलक्षणपरिज्ञा-  
नात्तदप्रतिपाद्यैव विशेषा इर्षताः । तथाहि काव्यं दुष्कृति  
विलक्षणं भवतोत्यनेनेति व्युत्पत्त्या दुष् वैकृत्ये इत्यस्य करणघ-  
णा दोषपदं सिद्धं, प्रकाशक्षमाद्यस्तु मुख्यार्थहितिर्दोष इत्यनेनास्य  
भावघणन्ता सुचिता, वैकृत्यस्तापक्षष्टुत्वं ततस्य काव्यस्यापक-  
र्षकोऽपकर्षीया दोष इति सामान्यलक्षणम् । अपकर्षस्य क्वचि-  
क्षक्षस्य क्वचिदर्थस्य क्वचिच तद्वज्ञानरसादेरिति चित्यहृ-  
च्छितया तेषां चिदिधत्वं बोध्यम् । अत्रापार्थमित्यादिद्वानां  
नपुंसकत्वादाक्षमेव विशेषं तत्रापार्थलादिसम्बन्धस्य क्वचित्  
साचात् क्वचित् परम्परयाच बोध्यः । इतीति इत्येते दर्शनैव  
नतु श्रुतिकटुलादयः वज्ञाया अत्यन्तं त्याज्याः शास्त्रबोधविघ-  
टकत्वादिना प्रयोक्तुरत्यनभिज्ञाताप्रकाशकत्वात्, श्रुतिकटुला-  
दयस्तु किञ्चिद्दैरस्यमात्रजनका नत्यन्वयबोधप्रतिकूला इति  
नात्यन्तं त्याज्याः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

**प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्देशो न वेद्यसौ ।**

**विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालोढेन किं फलम् ॥ १२७ ॥**

ननु इश्वेति कथमवधारणं न्यायावयवाणां प्रतिज्ञादीनां  
हानिरपि विवक्षितार्थाप्रतिपत्त्या वस्तुतो दोष एव, अतएव  
भगवता गोतमेन ‘प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्मरं प्रतिज्ञाविरोध’  
इत्यादि सूचेण प्रतिज्ञाहान्मादीनां नियहस्तागतमुक्तं, भास्मह-  
प्रभृतयस्तु तस्य दोषतां नेच्छान्त यथा ‘प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त-

हीनं दुष्टस्त्र नेष्ठत इति, तत् किमत्र तत्त्वमिति पर्यन्तुयुक्त  
इत्र प्रकृते निष्प्रयोजनत्वात्तदिवेकमुपेक्षमाण आह । प्रतिज्ञेति ।  
साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा, साध्यसाधनं हेतुः, प्रसिद्धोदात्तरणो-  
पन्थासो दृष्टान्तः, एवां इनिर्देशः काव्यापकर्षको न वा  
इत्यस्मिन् संशये असौ पर्यन्तुयुज्यमानो विचारो विवेकः एक-  
तरावधारणमित्यर्थः प्रायः कर्कशो न्यायविषयकत्वात् कठि-  
नः, यदा कर्कशो नीरसः निष्प्रयोजन इत्यर्थः, अतस्य आ-  
स्लोडेनास्त्रादितेन परिज्ञातेनेत्यर्थः तेन विचारेण किं फलं  
सम्यक् फलं नास्त्रोत्यर्थः, अयमाग्रयः वैरस्यजगत्वेन दोषाणां  
परिज्ञानं स्फुत एव बोद्धृतां सम्भवति तदर्थस्त्र यन्त्रप्रकाशनम्-  
नुचितं केवलं काव्येभ्यत्यन्तपरिहार्या एव ते कतिपये दर्शने  
न च प्रतिज्ञादिहानेरत्यन्तपरिहार्यत्वम् अप्रतिज्ञातानां प्रा-  
सङ्गिकादिसाधानामपि कविर्णितत्वदर्शनात् । निर्वेतुताच  
प्रसिद्धसाध्ये वैरस्यं नावहति यथा ‘सम्भवति मन्थाममयस्त्रः  
दन्दानि विघटयतीत्यादौ, दृष्टान्तोपन्यामस्त्रलङ्घारक्षप प्रवात  
तद्वानिरपि नात्यन्तवैरस्यजनिका अतएव ‘दृष्टान्तस्य माम-  
यिकलेनास्त्रार्थविचिकत्वेऽपि न चतिरिति न्यायस्त्रवृत्तिहताकं  
तस्माद्यच वैरस्यजगत्वं तत्र दोषत्वं यत्र न तथा तत्र न तथा  
न युनः आद्यबोधविघटकत्वाद्यभावाद्कामपरिहार्यता एवं  
प्रतिज्ञाविरोधादयोऽपि ज्ञेयाः, तत्र प्रतिज्ञाविरोधो यथा  
कण्ठाभरणे ‘यावस्त्रीवमहं मौगो ब्रह्मचारी पिता भम ।  
माता च मम बन्ध्यासीदपुच्छ पितामहः’ इति ॥ १२७ ॥

समुदायार्थशून्यं यज्ञदपार्थमितीष्टते ।

उन्मत्तमत्तवानानामुक्तेरन्यत्र दृष्ट्यति ॥ १२८ ॥

संप्रत्युदिष्टान् दोषप्रभेदान् क्रमेण लक्षयति । समुदायार्थ-  
शून्यमिति । समुदायो वाक्यघटकपदममूङ्गः, सहावाक्यघटक-  
वाक्यममूङ्गश्च तस्यार्थो विशेषणविशेष्यभावेनान्विततया एक-  
लेन प्रतीयमानः प्रतिपाद्यः, तच्छून्यं यदाक्यं सहावाक्यं वा  
तदपार्थम् अपार्थत्वास्यदोषवदिष्ट्यत इत्यन्यः, यत्र पदा-  
र्थानां वाक्यार्थानां वा याग्यताकाङ्क्षामत्यभावेन विशेषणवि-  
शेष्यवेनान्वयो बाधितो भवति तदपार्थलवदित्यर्थैः । अस्य  
क्वचिददोषलमपि दर्शयति, उन्मत्तेति । उन्मत्ता उन्मादगो-  
गवन्नः, भन्ता मद्यपानादिना प्राप्तविकाराः, वालाः शिश्रवः,  
प्रमत्तान्मत्तवानानामिति पाठं प्रमत्ता मद्योपयोगादिनानव-  
धाना इत्यर्थः, एषामुक्तेरन्यत्र अनुन्मत्तादीनामुक्तौ दृष्ट्यति  
वाक्यं सहावाक्यं वा दृष्टुं भवति उन्मत्ताद्युक्तौ लस्य न दोष-  
लमित्यर्थः ॥ १२८ ॥

समुद्रः पोयते देवैरहमस्मि जरातुरः ।

अमो गर्जन्ति जीमूता हरेरैरावणः प्रियः ॥ १२९ ॥

तत्र बङ्गवाक्यगतमपार्थलमुदाहरति । समुद्र इति । देवै-  
र्मधैः सुर्व्वी, देवैरित्यत्र मोऽयमिति क्वचित् पाठः । अस्य  
स्वार्थबोधपरिसमाप्तस्यापि वाक्यतुष्ट्यस्याकाङ्क्षाभावेनाङ्का-  
ङ्किलविरहादेकवाक्यलाभावस्तत पव समुदायार्थो नास्ति,

एदुकं ‘खार्थवाधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वयपेक्षया । वाक्यानामे-  
कवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायत इति । एवं योग्यताद्यभावेऽपि  
समुदायार्थशून्यत्वं ज्ञेयं, तथा बङ्गपदगतमपि यथा ‘वक्षिना  
सिद्धिं’ गौरशः पुरुषो इस्तोत्यादि ॥ १२८ ॥

**इदमस्यचित्तानामभिधानमनिन्दितम् ।**

**इतरत्र कविः को वा प्रयुच्चोत्तैवमादिकम् ॥ १३० ॥**

उन्मत्तेत्याद्युक्तमनुवदन् दोषस्यातिगुरुत्वं प्रतिपादयति ।  
इदमिति । अस्यस्यचित्तानामुन्मादादिभिर्निर्विवेकमनमास्,  
इदमेवं समुदायार्थशून्यमभिधानं वचनम् अनिन्दितं शिष्टे-  
र्निन्दितत्वेन परिगृहीतं न भवति प्रयोक्तुरनवहितत्वात्,  
इतरत्र अस्यस्यचित्तप्रयुक्तभिन्ने, एवमनाकाङ्गत्वादिकं, यदा  
इतरत्र उन्मत्तादिभिन्नेषु मध्ये कोवा कविः पण्डितः मचेता  
इत्यर्थः, वस्तुतस्तु इतरस्त्रितिपाठः सम्बक् । को वा प्रयुच्चो-  
तेति एतेन समुदायार्थशून्यत्वाक्यस्य मचेतःप्रयुक्तत्वामस्मर्य ।  
प्रतिपादनेन कथमित् प्रयोगे वैरस्यातिशय इति सूचितम्,  
अतएव दोषस्याद्य प्रथमोपन्यास इति वोधम् ॥ १३० ॥

**एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम् ।**

**विस्फृद्वार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पद्यते ॥ १३१ ॥**

व्यर्थं लक्ष्यति । एकवाक्य इति । एकमिति वाक्ये तथा  
प्रबन्धे वाक्यसमूहे वा यत्पदं वाक्यमा पूर्वापरपराहतं पूर्वापर-

सङ्गतिशून्यं तद्वर्थं व्यर्थलदोषवदिति कृता दोषेषु दोषवस्तु  
मध्ये पयते इत्यन्वयः, यदा पूर्वापरपराहतं पूर्वापरसङ्गति  
शून्यवमिति वर्थं व्यर्थलमिति च धर्मपरोऽयं निर्देशः सप्तमी-  
दयस्त्र षष्ठ्यर्थं तत्र हेतुरदन्ततेत्यादिवत्, ननु वर्षकद-  
मात्मकयोर्वाक्यप्रबन्धयोः कथं परस्यरममङ्गतत्वमभव इत्य-  
चाह विरुद्धार्थतयेति वाक्यप्रबन्धयोः पूर्वापरविरुद्धार्थप्रत्या-  
यकत्वं व्यर्थलाख्यादोष इत्यर्थः एतेनाच विपदं विरुद्धार्थकं  
ननु विगतार्थकमिति स्फुचितम् । अर्थविरोधप्रतीतिश्वाच  
शास्त्रवाधानन्तरं पर्यालोचनया, अपार्थेतु आकाङ्काशभावा-  
च्छास्त्रवाध एव न सम्भवतीत्यनयोर्भेदः, एकवाक्ये प्रबन्धे-  
वित्यनेन च वाक्यप्रबन्धार्थपर्यालोचनयैव विरोधप्रतिभासोऽस्य  
विषयः प्रकरणादिपर्यालोचनया विरोधप्रतिभासस्तु वक्ष्यमाण-  
देशकालादिविरोधविषय इति स्फुचितं । अस्यात्यन्तवर्ज्यता च  
प्रयोक्तुरत्यनभिज्ञताप्रकाशकलात्, अन्नैवान्नैरुक्ता विरुद्धमति-  
कारित्वप्रकाशितविरुद्धत्वामतपरार्थलपरिपन्थिरसाङ्गपरियहा-  
दयो दोषा अन्तर्भवन्ति ॥ १११ ॥

जह्वि शत्रुवलं कृत्स्नं जय विश्वभरामिमाम् ।

तव नैकोऽपि विदेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ॥ ११२ ॥

तत्र प्रबन्धगतव्यर्थलमुदाहरति । जहोति । अत्र शत्रु-  
माचशून्यस्य कृत्स्नशत्रुवलहननं सर्वभूतानुकम्पिनः सर्वलोक-  
जयस्त्र पूर्वापरपर्यालोचनया विरुद्धत्वेन प्रतीयते । एवं वा-

क्षगतं बोधम् । तव नैकोऽपीत्यत्र न च ते कोऽपीति इच्छित्  
पाठः ॥ १३२ ॥

**अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः ।**

**यस्मां भवेत्तभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥ १३३ ॥**

वक्तुविशेषस्याहौ विरुद्धार्थबस्य गुणत्वं दर्शयति । अस्तीति ।  
साभिषङ्गस्य वियोगाद्यभिभृतस्य, मानिलाषस्ति पाठस्य न  
सम्यक्, काचिदिलक्षणा इष्टानिष्टरेणायादिव्यनक्षणादकार्यादि-  
विवेकशूल्येत्यर्थः, अवस्था अस्ति भवति, यस्याभवस्थायां वर्त्त-  
मानस्य प्रयोक्तुर्विरुद्धार्थाऽपि पूर्वोपरपराहतापि भारती  
अभिमता श्रोतृणामाहृता भवेत्, अभिमतेत्यनेन न केवल-  
मस्थादाषत्वं किन्तु गुणत्वमयीति सृचितम् ॥ १३३ ॥

**परदाराभिलाषां मे कथमार्यस्य युज्यने ।**

**पिवामि तरलं तस्याः कदा नु दशनच्छदम् ॥ १३४ ॥**

उदाहरति । परदारेति । तरलं लज्जावशात् मन्वाद-  
यादा सकर्म, तस्याः परकान्तायाः, दशनच्छदमधरम् ।  
अत्र स्वस्यार्थाभिमानितया परदाराभिलाषस्यादुक्तं प्रति-  
पादयत एव प्रयोक्तुः परदाराधरपानांमनमिति पूर्वाद्दु-  
व्यज्ञस्य शान्तर्यभिचारिणोमत्याख्यभावस्य उच्चराद्व्यज्ञेन  
मद्भारव्यभिचारिणैः कुर्यन् सह सम्पि विरोधः प्रयोक्तु-  
र्वियोगाभिभृतत्ववश्वकतया भद्रारपोषकत्वात् कमपि चम-

स्कारमावहतीति गुण एव, अत्र द्वयोर्विरोधः, एवमेकत्र बङ्गनां  
विरोधे च मत्कारातिशयः यथा ‘काकार्थं शशलच्छणः कच-  
कुलं भृयोऽपि दृश्येत सा, दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो  
कार्पेऽपि कान्तं मुखम् । किं वच्च्यन्त्यपकल्पयाः कृतधियः  
खप्रेऽपि सा दुर्लभा, चेतः खास्थमुपैहि कः खलु युवा धन्यो-  
ऽधरं धास्यति’ । इत्यत्र शान्ताङ्गानां वितर्कमतिशङ्काधृतीनां  
विप्रलभ्याद्वैरोद्युक्तस्यैतदैच्यचिन्ताभिः सह मन्त्रपि विरोधः  
प्रयोक्तुर्विरहाभिभृतत्वव्यञ्जनात् गृहङ्गारप्रकर्षमाविर्भावयति ।  
नव्यास्त्वं विधम्यते विरुद्धानां वाऽपेनोक्ताऽगुणतमियाऽ-  
यथा ‘षड्घार्यादेविरुद्धस्य बाध्यतेन वचागुण’ इति ॥ १३४ ॥

अविशेषेण पूर्वीकृतं यदि भृयोऽपि कीर्त्यते ।

अर्थतः शब्दतोवापि तदेकार्थं मनं यथा ॥ १३५ ॥

एकार्थं लक्षयति । अविशेषेणेति । पूर्वीक्रमिति सामान्य-  
त्वान्पुंसकम् । अर्थतः शब्दत इति प्रथमान्तम्, अत्र यत्ते-  
त्यथाहार्थी, तदयमन्वयः, पूर्वीक्रार्थः शब्दा वा यत्र वाक्ये  
यद्यविशेषेण भृयोऽपि कीर्त्यते तदा तदाक्यम् एकार्थम् एका-  
र्थत्वात्यदोषवद्भावं, यदा अर्थतः शब्दत इति च सप्तम्यन्तम्  
एकार्थमित्यनेनाच्चितम् अर्थनिष्ठं शब्दनिष्ठस्त्रैकार्थमित्यर्थः ।  
अविशेषेणेति एकस्त्वपेणत्यर्थः, यदा विशेषविवक्षाया अभावेन  
यत्र विशेषविवक्षार्थमुक्तस्य पुनःकीर्त्यनं तत्रास्य न दोषत्वं  
विशेषस्य प्रस्तुतस्यानुकृत्यनीयत्वादि एतचानन्तरमेव व्यक्तो-

भविष्यति, अर्थतः शब्दतेवेत्यनेनान्वैशक्तस्य पैनश्चाख्यार्थ-  
दोषस्य कथितप्रदत्ताख्यशब्ददोषस्य च दयोरेवैकार्थसंज्ञाया  
संयहः सूचितः, न च शब्दपैनश्चले कथमेकार्थेति यौगिकसंज्ञा-  
प्रवेदः गुणदोषासङ्कारसंज्ञानां प्रादेण योगवस्त्रादेव प्रवृत्ते-  
रिति वाच्यं शब्दपदस्य तदर्थकशब्दपरत्वात् अतएव भिन्ना-  
र्थकशब्दपैनश्चक्तस्य वैरस्यानावहत्वान्वदोषत्वं यथा ‘सुरा विमैः  
सुरा नोचैः सेव्यन्ते भक्तिभावतः । विप्राणान्तु फलं दूरे नीचा-  
नान्तु तदैव हि’ इत्यादौ सुरा इति पदं पुनरुक्तमपि सुरा  
देवाः सुरा मद्यानोति विभिन्नार्थकत्वेन न दृष्टणमावहति  
तस्मादर्थस्य एकार्थकशब्दस्य वा पुनरुक्तत्वमेकार्थत्वं, यत्र शब्द-  
भेदस्त्रिवार्थमात्रस्य पैनश्चक्तं यत्र तु तदभेदस्त्रिवा दयोरपीति  
निष्कर्षः ॥ १३५ ॥

उत्कामुन्मनयन्येने वानां तदनुकृतिपः ।

अम्भोधरास्त्रित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्ववः ॥ १३६ ॥

तत्रार्थगतमेकार्थत्वमुदाहरति ; उत्कामिति । उत्काम-  
त्वक्षिदताम्, उन्मनयन्ति उद्दीपकतादृत्कण्ठयन्ति, अचान्का-  
न्मनःशब्दयाः, अम्भोधरत्रित्वत्स्तनयित्वशब्दानां च स्वरूप-  
भेदार्थेकपर्यायत्वेनैकार्थशक्तत्वादर्थस्य पैनश्चक्तम्, एवं पर्याय-  
यान्तरानुपादानेऽपि प्रकारान्तरेण पूर्वोक्तार्थस्य पुनःप्रतीता-  
वर्णस्य सङ्कारां ज्ञेयः, यथा ‘सहसा विदधोत न कियामविवेकः  
परमापदां पदम् । तृष्णते हि विमुद्यकारिणं गुणानुभाः स्व-

यमेव सम्यद इति, अत्र द्वितीयाद्द्वै व्यतिरेकेण द्वितीयपाद-  
स्मैवार्थं इति पुनरुक्तव्यमेव, यदि तु उत्कामुक्त्यन्योत्यस्य  
विरचेषोत्कण्ठितामपि अभोधराः पुनरहीपकतया अत्युत्क-  
ण्ठितां कुर्वन्नोत्यत्र तात्पर्यम् एवमभोधरादीनामेकस्मैव  
समुदायार्थशक्त्य विशेषतायामन्ययोऽस्मावयवार्थशक्त्योर्विशेष-  
तायां तात्पर्यं तदार्थभेदान्वास्य सङ्घाव इति बोध्यम्, यथा  
‘मा चियामा तदार्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता । राजो विलप-  
मानस्य न व्यभासत शर्वरो’ । अत्र चियामाशर्वरीशब्दया-  
रेकपर्यायत्वेष्वयवार्थशक्त्यमङ्गीकृत्य चियामाशब्दः शर्वरो-  
विशेषणत्वेनोपन्यस्तः । अत्र शब्दभेदादर्थत एव पुनरुक्त्यं  
शब्दतो यथा ‘अधिकरतलतन्यं कन्तितस्यापलीला परिमलन-  
निमीलत्याण्डिमा गण्डपालो । सुतनु ! कथय कस्य व्यञ्जय-  
त्यञ्जसेव स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम्’ अत्र लीला-  
शब्दः पुनरुक्तः ॥ २३६ ॥

अनुकम्याद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवद्यते ।

न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्कृया ॥ २३७ ॥

अविशेषेणत्युक्तस्य प्रयोजनं दर्शयन् दोषमिमं प्रतिप्रस्तुते ।  
अनुकम्येति । अनुकम्याद्यतिशयः प्रस्तुतस्यानुकम्यनीयत्वादि-  
विशेषः, आदिना विधेयानुवादादिपरियहः, तदुक्तं गुण इत्यनु-  
वृक्षां दर्पणकृता ‘कथितस्य पदं पुनः । विहितस्यानुवादत्वे  
विषादे विश्वाये कुधि । दैन्येऽथ लाटानुप्राप्तेऽनुकम्यायां प्रसा-

दने । अर्थात् रसं कमितवाच्चे इर्षेऽवधारणे' इति । एव मुख्य-  
ताद्युकावपि पैनहकस्त्र गुणत्वं ज्ञेयं, यथा सृज्जकटिके  
शकारोक्तौ 'मम मध्येण मण्डलं भवेत् वहुअन्तोत्यादि, एवं  
धनुर्ज्याकर्णावतं सादयोऽप्याहुष्टत्वादिविशेषविवरणा न दृष्टाः ।  
न दोषो न दूषणावहः, पुनरुक्तः अष्टोऽर्था वा, इयं पुनरुक्तिः,  
अलङ्घित्या गुणं एव कायशोभाजनकत्वात्, अनुप्राप्तालङ्घार  
इति केचित् ॥ १३७ ॥

हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाराऽपैरिणा ।

हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी ॥ १३८ ॥

तत्रानुकम्यायामुदाऽरति । हन्यत इति । अत्र हन्यत इति  
पदं पुनः पुनरुक्तं सत् प्रस्तुतस्यानुकम्यनीयत्वस्यापनया कर्मप  
चमत्कारमावहन् कायशोभां जनयति । एवं विधयानुवादादृष्टे  
ज्ञेयं, यथा 'उदेति सर्विता तासस्तास एवास्तमेति चेत्यादि ॥  
॥ १३८ ॥

निर्मयार्थं प्रयुक्तानि संशयं जनयन्ति चेत् ।

वचांसि, दोष एवासौ संशय इति सृतः ॥ १३९ ॥

मसंशयं ज्ञात्यति । निर्मयार्थमिति । निर्मयार्थं वाहूव्यसा  
प्रवृत्तिनिवृत्यन्यतरं निश्चयाय, मंशयार्थं प्रयुक्तम्य मंशयजनकत्वे  
तु न दूषणमित्यर्थं वल्यते । मंशयमुभयकोटिकज्ञानं, वचां-  
सोति वज्रवचनमविवक्षितम् एकपदस्य पदद्वयस्य वा संशय-

जनकले दूषणसम्भवात् चेदित्यच अदिति पाठः सम्भक्  
संशयः संशयत्वात्यः, अयमपि दोषः शब्दगतोऽर्थगतश्च, यत्र  
संशयोत्पत्त्यात्ययेषां विहन्यते तत्र शब्दगतः यथोदाहरिष्यते,  
यत्र तर्तुप्रतीत्यनन्तरं वक्त्राद्यनिश्चयस्तत्रार्थगतः यथा 'मात्सर्य-  
मुखार्थं विचार्यं कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु । मेवा नित-  
म्बाः किमुभृधराणामुत मरम्भेरविलाभिनीनाम्' । अत्रप्रकर-  
णाद्यभावात् गान्धटङ्गारिणोः को वक्त्रेति संशयः ॥ १३६ ॥

मनोरथप्रियालोकरसलोकेशणे सखि । ।

आराद्वृत्तिरसौ माता न चमा द्रष्टुमोदशम् ॥ १४० ॥

शब्दगतं संशयमुदाहरति । मनोरथेति । जारं भानुरागं  
पश्यन्तो मातुः परिज्ञानशङ्कया च चकितां प्रति सख्या  
उक्तिरिच्य । मनोरथप्रियोऽभिलिप्तिप्रेयान् जार इत्यर्थः, तस्या-  
लोके दर्शने रमेनानुरागेण लोके व्याप्ते ईच्छणे यस्याः सा  
तथा तस्याधनम्, आरादिति अत्र किम् 'आरादूरमभीप-  
योगित्यभिधानादाराहृत्तिर्वर्त्तिनो ते माता विषयविप्र-  
कर्षादोदृशं लदोयजारदर्शनरूपकर्षं द्रष्टुं न चमा शका तत्  
प्रवर्त्तसंत्वर्थः, किम्बा समीपवर्त्तिनो ईदृशमसमञ्जसं कर्षा द्रष्टुं  
न चमा तत्रिवर्त्तसंत्वर्थः । इत्येकतरनिश्चयाभावात् संशयः,  
अयस्मानार्थशब्दप्रयोगनिवृत्य इति शब्दगतः, अर्थगतस्तु  
पूर्वे दर्शितः ॥ १४० ॥

ईदृशं संशयायैव यदि वातु प्रयुज्यते ।

स्यादलङ्घार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥ १४१ ॥

अस्य क्षित्वमपि दर्शयति । ईहूऽमिति । यदि वा तु  
ईहूऽम संशयजनकमपि वाक्यं संशयायैव संशयप्रतिपादनम्-  
हिष्ठैव प्रयुज्यते तदा तदासौ संशयोऽस्त्वार एव शोभाजनक  
एव गुण एवेत्यर्थः संशय एव यदि प्रतिपाद्यमानतया विव-  
क्षितः तदासौ गुण एवेत्यर्थः, एवम्भाविवक्षितः संशयो दोषो  
विवक्षितस्तु गुण इत्यर्थः । तत् तस्मादाहरणं । वाचित्यच  
जालिति क्षित्याठः ॥ १४१ ॥

पश्याम्यनङ्गजानङ्गलङ्घिनां तामनिन्दिनाम् ।  
कालेनैव कठोरेण अस्ता किं नस्तदाग्नया ॥ १४२ ॥

पश्यामीति । नायकं प्रति दूत्या उक्तिरियं । अनङ्गः कामः  
तज्ज आतङ्गः पीडा तेन लङ्घितामाकान्तां तां कठोरेण  
निर्देयेन कालेन स्त्रृत्युनैव अस्तां पश्यामि लदाग्नया तव प्रत्या-  
ग्नया नोऽस्माकं किं, या कामपीडया स्थिते किं तव प्रत्या-  
ग्नयेत्यर्थः किं च्छाकस्यास्य प्रतिपाद्यः, किम्बा अङ्गजालेनात-  
पूर्ण सङ्घिता या तङ्गिनां तां कठोरेण दुःखेन कालेनैव केवलं  
योग्यमयेन अस्ता पीडितां पश्यामि लदाग्नया नः किं, तस्माः  
ज्ञारीरिकी कापि पीडा नास्ति किम्बु केवलं तामनामादयन्ती  
चिन्माजागरकपरा पीडेण पीडते इत्यर्थं प्रतिपाद्यः, इत्येष  
संशयः स च दूत्या विवक्षित इति गुण एव । किं नस्तदाहृयेत्यच  
किम्बु लदाग्नयेति, किं नस्तदाहृयेति च पुक्षकामरेषु पाठः ॥  
॥ १४२ ॥

कामार्त्ता घर्मात्प्रावेत्यनिश्चयकरं वचः ।

युवानमाकुलीकर्त्तुमिति दूत्याह नर्मणा ॥ १४३ ॥

अत्र संशयस्य विवक्षितत्वं प्रतिपादयति । कामार्त्तेति ।  
संशयस्य विवक्षितत्वे हेतुर्युवानमाकुलीकर्त्तुमिति, कामपीडां  
योग्यपीडां वा बुद्धा नायकोऽयं व्याकुलोभूय तत्समीपं गमि-  
त्यतीति विविच्य दूत्या तादृशं संशयजनकवाक्यं प्रयुक्तमिति  
भावः, एतदपलक्षणं व्याजस्तुतिपर्यवसानादावपि संशयस्य गु-  
णत्वं यथा ‘पृथुकार्त्तम्बरपात्रं भृषितनिःशेषपरिजनं देव । ।  
विलमत्करणेणुगच्छन् मं प्रतिसममावयोः सदनम्’ । अत्राद्यो वा  
दग्धिद्रो वा वक्त्रंति संशयः वाक्यस्य च व्याजस्तौ पर्यवसानम् ॥  
॥ १४३ ॥

उद्देशानुगुणोऽर्थानामनृदेशो न चेत् कृतः ।

अपक्रमाभिधानं तं दोषमाचक्षते बुधाः ॥ १४४ ॥

अपक्रमं स्तुत्यति । उद्देशानुगुण इति । अर्थानां प्रथम-  
मुपन्यास उद्देशः तस्यानुगुणोऽनुरूपः सम्बन्धयोग्य इत्यर्थः  
अनुहेशः पञ्चादुद्देशः क्रमः स चालकारतया पूर्वमुकः, स चेत्प्र-  
कृतसदा तं क्रमलक्ष्यनरूपत्वादपक्रमाभिधानं दोषं बुधाः  
कथयन्ति, क्रमिकाणां क्रमकैरेवात्यय इति नियमः तस्यान्त-  
नादर्थेष्वोधमात्यर्थमत्र दूषकतावोजं बाध्यम्, अतएवात्य-  
र्थमपैरिहार्यमध्ये गच्छन्, न वौरुहीकृतयोः शब्दार्थदोषयोर-  
क्रमत्वदुक्तमत्ययोर्तु न शब्दबोधविघटकत्वमिति नात्यन्तपरि-

सार्थता यथा 'ममथ एव करोति बलावसं प्रणिगदन्त इतीत  
शरीरिणाम् । अरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणो-  
यताम्' इति । अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरं हि इतिशब्दः  
प्रयुज्यत इति कमः, अत्र तस्मानादकमता सा च अवहित-  
योजनयात्मयसम्भवेन नात्यन्तपरिहार्या । एवं 'देहि मे वा-  
जिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालमिति । उत्कृष्टं हि वस्तु प्रथमं  
याचनीयं तदानं दातुरशक्तीं ततो न्यूनं याचनोयमिति कमः  
स चाच गजेन्द्राद्यूनस्य वाजिनः प्रथमयाचनार्थित इति द-  
क्षमता सा चात्मयस्य निर्वाधप्रवृत्त्या नात्यन्तपरिहार्या ॥

॥ १४४ ॥

स्थितिनिर्माणमंहारहेतवो जगतामसी ।

शम्भुनारायणाभोजयोनयः पानयन्तु वः ॥ १४५ ॥

अपक्रममुदाहरति । स्थितीति । अत्र प्रथममुद्दिष्टानां  
स्थितिनिर्माणमंहाराणां हेतुलेनात्मययाग्या नारायणाम्  
जयोनिशम्भव एव कमेणानुदेश्यमुचिता इति तादृशोपन्यास-  
क्रमातिकमादपक्रमता । न चात्मरात्मरस्य बहुच्वात् परभावा  
युक्त इति वाच्यं क्रमात्मयानुराधनात्मययाग्यम्बन्धस्वरविषयावा-  
दिपदोपन्यासस्त्रैव कवर्णोचित्यात् तादृशपदानाम्ब्रं सौख्यात्  
। ॥ १४५ ॥

यत्रः सम्बन्धविज्ञानहेतुकेऽपि कृतेऽयदि ।

क्रमलक्ष्मनमप्याङ्गः खरयो नैव दूषणम् ॥ १४६ ॥

अस्यादोषत्वमपि दर्शयति । यत्र इति । ममन्तः कस्मिं-  
श्चिदेकस्मिन् पदार्थे अकमिकयोरणुभयोः समवित्तं तस्य  
विज्ञानं विशेषेण ज्ञानं तद्देतुर्यस्य तादृशो यत्रः प्रयासो  
यद्यपि कविना कृतः स्यात्तदा क्रमलक्ष्मनमपि दूषणं नैव भव-  
तोति स्त्रय आङ्गिर्यन्वयः, एकतरात्मयिनि पदार्थे अक-  
मिकस्याप्यपरस्यात्मयित्वप्रतिपादनाय यतमानेन कविना यदि  
कमातिकमेणापन्नस्यते तदा स न दोष इत्यर्थः, न पुनरस्य  
गुणात्म सविशेषणाभाजनकत्वाभावादिति वाच्यम् ॥ १४६ ॥

बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति चिपु ।

आद्यन्तावायतक्षेष्ठो मध्यमः क्षणिकज्जरः ॥ १४७ ॥

उदाहरति । बन्धुत्याग इति । आद्यन्तो बन्धुत्यागदेश-  
त्यागो, आयतक्षेष्ठो दीर्घकालं क्षेषानुभावको, मध्यमस्तनुत्यागः,  
क्षणिकज्जरः अन्यक्षणमेव सन्तापजनकः, वरं तनुत्यागः श्रे-  
यान् न पुनर्बन्धुत्यागोदेशत्यागो वेत्यर्थः । अचादिपदोपात्त  
बन्धुत्यागात्मयन्यायतक्षेष्ठतदुत्तरोद्दिष्ट्य तनुत्यागस्यात्मया-  
योगात् तं विहाय योग्यतात्तदन्तस्य देशत्यागस्यात्मयित्वं  
प्रतिपादितमिति क्रमलक्ष्मनं युजाते ॥ १४७ ॥

शब्दहीनमनानक्षयनक्षयनन्तापद्मनि ।

पदप्रयोगाऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥ १४८ ॥

शब्दहीनं सत्त्वयति । शब्दहीनमिति । सत्त्वं मजातीय-  
मुदाहरणात्मरं तथा सत्त्वणमनुशासनं सूचं कोषो धातुपा-

ठस्य, तद्रूपा पद्धतिर्वर्त्म प्रयोगनियामक इत्यर्थः, अनास्तत्या अपरिहृष्टा लच्छ्यलक्षणपद्धतिर्यस्य ताङ्गुशः पदप्रयोगः कृत-भिहितभावत्वात् प्रयुज्यमानं पदमित्यर्थः शब्दहीनं शब्द-हीनत्वाख्यदोषवान् यस्य सजातीयप्रयोगान्तरं केनापि प्रयुक्तं न दृश्यते नापि निष्पादकमनुशासनं, तथाविधपदप्रयोगः शब्द-हीन इत्यर्थः, मत्यप्यनुशासनाभावे बङ्गभिः प्रयुज्यमानस्य प्रयोगो न दूषणमावहति यथा ‘चेतः परं वलति शैलवनस्यस्त्रियादि’ अत्र वलतीति सञ्चलनार्थवस्तुधातोः परम्पैपदित्वमनुशासना-सिद्धमपि बङ्गभिः प्रयुक्तमिति तत्रयुज्ञानः कविर्नापराध्यति इत्यतो लच्छ्यमाप्यनान्तर्व्यवं दूषणवोजत्वेनोक्तं । तथा अग्नि-षट्ठः यस्य पदप्रयोगः शिष्टानामिष्टो न भवति मत्यप्यनुशासने तत्पदं यदि तत्त्विक्षिणादिमत्त्वं तत्तदर्थक्लेन वा कदापि शिष्टेन प्रयुक्तक्लदा तत्रयोगोऽपि दोषायेत्यर्थः यथा ‘दैवतानि पुंसि वेति कोषे मत्यपि पुंलिङ्गादैवतशब्दः, इन्हिं मागत्यागिति गणेकावपि गमनार्थाहन्धातुश्च न केनापि शिष्टेन प्रयुक्तः, इत्यच्च विशेषणदयेनान्यैरुक्तानामसाधुत्वाप्रयुक्तत्वामर्थत्वाख्य-दोषाणां स्वमते शब्दहीनपदेन संयहः, ततश्च शब्दोक्ती-नोऽपहृष्टो यचेति व्युत्पत्तिमिहूं शब्दहीनमितिपदं, अपहृष्ट-त्वाख्याधुत्वादिकं । किञ्चानुशासनविहृद्वाऽपि शिष्टेणो न दोषार्थत्वाह शिष्टेणस्तु न दुष्यनोति, अयस्मावः शिष्टप्रयुक्ताना-मेव पदानां व्युत्पत्त्यर्थमनुशासनं पाणिन्यादिभिः कृतं न पुन-रनुशासनं दृष्ट्वा शिष्टेणानि प्रयुक्तानि तेषां नित्यत्वात्, यदुक्तं

गोयोचन्द्रेण 'नित्यानां पदानां प्रतिपत्त्यर्थं प्रकृतिप्रत्ययविभागपरिकल्पनं शास्त्रेण क्रियत इति । तस्मादनुशासनमिद्दृस्य तदिष्टद्वस्य वा शिष्टेष्टस्य प्रयोगो न दोषाय तदिपरीतस्तु दोषायेति । यदा अनालक्ष्या लक्ष्यस्तत्त्वणपद्मुक्तिर्लक्ष्यस्तत्त्वणनियमो यत्र सः, अनेन लक्षणेनेदमेव लक्ष्यं सम्यग्यते अस्य लक्ष्यस्तेदमेव नक्षणमित्येत्रं रूपो नियमो यत्र न लक्ष्यते तादृशपदप्रयोगः शब्दहीन इत्यर्थः एतेनामाधुलस्य दोषलमुक्तयदुक्तमाग्रेये 'शब्दशास्त्रविस्तृद्वलमसाधुलं विदुर्बुधाः' इति, तथा अशिष्टेष्टः अशिष्टैः शिष्टभिन्नैर्यामिकजनैरिष्टोऽपि शब्दहीन इत्यर्थः अनेन याम्यताया दोषलमुक्तं, शिष्टेष्टस्तु न दुष्यतोति तु प्रसङ्गादुक्तम् ॥ १४८ ॥

अवते भवते बाहुर्महीमर्षवशकरोम् ।

महाराजन्नजिज्ञासा, नास्तीत्यासां गिरां रसः ॥ १४९ ॥

उदाहरति । अवते इति । ऐ महाराजन् भवते भवते स्तव बाहुः, अर्षवः शक्तरो मेखला यस्यासां सार्षवामित्यर्थः 'शक्तरो अन्दमें भेदे नदीमेखलयोरपि' इति मेदिनो । शक्तरीति सरेकः पाठः प्राचीनमेदिनोपुरुषके हृशते । मही-मवते रक्षति, अस्त्रिन् विषये संशयाभावाच्चिज्ञासा नास्ति मत्यमेवैतदित्यर्थः, इत्यासामोहृशीना गिरां रसः प्रकृते इत्यारानुप्राणितो राजविषयरतिभावो नास्ति मन्त्रपि नास्ताद्यते पदानामसाधुलप्रतिपत्त्या तत्पूर्वभाविनोऽन्वयबोधस्याभावात्,

तथाहि अवते इत्यचात्मनेपदं, भवते इत्यत्र षष्ठीविषये च-  
तुर्थी, अर्लवशक्तरीत्यत्र कप्रत्ययाभावः, महाराजनित्यत्रापि  
टप्रत्ययाभावः, सर्वमेतदनुशासनविशद्धुं, किञ्च शक्तरीशब्दो  
मेखलायां न केनापि प्रयुक्त इत्यप्रयुक्तः, तदिदं सर्वे प्रयुज्यमानं  
वाहृवृद्धिमान्यर्थे जनयदन्वयबोधं विघटयति ॥ १४८ ॥

दक्षिणाद्रेषुपसरन् मारुतश्चूतपादपान् ।

कुरुते लज्जिताधृतप्रवाल्लाङ्कुरणोभिनः ॥ १५० ॥

इत्यादिग्राम्त्वमाहात्म्य दर्शनालसचेतसाम् ।

अपभाषणवद्वानि न च सामाग्रमुच्छति ॥ १५१ ॥

शिष्टेषु न दुष्टोत्थम्य विषयं दर्शयति । दक्षिणाद्रेषिति ।  
मलयपर्वतस्य वायुकम्पितचूतवनं कश्चिद्दर्शयति । दक्षि-  
णाद्रेषुपसरन् मलयाचलमिममुपगच्छन्, लज्जितं मन्दं यथा  
तथा आधृतैः प्रवाल्लाङ्कुरैः गोभिनः । इत्यादीति । इत्यादि  
दक्षिणाद्रेषित्यादिपदं, ग्राम्त्वमाहात्म्यदर्शनालसचेतसाम्, ग्रा-  
म्त्वमेनानुशामनग्राम्त्वरहस्यमनालोचयताम्, अपभाषणवदप-  
श्चवत्, न च सामाग्रमुच्छति वस्तुतः शिष्टेष्वात् साएवं न  
त्यजति, अयमर्थः कर्मणि दितीयेत्यनुशामनादुपमरणक्रिया  
कर्मनया दक्षिणाद्रिश्चदस्य दितीयानता युज्यते किञ्चु तद-  
भावेऽपि नेदं दुष्टं शिष्टानां सर्वत्र सम्बन्धवद्यन्ताया अदुष्ट-  
वाभ्युपगमान्, तथा चोक्तं, कर्मादिविषयेऽप्यविविते कर्मादौ  
सम्बन्धविवक्षायां षष्ठीति ॥ १५० ॥ १५१ ॥

स्नोकेषु नियतस्थानं पदच्छेदं यतिं विदुः ।  
तदपेतं यतिभ्रष्टं अवणोद्देजनं, यथा ॥ १५२ ॥

अथ यतिनिरूपणपूर्वकं यतिभ्रष्टं लक्षयति । स्नोकेष्विति ।  
स्नोकेषु नियतं कृन्दःशास्त्रैर्नियमितं स्थानं यस्य तादृशं पदस्य  
सुवन्नस्य तिङ्गलस्य वा क्षेदं विरामं यतिं विदुः जिङ्गेष्टवि-  
आमस्यानत्वेन यत्र कृन्दःशास्त्रैः पदस्माप्तिरूपदिष्टा तां यतिं  
जानन्ति पदान्ते जिङ्गाया विश्रामो यतिरिति निष्कृष्टार्थः ।  
उक्तम् ‘यतिर्जिङ्गेष्टविआमस्यानं कविभिरुच्यते इति । तद-  
पेतं तादृशयतिशृग्म्यं वचनं यतिभ्रष्टं, यत्र पदमध्ये जिङ्गा  
विश्राम्यति तद्यतिभ्रष्टतात्यदोषवदित्यर्थः, दोषते हेतुः यतः  
अवणस्नोद्देजनं दुःखदं अवणोद्देजकलादस्यात्यन्तपरिहार्यत्व-  
मित्यर्थः । स्नोकेष्वित्यनेन गद्येषु यतिनादरणीयेति सूचितम् ॥  
॥ १५२ ॥

स्त्रोणां सङ्गीतविधिमयमादित्यवंश्योनरेन्द्रः  
पग्यत्यक्षिष्टरसमित्तं शिष्टैरमेत्यादि दुष्टम् ।  
कार्याकार्याण्ययमविकलान्यागमेनैव पश्यन्  
वग्यामुव्वीं वहनि वृप इत्यस्ति चैवं प्रयोगः ॥ १५३ ॥

स्त्रोणामिति । आदित्यवंश्योदयं कस्त्रिकरेन्द्रः शिष्टैः सामा-  
जिकैरमा एह अक्षिष्टाः पुष्कला रसा यत्र तादृशं स्त्रोणां  
सङ्गीतविधिं सङ्गीतसमित्तं विधानं नाम्यमित्यर्थः, इह पश्यतो-  
त्यत्ययः । इत्यादि दृष्टमिति सप्तदशात्तरं मन्दाकान्नावृत्त-

मिदम् अच प्रथमं चतुर्थं ततः षष्ठे ततस्य सप्तमे चतुर्विंश्चा  
यदकं ‘मन्दाकाम्नामुधिरसनगैर्णा भजौ तौ गयुम्मिति,  
प्रकृते तु चतुर्थादिवर्णानां पदमध्यपातित्वाच्चितिभ्रष्टवम् । अस्य  
क्षिददोषलभयाह कार्याकार्याणीति अविकलानि सकला-  
नि, आगमेन नीतिशास्त्रादिगा, वस्त्रामायनां, वंशामिति  
पाठे कुलपरम्परागताम् । इत्यक्षित्वैव प्रयोग इति एवं प्रया-  
गो न यतिभ्रष्ट इत्यर्थः ॥ १५३ ॥

लुप्ते पदान्ते शिष्टस्य पदत्वं निश्चितं यथा ।  
तथा सम्भिविकारान्तं पदमेवेति वर्णते ॥ १५४ ॥

ननु स्त्रीणां सङ्कृतविधीत्यादौ यतिभंशः कार्याकार्या-  
च्छयमित्यादौ तदभावः कथमेतत् उभयत्रापि पदमध्य एव  
विश्रामादित्याशङ्क्ष महृष्टान्तमुपपादयति । लुप्ते इति । पदस्य  
सुवल्लस्य तिड्जनस्य वा अन्ते अन्तवर्ते लुप्ते मति यथा विष्ट-  
स्त्रावश्चित्प्रभागस्य पदत्वं निश्चितं वारि पच इत्यादौ । बनक्षि-  
स्त्रापे जातेऽवश्चित्प्रभागस्य यथा पदत्वं निर्विवादं मर्वे-  
रयङ्गोऽतमित्यर्थः । अच पदान्ते इत्येकलमविवितं राजे-  
त्यादौ इत्योरपि सोऽप्यवश्चित्प्रभागस्य पदत्वान-  
पायात् । तथा सम्भिविकारान्तं मन्त्रः स्वरदयमन्त्रानं तत्त्वातो  
विकारो दीर्घयस्त्रादेशः तादृशविकारयुक्तव्याप्त्वनमित्यर्थः सा-  
इन्द्र यस्य तत् पदमेव पदमध्यमपि पदान्तं एवति वर्णते छन्दो-  
ङ्गे रङ्गोऽक्षयत इत्यन्यथः पदमध्येऽपि तस्मान् निवेश्विता यति-

न दोषायेत्यर्थः, एतदेवेकं इन्द्रोगेविन्दे गङ्गादासेन 'कचि-  
च्छन्दस्यास्ते यतिरभिहिता पूर्वहतिभिः पदान्ते सा श्रोभाँ  
श्रयति पदमध्ये त्यजति च । पुनस्त्रैवामौ स्वरविहितसन्धिः  
श्रयति तां यथा 'कृष्णः पुण्णात्तुलमहिमा मां करुणया' इति ।  
प्रकृते च कार्याकार्याण्ययमित्यादौ श्लेषादिस्वरसन्धिकृत-  
यकारादिविकारवद्वर्णान्ते र्या इत्यादौ पदमध्येऽपि यतिर्न  
दोषाय, एतदिपरीते स्त्रौणां सङ्गीतेत्यादौ तु दोषायैवेति  
दाषादोषयोर्विषयविभागः ॥ १५४ ॥

तथापि कटु कर्णानां कवयो न प्रयुज्जते ।

ध्वजिनी तस्य राज्ञः केत्रदस्तजलदेवदः ॥ १५५ ॥

स्वरसन्धिकृतप्रतिप्रसवस्यायसार्थचिक्लं दर्शयति । तथा-  
पीति । तथापि स्वरसन्धिना पदमध्यस्य पदान्तताभ्युपगमेऽपि ।  
ध्वजिनी मेना, केतवोध्वजवंशास्त्रैदस्ता अत्युच्चतादत्सिस्ता  
जलदा मेघा यया सा । इत्यादौ ध्वजिनीत्यादिकं यतः कर्णा-  
नां कटु दःखदम् अतः कवयः प्रतिप्रसुतमपि न प्रयुज्जते  
कटुकर्णं तदिति पाठे कटवः सपीडाः कर्णां यत्र तदिति  
बज्ज्वोहिः, अत्र केत्रदस्तेत्यत्र तु इति स्वरसन्धिकार्यदोर्ध-  
युकं तदन्तमपि के इत्येतद्यतिस्थानतया श्रोतृणां कर्णा-  
हन्तदं भवति, इत्यस्त्र यत्यपि स्वरसन्धौ पादान्ते पदमध्य-  
यतिर्दोषाय पादमध्येतु न तथा प्रकृते के इत्यस्य पादान्तत्व-  
मिति बोधम् ॥ १५५ ॥

वर्षानां न्यूनताधिके गुरुस्त्रयथास्थितिः ।  
तत्र तद्विज्ञवृत्तं स्थादेष दोषः सुनिन्दितः ॥ १५६ ॥

भिन्नहृत्तं स्त्रयति । वर्षानामिति । अत्र यत्तेवाधारायम्  
उत्तरवाक्ये तत्रेत्युक्तेः, वर्षानामिति वज्जवचनमविवक्तिं, यत्र पद्ये  
एकस्य दयोस्त्रिप्रभूतीनाम्बा वर्षानां न्यूनता आधिक्यम्बा,  
यदा वर्षानामिति निर्द्वारणे पठी उत्तरघटकवर्षानां मध्ये कस्य-  
चित्त्वृन्त्वमधिकत्वम्बा, तथा यत्र गुरुस्त्रयथास्थितिः गुरु-  
स्त्रयाव्यावर्षस्यायथास्यानं सन्निवेशः तत्र पद्ये तद्विज्ञं भग्नं  
हृत्तं कन्द इति उत्तरभङ्गाख्यादोषः यदा तदाक्यं भिन्नं हृत्तं  
यत्तेति ‘उत्तरभङ्गाख्यादोषवत् स्थादित्यत्ययः, एष भिन्नहृत्त-  
त्वाख्यः, सुनिन्दित इति काच्यकर्त्तस्कन्दोऽनभिज्ञत्वंनोपहमनी-  
यत्वस्यापनादिति भावः । इत्वत्तत्वमंडयान्येहको स्त्रयणा-  
नुभरणेऽप्यश्वयत्वरूपः प्रकृतरसाननुगुणत्वरूपय दोषेणा-  
त्यन्तनिन्दित इत्युपेचितः । यथा ‘हन्तसततमेतस्या इदयं  
भिन्ने मनोभवः कृपितः, अत्र भगणसगणी कन्दास्त्रणकाङ्गि-  
रुनिषिद्धनैरन्तर्यन्तिवेशावपि तथा निवेशमानौ किञ्चि-  
क्षुतिदुःखमावहतः, एवं ‘सकृदपि पुनर्मध्यस्यः सन् रसा-  
न्तरविज्ञनो वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्थात् प्रियारदनस्क-  
दात् । अत्रान्यत् स्वादु स्थादिति श्रुतिकटु । अथ मयि मा-  
निनि माकुरु मानं, उत्तरमिदं हास्यरमस्त्रिवानुकृतमिति प्रकृता  
ननुगुणम् ॥ १५६ ॥

इन्दुपादाः शिशिराः सुशन्तीत्यूनवर्ष्णना ।  
सर्वकारस्य किसलयान्याद्राणोत्यधिकात्तरम् ॥ १५७ ॥

कमेणोदाहरति । इन्दुपादा इति । अत्र प्रथमपादे पा-  
दारभ्युप्राक् इन्दुपादा इत्यनन्तरमा वर्ष एकोन्यूनः, वृतो-  
यपादे च नवात्तरत्वादेकोवर्षोऽधिकः ॥ १५७ ॥

कामेन वाणा निश्चिता विमुक्ता  
सृगेत्तणास्तित्यथागुरुत्वम् ।  
स्मरस्य वाणा निश्चिताः पतन्ति  
वामेषणास्तित्यथालघुत्वम् ॥ १५८ ॥

कामेनेति । अत्र पूर्वार्द्धे सृगेत्तणास्तित्यादिश्वणादपेक्ष-  
वज्ञाख्येऽस्मिन् वृत्ते ‘उपेक्षवज्ञा जतजास्तोगावितिलक्षणा-  
ज्जगणस्य प्रथमं निवेशनोयतया कामेनेत्यादि प्रथमपादे का-  
इति गुरुवर्षोऽयथास्वानं निवेशितः । एवमुक्तरार्द्धे वामेत्तणा-  
स्तित्यादिश्वणादिन्द्रवज्ञाख्येऽस्मिन् वृत्ते ‘स्यादिश्ववज्ञा ततजा-  
स्तोगाविति लक्षणात्तगणस्य प्रथमं निवेशनोयतया स्मरस्ये-  
त्यादिपादे स्तेतिलघुवर्षोऽयथानिवेशितः । अत्र हितोयादि-  
पादचयस्य लक्षणादिलेन गुरुवादिलेन वा साम्यमभिप्रेत्य दू-  
षणद्वयप्रदर्शनमिदम् अन्यथा अथाश्रुते अयथागुहत्वोदाह-  
रणेऽयथालघुत्वमयथालघुत्वोदाहरणे चायथागुरुत्वमपि वक्त-  
शक्येत पाददयादौ इयोरपि गुरुत्वज्ञोः सत्त्वादिति ष्ठेयम्,

स्मरस्येत्वच स्मरेणेति पाठे निश्चिता इति किंवापेक्षया कर्त्तव्यम् ।  
 दूषणदयस्तेदम् इन्द्रवज्ञोपेन्द्रवज्ञयोः संभिश्चेनोपजात्याख्यं  
 कृन्दोऽन्तरं ये न मन्यन्ते तेषां मत एव ज्ञेयम्, उपजात्यभ्युपगमे  
 तु नैतत्, वस्तुतस्तु युज्यते एव तदभ्युपगमः ‘अस्युन्नरस्या  
 दिशि देवतात्मा हिमालयोनाम नगधिराज इत्यादिमहाकवि-  
 प्रयोगाणामुपजातिवृत्तवतां भृतिशोदर्शनात्, तस्मात् काम-  
 नेत्यत्र स्मभुवा इति स्मरस्येत्वच च मदनेति पाठोऽनात्यः तत्र  
 पूर्वच द्वितीयस्थ गुह्यमुन्नरच द्वितीयस्थ लघुलमयथाप्रयुक्त-  
 मिति दूषणसम्भवः, किञ्चाप्राप्नुगुह्यभावान्तलघुलमयथान्तलघुलं  
 बोध्यं यथा ‘विकसितमहकारभारहारिपरिमल एष समाग-  
 नेता वसन्त’ इत्यादौ भारहारीत्यत्र रि इत्यस्थ लघाः प्रथमपा-  
 दान्तलाहुरुत्वाभाव इति वृत्तभेदः, यन्तु पादान्तलघार्गुह्यभाव  
 उक्तस्तत् सर्वच द्वितीयस्थतुर्थपादविषये प्रथमवृत्तीयपाद-  
 विषयन्तु इन्द्रवज्ञावसन्ततिस्तकादाववेति ज्ञेयम् ॥ १५८ ॥

न संहितां विवक्तामोत्यसन्धानं पदेषु यत् ।

तद्विसन्धीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिष्टेतुकम् ॥ १५९ ॥

विसन्धिकं लक्ष्यति । नेति । संहितां वर्तयोः सन्धिं न  
 विवक्तामि सत्यायनुग्रामनं न प्रयोक्तुमिच्छामि इतीच्छया पदेषु  
 पदघटकवर्णेषु यदसन्धानं नास्ति सन्धानं तस्मत्सूचेककार्येण  
 परस्यरसंयोजनं यत्र वाक्ये तदाक्यं विसन्धीति निर्दिष्टं विस-  
 न्धिलाख्यदोषवत् कथितमित्यन्वयः, एवम् विगतः सन्धिर्यचेति

बङ्गव्रीहिणा विस्मीति पहं वाक्यविशेषणमन्यथा क्लीवला-  
नुपपत्तेरिति ज्ञेयम्, न विवक्षामीति एतेज सभिष्ठु पुहषे-  
च्छयेति सेवान्यत्र विभाषित इत्यादिकमन्यैरुक्तं प्रत्युक्तम्।  
इच्छाकृतस्यैव सभिष्ठविशेषस्य दोषतं स्पृष्टयति न प्रगङ्घादि-  
हेतुकमिति अनुशासनबलेनैव यत्र सभिष्ठनिषिद्धिते तत्प्रगङ्घादम्  
आदिना अनुकरणादिपरियहः, प्रगङ्घादिजन्यः सभिष्ठविशे-  
षस्तु न दोष इत्यर्थं, अयस्त्र दोषाभावः सङ्कलयोगे, असङ्कलय-  
योगे तु अवणादेजकलादोष एव यथा ‘इक्षिते उत्पत्ते एते  
अच्छिणी अच्छनाद्विते इत्यादि। विस्मिपदेन चान्यैरुक्तं सन्ध्या  
कृत्वमस्त्रोललवस्त्र नात्यन्तदूषकमित्युपेत्तिं यथा ‘उर्व्वमावत्र  
तर्बास्त्रो मर्वन्ते चार्ब्बवस्थितिः। नाचर्जु युज्यते गन्तु शिरोनमय  
तन्मनाक्’। अत्र सन्ध्या कृष्टत्वं। ‘वेगादुड्योय गगने चलण्डामर-  
च्छितः। अथमुप्यतते पत्ती तदत्रैव रुचिङ्कुह’ अत्र स्त्रेति  
जुगुप्सावच्छकमस्त्रोलं, चिङ्कु इति ब्रोडावच्छकम्॥ १५८ ॥

मन्दानिलेन चलता अङ्गनागण्डमण्डले ।

लुप्तमुर्होद घर्षाम्भो नभस्यस्तदप्यपि ॥ १६० ॥

विवक्षाकृतं सभिष्ठविशेषमुदाहरति। मन्दानिलेनेति। न-  
भस्याकाशे चलता मन्दानिलेन अङ्गनाया गण्डमण्डले उद्गेदि  
उद्धिन्नं घर्षम्भासुन्त तथा अस्त्रदप्यप्युद्गेदि घर्षाम्भो लुप्तमि-  
त्यन्यथः। अस्त्रदप्यप्यपीत्यत्र अस्त्रदप्यपीति पाठो न सम्बक्।  
अत्र वृत्तभङ्गभयमाचेण प्रथमपादान्तस्याकारस्य दितीयपा-  
दादिस्थेनाकारेण सह सभिष्ठकार्यदोघीभिवा न कृतः ॥ १६० ॥

मानेष्य इत्त शोर्येते स्वीणां हिमस्तौ प्रिये ।  
आसु रात्रिष्विति प्राज्ञैरास्तातं व्यस्तमोदशम् ॥ १६१ ॥

प्रगृह्णादिहेतुक्त्वेन प्रतिप्रसृतं सन्धिविशेषं दर्शयति ।  
मानेष्य इति । मानः प्रणयकोपः ईर्षा नायकापराधलतकोपः  
तयोर्द्वयः शोर्येते शोर्ये भवतः हिमस्तोरत्यन्तोदीपकला-  
दिति भावः, प्रिये प्रियं प्रिति, आसु उपस्थितासु । इतोद्वयं  
व्यस्तं सन्धिविशेषः प्राज्ञैरनुशासनक्रियास्तात्मुक्तं, तथाहि  
मानेष्य इत्येतत्र एकारस्य दिवचनमिद्वतात् ‘दिवचनमिद्वा-  
नामीदृदेतामिति’ स्तुतेण सन्धिकार्यायादेशः प्रतिषिद्धः, तथा  
हिमस्तावित्यत्र च क्षद्भतोरको ऋख्येत्यनेन स्तुतारस्य  
गुणोनिषिद्धः । मानेष्य ईदृशो स्वीणां नास्तामिति कर्चित्पाठः  
कर्चित्प आसु रात्रिष्वित्यत्र अमू आदिष्विति पाठः तत्र अमू  
आदिष्वित्यत्र दिवचनमिद्वानामित्यादिना ‘अदमोमादिन’  
इत्यनेन च सन्धिर्निषिद्धः ॥ १६२ ॥

टेशोऽद्विवनराद्वादिः कालोरात्रिन्दिवर्त्तवः ।  
नृत्यगीतप्रमृततयः कला कामार्थसंश्रयाः ॥ १६३ ॥  
चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता ।  
हेतुविद्यात्मकान्यायः समृतिः शुनिरागमः ॥ १६४ ॥  
तेषु तेष्वयथाहृष्टं यदि किञ्चित् प्रवर्तते ।  
कवेः प्रमादादेशादिविरोधोत्येतदुच्छने ॥ १६५ ॥

अथ देशादिनिरूपणपूर्वकं तद्विरोधं लक्ष्यति । देश  
इति । अद्विवनराद्वादिर्देशः अदिना समुद्रादिपरियहः ।  
रात्रिन्दिवर्त्तवः कालः बज्जवचनान्मासादिपरियहः, कामार्थ-  
संश्रयाः कामेनार्थलिप्यावा क्रियमाणाः कामार्थरूपपुरु-  
षार्थद्वयजनका इत्यर्थः नृत्यगोतप्रभृतयस्तुःषष्ठिसञ्ज्ञकाः  
कला, ते च शैवतन्त्रोक्ताः यथा 'नृत्यं, गोतं, वाचं, नायम्,  
आलेखां, विशेषकच्छेदं, तण्टुलकुम्भमवलिपिकाराः, पुष्पास्त्र-  
रणं, दशनवसनाङ्गरागाः, मणिभृमिकाकर्म, शयनरचनम्,  
उदकवाद्यम्, उदकघातः, चित्रायोगाः, माल्ययथनविकल्पाः,  
शेखरापीडयोजनं, नेपथ्ययोगाः, कर्णपत्रभङ्गाः, गन्धयुक्तिः,  
भृषणयोजनम्, ऐन्द्रजालं, कौचुमारयोगाः, हस्तलाघवं,  
चित्रशाकपूपभक्त्यविकारक्रिया, पानकरसरागासवयोजनं,  
सुचीवापकर्माणि, सूत्रकोडा, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वच-  
कयोगाः, पुस्तकवाचनं, नाटिकाख्यायिकादर्थनं, काव्यसमस्या-  
पूरणं, पट्टिकाविवाणविकल्पाः, तर्कुकर्माणि, तत्त्वणम्, वास्तु-  
विद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागज्ञानम्, आक-  
रज्ञानं, दृच्छायुर्वेदयोगाः, मेषकुकुटसावकयुद्धविधिः, शुक-  
मारिकाप्रस्तापनम्, उत्सादनम्, किशमार्जनकौशलम्, अचर-  
मुष्टिकाकथनं, चेच्छितकविकल्पाः, देशभाषाज्ञानं, पुष्पशक-  
टिकानिमित्तज्ञानं, अन्वमालका, धारणमालका, सम्पाद्यं,  
मानसी काव्यक्रिया, क्रियाविकल्पाः, छलितकयोगाः, अभिधा-  
नकोषच्छन्दोज्ञानं, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषः, आकर्षकोडा,

वास्तकक्रीडनकानि, वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानं, वैजयिको-  
नां विद्यानां ज्ञानं, वैताजिकीनां विद्यानां ज्ञानस्तेति ॥  
॥ १६२ ॥

चराचराणां जङ्गमस्थावराणां भूतानां प्रवृत्तिर्वर्त्तान्तो  
स्तोकसंज्ञिता स्तोकपदवाच्या । हेतुविद्या हेतुर्युक्तिः विद्यन्य-  
नया विद्या युक्तिसूलकशास्त्रमित्यर्थः दर्शनशास्त्रमिति यावत्  
तत्र प्रायशोद्युक्तुपन्नासेनैव मिद्धान्तस्थिरोकरणात्, दर्शनानि च  
तर्कादीनि सौगतादीनि च तदात्मकस्तद्रूपेन्नायः । स्मृतयाम-  
न्वादिप्रणीतधर्मसंहितास्तस्तुहिता श्रुतिर्वेद आगमः ॥ १६३ ॥

तेषु तेषु देशादिषु अयथारुद्धमप्रभिद्धं कीकटेषु कुक्कुमो-  
त्यन्तिः कम्भीरेषु गुवाकनारिलकेवलमित्येवंरूपं किञ्चित् किमपि  
अदि कवेर्वर्तयितुः प्रमादादनवधानात् प्रवर्तते वर्तितं भवति  
तदा एतत् एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यं देशादिविरोधीयुच्यते  
इत्यच्यः, अनेन चान्वैरक्तयोः स्यात्विहृद्वताविद्याविहृदतयो-  
र्द्योरपि संयहः, तत्र देशकालस्तोकविरोधः स्यात् विहृता,  
कलान्यायागमविरोधस्तु विद्याविहृता, सस्ततिश्रुतिरागम  
इत्यत्र च श्रुतिपदं कामशास्त्रक्षिणिशास्त्रगजतुरगखद्वादिलक्षण-  
शास्त्रादीनामुपस्थितकं तेन ‘अधरे करजचतं स्तुगास्त्वा’ इत्यादौ  
अधरे करजचतवर्तनं कामशास्त्रविहृद्वमित्यागमविरोध एव  
एवं ज्ञास्त्वामरविरोधेऽप्युक्तेयः ॥ १६४ ॥

कर्पूरपादपामर्शसुरभिर्मलयानिनः ।

कर्णिङ्गवनसमृता स्तुगप्राया मतङ्गजाः ॥ १६५ ॥

देशादिविरोधानुदेशकमेणोदाहरति । कर्पुरेति । मलया-  
निस्तो मलयपर्वतस्यो वातः, कर्पुरपादपामर्गसुरभिरिति  
कर्पुरपादपा हि चीनादिदेश एव जायन्ते न तु मलयाद्राविति  
तत्र तदल्लनं विरुद्धमित्यत्रादिरुपदेशविरोधः । कलिङ्गेति  
मृगप्रायाः अतिनुद्राः, मतझजा हि कलिङ्गवनेषु न सम्भव-  
न्तीति वनरुपदेशविरोधः ॥ १६५ ॥

चोलाः कालागृहग्न्यामकावेरीतीरभूमयः ।

इति देशविरोधिन्या वाचः प्रस्थानमोटशम् ॥ १६६ ॥

राघ्रुपदेशविरोधमुदाहरति । चोला इति । चोलाः  
कर्षाटान्तर्गतदेशविशेषाः संप्रति ताञ्चोरेतिनान्ता व्यपदि-  
श्यन्ते तत्र चेका केवेरोनद्याः शाखा वर्तते तत्तीरभूमिषु  
कालागृहद्रुमा न जायन्ते इति राघ्रुपदेशविरोधः । अत्र पुस्त-  
कान्तरे ‘चोलाः कालागृहग्न्यामाः केरलाः कुङ्कमारुणाः । न  
मेरुवनमंच्छस्याः कावेरीतीरभूमयः’ इति पाटान्तरं दृश्यते, तत्र  
कावेरीतीरभूमिष्यदेन कर्षाटराघ्रुपलक्ष्यते तच्चैव कावेर्याः  
प्रादुर्भावात् ॥ १६६ ॥

पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यक्षिका कुमुदतो ।

मधुरुत्पुङ्गनिचुले । निदाघो मेघदुर्दिनः ॥ १६७ ॥

अव्यद्वंसगिरो वर्षाः शरदो मत्तवहिणाः ।

चेमन्तो निर्मलादित्यः शिशिरः स्नाध्यचन्दनः ॥ १६८ ॥

कालविरोधमुदाहरति । पश्चिमीति । दिवम् एव पश्चिमो  
उपिद्रा भवति नतु नक्षमिति रात्रिष्ठपकालविरोधः, क्लमु-  
दतो रात्रावेत् स्फुटति नतु दिवेति दिवारुपकालविरोधः ।  
मधुरुतफुलनिचुलदत्यादिवाक्यानि चतुरुषपकालविरोधस्यादा-  
हरणानि । मधुर्मन्तः, निचुला इच्छलवृक्षाः तेषामुत्फु-  
लता प्रात्रव्येत् भवति, निदाधो मेघदर्दिन, इत्यनेत् कठा-  
चिक्रिदाघादौ मेघदर्दिनत्वमभवेऽपि चतुरिंष्ठप्रतिनियत-  
वस्तुन् चत्वन्तरे वर्णनं दोष एवेति सृचितं, वस्तुतस्तु सृच्छक-  
टिकादावाकालिकदर्दिनस्यापि वर्णनात् निदाधो हिमजाय-  
हृदित्येवात् पाटो ज्ञयः निदाधे हिमजायस्यात्यनामभवात्,  
अव्येति इमगिरां अथवं हि शरत्स्वेत् नतु वर्धाम्बिति वि-  
रोधः, शरद् इति वर्दिणां मन्तता हि वर्षास्वेत् नतु शरद्यु,  
हेमन्त इति निर्मलो हिमावरणापगमेन सुप्रकाश आदित्या  
यत्र सः हिमन्ते आदित्यमण्डलस्य हिमावरणपृथ्वीता निर्द्गुडा,  
शिशिर इति आघ्रमभ्यर्थनोयं चन्दनं चन्दनद्रवेत् वत्र सः  
निदाध एव शैत्यार्थं चन्दनद्रवस्यादर इति शिशिरे तदर्लक्षं  
विहद्गुम्, इत्यस्तुष्टकविरोधा दर्शिताः ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

इति कालविरोधस्य दर्शिता गतिरीढशी ।

मार्गः कलाविरोधस्य मनागुहिश्चते यथा ॥ १६९ ॥

कालविरोधमुपमंहरन् कलाविरोधमुदाहर्त्तुमाह । इतो-  
ति । गतिः प्रकारः, ईदृशोति एवंरुपा अन्यऽपि कालविरोधा

ज्ञातव्या इत्यर्थः । कलाविरोधस्य मार्गः प्रकारो भनागु-  
हिष्ठते चतुःषष्ठिविधायाः कलाया विरोधस्य कार्त्त्वेन प्रद-  
र्शनं ग्रन्थबाङ्गल्यकरमिति दिग्दर्शनार्थं किञ्चिदेव दर्शनं  
इत्यर्थः ॥ १६८ ॥

वीरगृह्णारयोर्भवौ स्यायिनौ क्रोधविस्मयौ ।  
पूर्णसप्तस्वरः सोऽयं भिन्नमार्गः प्रवर्तते ॥ १७० ॥

कलासु नाय्यस्वेद मन्त्राषातिशयजनकलेनाभ्यर्हितवाच्चद्वि-  
रोधमेव प्रथममुदाहरति । वीरेति । वीरगृह्णारयोर्भविररभ-  
गृह्णाररसयोः, स्यायिनौ रमस्यारस्यावधिपर्यवसानान्तमुद्रिक-  
तयास्त्रादमूललेन स्थिरतया वर्त्तमानवात् स्यायिपदवाच्चातदुकं  
'अविहृदा विहृदा वा' यं तिरोधातुमन्तमाः । आस्त्रादाङ्कुर-  
कन्दोऽसौ भावः स्यायोति सम्भवत् इति रसावस्था परं भावः  
स्यायितां प्रतिपश्यत इति च । क्रोधः 'प्रतिकूलेषु तैत्त्ल्यग्रस्याव-  
बोधः क्रोध इव्यत इत्युक्तलचणः, विस्मयः 'विविधेषु पदार्थेषु  
स्त्रोक्तसीमातिवर्त्तिषु । विस्फारश्चेतमो यस्तु सविस्मय उदाहृत  
इत्युक्तलचणः, एतौ च भावौ रौद्राङ्गुतयोरेव रसयोः स्या-  
यितया नाय्यग्रास्तकारैर्भरतादिभिरुक्तौ नतु वीरगृह्णारयोः  
तद्यस्तु उत्पादो रतिश्च स्यायित्वेनोऽक्तौ तदत्र वीरगृह्णारयो  
र्यंभिचारिष्ठपयोरेव क्रोधविस्मययोः स्यायित्वेन व्यपदेशोविहृदृः,  
रमविवेकस्थ भरतादिभिर्नाय्यग्रास्त एव कृत इति नाय्यरूप-  
कलाविरोधाऽयं, प्रकाशकृतायुक्तम् 'अष्टौ नाय्ये रसाः स्तता

इति । गीतहपकलाया अपि तथात्वात् तदिते धमणुदाहरति । पूर्वति । पूर्णाः साकलेन प्रयुक्ताः सप्त स्वरा निषादर्षभगा-न्धारण्डजमध्यमध्यैवतपञ्चमात्मा यथ सः भिन्नमार्गः भिन्नः तत्त्वात्स्वर्णनिषिद्धस्वरात्मराष्ट्रहीर्लोकाः मार्गस्तत्त्वात्स्वर्णित-स्वरविशेषप्रयोगः सोऽयं प्रवर्त्तते इत्यन्यथः, भिन्नपदस्याम-हीर्लोकार्थश्च 'भिन्नकीष्टत्य षड्जमिति माघस्त्रोकटीकायां भिन्न-कीष्टत्य तत्कालनिषिद्धस्वराष्ट्रहीर्लोके छत्वेति व्याचक्षाणेन मन्त्र-नाथेनापि स्फुटोक्षतः, कालविशेषे स्वरविशेषप्रयोगमिषेधो यथा भरते 'प्रभाते सुरतोनिष्ट्य ऋषभः पञ्चमोऽपि च । जनयेत् प्रधनं च्युता पञ्चत्वं पञ्चमोऽपि च । पञ्चमस्त्रा विशेषाऽयं कथितः पूर्वसुरिभिः । प्रगे प्रगीताजनयेद्भनस्य विपर्ययम्' इत्यादि । प्रकृते चामङ्गोर्मस्वरप्रयोगस्य पूर्वसप्तस्वरत्वं विशद्धम् ॥ १७० ॥

इत्यं कलाचतुःषष्ठिविरोधः साधु नीयताम् ।

तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ॥ १७१ ॥

कलाविरोधमुपमद्वरति । इत्यमन्या दिशा, साधु नीयतां सम्यगुम्भीयताम्, नाश्यगोतस्त्वपयोः कलयोर्विरोधायथा दर्जितः तथापरामामपि कलानां विरोधोऽतात्य इत्यर्थः, ननु कलास्तावचतुःषष्ठिप्रकारास्तामां परिज्ञानं विना तदिते धाः कथं सुज्ञेय इत्यागङ्गाह तस्या इति । तस्याचतुः-षष्ठिविधायाः कलायाः, कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यतीति

अनन्तरं कलापरिच्छेदनामकं प्रबन्धं करिष्यामि तच्चैव कला-  
विवेकोऽग्रात्य इत्यर्थः, एतेन कलापरिच्छेदोऽपि यन्त्यकृता-  
कृत इति प्रतिपद्यते ॥ १७१ ॥

आधूतकेशरोहस्ती, तीरणश्टङ्गस्तुरङ्गमः ।  
गुरुसारोऽयमेरण्डो, निःसारः खदिरद्रुमः ॥ १७२ ॥

लोकविरोधमुदाहरति । आधूतेति । हस्तिनः केशराः, तु-  
रङ्गमस्य च श्टङ्गम्, एरण्डदृच्छस्य गुरुसारत्वं, खदिरद्रुमस्य च  
निःसारत्वममभवतीति लोकविरोधः, स च पूर्वार्द्धं चरभृतदृच्छ-  
विषयः उच्चरार्द्धं तच्चरभृतदृच्छविषयः ॥ १७२ ॥

इति लौकिक एवायं विरोधः सर्वगर्हितः ।  
विरोधो हेतुविद्यासु न्यायाख्यासु निर्दर्श्यते ॥ १७३ ॥

इतीति । लौकिक एवेति न तु दैशिकः कालिकादिको वेत्यर्थः,  
सर्वगर्हित इति देशादिविरोधापेच्छया लोकविहङ्गवर्णनं वर्ण-  
यितुर्नितान्तमनभिज्ञत्वं खापयतीति तत्र सर्वया कविना सा-  
वधानेन भवितव्यमिति भावः । न्यायविरोधमुदाहरन् प्रति-  
जानीते । विरोध इति । यद्यपि हेतुविद्यात्मकोन्याय इत्य-  
नेन न्यायस्य हेतुविद्यात्मकत्वं पूर्वमेव परिभाषितं तथापि  
हेतुविद्यासु न्यायाख्यास्त्रिति पुनर्वचनं न्यायस्य प्रतिज्ञा दि-  
पञ्चावयवात्मकत्वप्रसिद्धा बोद्धृणां तद्वमनिरासार्थम् ॥ १७३ ॥

सत्यमेवाह सुगतः संस्कारानविनश्चान् ।

तथाच्चि सा चक्रोरात्रो म्यतैवाद्यापि मे हृदि ॥१३४॥

तत्र मीगतदर्शनस्तपन्नायविरोधमुदाहरति । सत्यमेवति ।  
 कस्य चिचिरविरहिण उक्तिरियं । सुगतो बुद्धः, संस्कारान्  
 भावमास्यान् तेषामेव प्रकृतोपयोगात्, अविनश्चान् नाश  
 प्रतियोगिताशून्यान्, सा सुचिरमनुभृता, म्यतैवाद्यापि से  
 हृदीति अद्यापि सा मारणधारया विषयोभवतीत्यर्थः सहति  
 प्रति संस्कारस्य जनकत्वात् तस्य चाविनश्चरत्वेन भव्यकालोनि-  
 त्वाद्युक्त्यत एव सहतिधारास्तपकार्यमभवः, अत्र चण्डमङ्ग-  
 वादिनां मीगतानां सते भावमात्रत्वेव चण्डिकत्वात् संस्कार-  
 स्यापि चण्डिकत्वमेव प्रकृते तस्याविनश्चरत्वत्वात् मीगतस्याय-  
 विरहद्भूम् ॥ १३४ ॥

कापिलैरसदुद्भूतिः स्यान एवोपवर्ग्यते ।

असतामेव दृश्यन्ते यस्मादस्माभिरुद्भवाः ॥ १३५ ।

माळ्यदर्शनस्तपन्नायविरोधमुदाहरति । कापिलैरिति । कापि-  
 लैः माळ्यविद्धिः, असदुद्भूतिरसतामनित्यानामयत्र दर्शनाना-  
 मुद्भूतिरूप्यत्तिः स्यान एव युक्ततरमेव उपवर्ग्यते, कुत इत्याह  
 यस्मादस्माभिः संप्रति असतामेव मद्भिन्नानामेव खलानामेवेत्यर्थः  
 उद्भवा दृश्यन्ते, अत्रामच्छब्दस्य लिङ्गतथा वाक्यार्थयोर्हेतुर्हेतु-  
 मद्भावः । सतः मदेव जायते न त्वमदिति कापिला मन्यन्ते तद्-  
 कम् ‘असदकरणादुपादानयस्तात् सर्वमस्तवाभावात् । शक्तस्य

ज्ञानकरणात् कारणभावात् सत्कार्यमिति । तेजाचासदुद्भूति-  
वर्षनं साक्षान्यायविरुद्धम् ॥ १७५ ॥

गतिन्यायविरोधस्य सैषा सर्वच दृश्यते ।  
अथागमविरोधस्य प्रस्थानमुपदिश्यते ॥ १७६ ॥

न्यायविरोधमुपसंहरति । गतिरिति । सैषा सैगत-  
कापिस्त्रोक्तप्रकारा, सर्वच वैशेषिकादिस्वसि, दृश्यत इत्यत्र दर्शि-  
तेति क्वचित्प्याठः, सैषाण्यत्र दृश्यतामिति पाठस्तु सम्बक् ।  
आगमविरोधं दर्शयन्नाह अयेति ॥ १७६ ॥

अनाहिताग्नयोऽप्येते जातपुत्रा वितन्वते ।  
विप्रा वैश्वानरोमिष्टमङ्गिष्ठाचारभूषणाः ॥ १७७ ॥

तत्र श्रुतिविरोधमुदाहरति । अनाहिताग्न्य इति ।  
अनाहिताग्न्योऽक्तान्याधानाः, वैश्वानरोमिति विश्वानरो  
भृतमम्यात्मको विराट् पुरुषः ‘विश्वानरमुपास्ते विद्युदा-  
दित्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्यात्मकैः षड्डिरुपेतमिति श्रुतैः’ तस्म-  
मस्मिन्नीमिष्टिं यागम्, अत्र जातान्याधानादेव श्रुतौ वैश्वा-  
नरयागाधिकारविधानादमाहितान्यादीनां तदर्षनं श्रुति-  
विरुद्धम् ॥ १७७ ॥

असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः ।  
खभावशुद्धः स्फटिको न संस्कारमपेषते ॥ १७८ ॥

श्रुतिविरोधमुदाहरति । असाविति । अनुपनीतोऽपि

अजातोपमयमास्यसंखारोऽपि, अधिजगे अधीतवान्, इष्टा-  
न्मेवेहं इद्यति स्वभावेति, अचानुपनीतस्य वेदाभ्यन्तं  
स्फुतिविवद्धुं, तथाच मनुः 'गाभिष्ठाहारयेद्वाच्च स्वधानिमैयना-  
द्वृते । शूद्रेण हि समस्तावद्यावदेव न जायत' इति ॥ १७८ ॥

विरोधः सकलाऽप्येष कदाचित् कविकौश्लानात् ।

उत्कम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥ १७९ ॥

इदानीं निष्कविरोधाख्यदोषस्य क्वचिद्गुणवमपि भवतानि  
दर्शयन्नाह । विरोध इति । सकलाऽपि दंशाद्यागमान्तरि-  
षयोऽपि, कवेर्वर्षयितुः कौशलं प्रोढात्मा विश्वार्थस्तापि वर्ष-  
नेन वैचित्रप्रतिपादनं वैचित्रस्य क्वचिदनङ्गारविशेषरूपं  
क्वचिद्वज्रविशेषरूपस्य तस्मात्, दोषगणनां दोषपु गण्यवमु-  
क्तस्य परित्यज्य, गुणस्य वीथीं मार्गं गुणत्वमित्यर्थः ॥ १८० ॥

तस्य राज्ञः प्रभावेन तदुद्यानानि जज्ञिरे ।

आर्द्रांशुकप्रबालानामास्यदं सुरग्नाखिनाम् ॥ १८० ॥

तत्र दंशविरोधस्य गुणतं दर्शयति । तस्येति । तस्य कस्य-  
चिद्वृडादिदेशविशेषोयस्य, तदुद्यानानोनि काकाच्चिन्यायना-  
नुषङ्गेण वास्ययो न स्विर इत्यभिमंत्य तत्पदेन राजा परा-  
मृष्टः, तानि प्रसिद्धान्युद्यानानि तदुद्यानानोनि वा, आ-  
र्द्राश्चभिनवान्यंशुकानि वस्त्राण्येव प्रबालानि पश्चवा वेषां  
ते तथा तेषां सुरग्नाखिनां कस्यदृक्षाणाम्, जज्ञिरे इति

उद्देश्यापेक्षया बहुवचनम्, अत्र मर्त्योकाशानेषु स्त्रीय-  
सुरशाखिसम्भवो वर्णित इति देशविरोधः सत्र वर्णनीयस्य  
राज्ञो विभूतिमहत्वरूपेदात्तालङ्घारमाविकरोतोति चम-  
त्कारजननाहुण एव, कविकौशलस्त्राच उदात्तालङ्घतिप्रति-  
पादनम् ॥ १८० ॥

राज्ञो विनाशपिद्धुनश्चार खरमारुतः ।

धुन्वन् कदम्बरजसा सह सप्तच्छदोङ्गमान् ॥ १८१ ॥

कालविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । राज्ञामिति । राज्ञां  
वर्णनीयनृपस्य यातव्यभूपानां, सप्तच्छदोङ्गमान् सप्तपर्णद्वच्चा-  
णामुद्गतपुष्पाणि, अत्र विजिगीषोर्युद्धयाच्चा सप्तच्छदोङ्गमास्त्र  
शरत्काले भवन्ति तत्र च कदम्बपुष्पाणि न जायन्ते तेषां  
वर्षाभवलादिति कालविरोधः, स च ‘अकाले फलपुष्पाणि  
देशविद्वकारणमिति विष्णुधर्मोत्तरात् खरमारुतवदाका-  
लिकपुष्पफलोङ्गमस्यापि सोकविनाशस्त्रचक्कत्वात् प्रतिपचभूपा-  
नामवग्यम्भाविमरणद्योतनेन विजिगीषोर्युक्तर्षातिशयव्यञ्जनाद-  
गुण एव, तादृशव्यञ्जप्रतिपादनस्त्राच कविकौशलम् ॥ १८१ ॥

दोलाभिप्रेरणवस्त्रभूजनमुखोङ्गतम् ।

कामिनां लयवैषपस्यं गेयं रागमवृद्धयत् ॥ १८२ ॥

कलाविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । दोलेति । दोलाद्या अभि-  
प्रेरणं सवेगस्त्रालनं तेन त्रस्ता ये बधूजनास्तेषां मुखेभ्य उद्गतम्

अत एव स्थानं गीतादिसाम्बस्य वैषम्यं वैपरीत्यं अत्र तादृशमपि  
गेयं गानं कामिनां रागमवर्द्धन्वदित्यन्यथः, स्थानुद्धमेव  
गानं शोदृष्टां रागवर्द्धकमिति संगीताम्बास्त्रभित्तिः प्रहृते  
च तदैपरीत्यमिति गीतरूपकलाविरोधः सच बधूजनेषु का-  
मिनामत्यनुरागित्वयच्छनाहुण एव ॥ १८२ ॥

ऐन्द्रवादर्चिषः कामो शिशिरं हव्यवाहनम् ।

अबलाविरहक्षेष्विक्षले । गणयत्ययम् ॥ १८३ ॥

स्लोकविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । ऐन्द्रवादिति । ऐन्द्रवा-  
दिन्दुमम्भिनोऽर्चिषः किरणात्, अर्चिषःशब्दस्य किरणवा-  
चित्वं क्लीवस्य बङ्गषु दृश्यते, अपेक्षते यजन्तगर्भत्वात्  
पञ्चमी, हव्यवाहनं वक्षिमपि शिशिरं शीतसं गलयति यतो-  
ऽवस्थाविरहक्षेष्विक्षलः, अत्र हव्यवाहनोऽपि शिशिर इति  
स्लोकविरोधः सच विरहिषु चन्द्रकिरणस्तात्युद्दीपकत्वयस्त्र-  
नाहुण एव ॥ १८३ ॥

प्रमेयोऽप्यप्रमेयोऽसि मफनोप्यमि निष्फलः ।

एकस्त्वमप्यनेकोऽसि नमस्ते विश्वमूर्तये ॥ १८४ ॥

व्यायविरोधस्य गुणत्वं दर्शयति । प्रमेय इति । प्रमेयः  
प्रमाणजन्यप्रमितिविषयः अप्रमेयस्तद्विभावः, मफलः फलं कार्यं  
तस्मिहितः जगत्कारणमित्यर्थः, निष्फलस्तद्विभावः, एकस्त्व-  
तेऽदितीयः, अनेकः ‘इन्द्रोमायामि’ पुरुहृप ईयते इत्यादि-

अतेः प्रपञ्चात्मकलेन बज्जरूपतया प्रतीयमानः, अच प्रमेयता  
प्रमेयतादीनां सामानाधिकरण्यं केनापि दर्शनकृता नोक्त-  
मिति\* न्यायविरोधः सच प्रहतेऽलङ्घारूपः परमात्मनोऽचि-  
न्यमहिमलं व्यञ्जयन् गुण एव ॥ १८४ ॥

पञ्चानां पाण्डुपत्राणां पत्नी पाञ्चालपुत्रिका ।  
सतीनामयणीश्वासीदैवो हि विधिरोद्गः ॥ १८५ ॥

आगमविरोधस्य गुणलं दर्शयति । पञ्चानामिति । पाञ्चाल-  
पुत्रिका द्रौपदी, अश्यणीः श्रेष्ठा, दैवो देवसम्भवो विधिर्विधा-  
नम् ईदृशः आगमापरतत्त्वः युधिष्ठिरादीनां धर्माद्यंशतया  
द्रौपद्यास्य पृथिव्यधिष्ठात्ररूपतया देवतादिति भावः, अत्रै-  
कस्याः पञ्चपतिलं सत्यपि तस्मिन् साध्वीश्रेष्ठलक्ष्म श्रुत्या मन्वा-  
दिभिर्वा नोक्तमित्यागमविरोधः सच दैवविधानस्य शास्त्रान-  
पेत्तितया वैलक्षण्यं व्यञ्जयन् गुण एव ॥ १८५ ॥

शब्दार्थालङ्घिन्याश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः ।  
गुणा दोषात्मकाव्यानामिह संक्षिप्त दर्शिताः ॥ १८६ ॥

इत्यं प्रतिज्ञातान् गुणादीन् निरूप्य यन्यमिममुपसंहरति ।  
शब्दार्थेति । शब्दार्थालङ्घिन्याः शब्दार्थेभयात्मककाव्यभोभा-  
जनकाः स्वभावाख्यानाद्यलङ्घाराः तेषां दयोरपि शब्दार्थयोः  
क्षक्षित् साच्चात् क्षक्षित् परम्यरया वा श्रीभाजनकत्वात् पूर्वोक्त-  
युक्त्या शब्दार्थास्तादात्म्याभ्युपगमात् । तथा सुकरदुष्कराः

केचित् सकराः केचिदुच्चरास्य चिचमार्गाः शब्दमाचाल-  
ङ्कारा यमकादयः, एषां शब्दमाचस्यैव शोभाजगत्वात् ।  
गुणाः स्नेषादयः, दोषा अपार्थलादयः, चकारात् काव्य-  
लक्षणतद्वेदतमार्गास्य, संचित्य दर्शिता इति मर्वेषां कार्त्तन  
भेदस्यादर्शितत्वादिति भावः । अत्र य एव निरूपितास्त-  
एवोपसंहारवाक्ये दर्शितत्वेनोक्ताः न तु निरूपणकमेण तथा-  
त्वे गुणानां पञ्चादुपादानं न स्यादिति वोध्यम् ॥ १८६ ॥

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन  
मार्गेण दोषगुणयोर्वश्वर्त्तिनोभिः ।  
वाग्भिः कृताभिसरणे मदिरेक्षणाभि  
र्धन्यो युवेव रमने लभने च कीर्त्तिम् ॥ १८७ ॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शं शब्दालङ्कारदोष-  
विभागोनाम तृतीयः परिच्छेदः ।

॥ समाप्तश्वायं यन्मः ॥

ननु संचित्य दर्शिता इत्युक्तं तत्र संचेपेण दर्शनायां कथं  
यन्यप्रयोजनमिद्दिग्दित्याशङ्कोपपादयन् यन्यं समापयति ।  
व्युत्पन्नेति । अमुना निरूपेन विधीयन्ते निरूपन्ते एभिरिति  
विधयोलक्षणादयः तैर्दर्शितेन दोषगुणयोर्विचारेण यथार्थयो-  
मार्गेणावस्थितिप्रकारेण परिज्ञातेनेति शेषः व्युत्पन्ना यन्यप्रयो-  
जनभृतव्युत्पन्निमतो बुद्धिर्यस्य सः, तथा अमुनैव मार्गेण कृता-  
भिसरणः काव्यं कर्त्तुमवगम्तु वा कृताश्वमः कविर्बीड्हा वा

वशवर्ज्जनोभिः पुनः पुनरनुशीलने नायन्ता भिर्वारिभिः काव्य-  
रूपाभीरमते निर्वृतिमान् भवति तथा कीर्त्तिष्व लभते इत्य-  
न्यः एतेन निर्वृतिः कीर्त्तिश्चापि काव्यस्य प्रयोजनमिति  
पर्यावर्तने प्रतिपादितम्, अत्र काकाचिन्यायात् मार्गेण्ट्यस्य  
प्रथमान्तकर्विशेषणदयेनायन्यः, गुणपदञ्चालङ्कारोपलक्षकं  
तेषामपि काव्यशोभाजनकलेनोपादेयधर्मल्लात्। यदा व्युत्प-  
न्वर्दुद्धिर्देशकालादिविषयपरिशीलनेन निपुणमतिः वाभिः  
स्थमेवामुना मार्गेण कृतमभिसरणं यस्य तादृशः सन् कृता-  
स्थदः सन्निव्यर्थः रमते कीर्त्तिष्व लभते इत्यन्यः, अत्रोपमि-  
नोति महिरंचणाभिर्धन्यः पुण्यवान् युवेवेति यथा वशवर्ज्ज-  
नोभिः प्रेमवशीकृताभिर्महिरेचणाभिरवाङ्गणाभिः विधिर्द्विष-  
तेन विधिर्देवं तेन दर्शितेन विद्युत्काशादिना प्रकाशितेन  
दोषो जनपरिज्ञानादिरूपः गुणस्तदभावः तयोर्मार्गेण अनेन  
मार्गेणाभिसरणेऽयं दोषः अनेन तु गुण इति दोषगुणै विविच्य  
स्वानुकूलतया परिगृहीतेन वर्त्मनेत्यर्थः कृतमभिसरणमभि-  
मारो यस्य तादृशो धन्यो युवा रमते वराङ्गणाप्रेमास्पदलको-  
र्त्तिष्व लभते तथेत्यर्थः ॥ १८७ ॥

इति श्रीप्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्यविरचितायां मालिन्य-  
प्रोञ्चनीसमाख्यायां काव्यादर्शटीकायां शब्दालङ्कारदोष-  
विभागोनाम वृत्तीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥



उद्धैसष्टुप्तोपतिविजितमिदं भारतं वर्षमस्मिन्  
 कत्काता राजधानो धनिगुणिविजया वासभूर्भविभूषा ।  
 अस्यामस्यातिकाल्या उमितिरमितधीवैभवैः कास्त्रैर्यत्-  
 प्राच्याश्वर्यप्रमेयोद्दृतिपरमतिभिः सज्जनैः सज्जिताभूत् ॥ १ ॥  
 आदेश एव तस्याः लग्नमतिवचसोऽपि मेऽप्यनयत्  
 आख्यानेऽस्मिन् इक्षिति गर्वति हि स्वघुं परियहो इताम् ॥ २ ॥  
 क वयं मन्दमतयः क च प्राची वचोऽम्बुधिः ।  
 मन्ये विष्णोऽग्नादस्य विषमेव समुत्तितम् ॥ ३ ॥  
 याचे नतः कविवरानवरापि यायाद्  
 दुश्चाकमीक्षणपयं विद्विर्ममेयं ।  
 नाङ्गोऽहं स्वपयद्वृमनङ्गोऽचा  
 संप्रार्थितेन गर्वसं सरस्यात्मना किम् ॥ ४ ॥  
 उत्कर्षे कमपर्वेवं बलविजयिनोऽर्जन्ननोऽर्जुनितश्री  
 वेशो विश्वावतंसोऽवमथिकुलमितश्चामलं प्रादुरामोत्  
 एतम्यान्मध्यराढाविननगुणगणो यामणोः सज्जनानां  
 सम्मूतोरामनारायणधरणिसुरः शकराढानिवासो ॥ ५ ॥  
 तस्यात्मजेन जनदुर्गमकाव्यमांसातत्यसम्भूरणलभ्यमादरेण  
 रोपदिपाश्वश्वभृदिमिते शकाद्वे श्रीप्रेमचक्रकविना विद्वितः  
 लतेयम् ॥ ६ ॥  
 काठिन्यमालिन्यनिवारणेन सुदर्शमादर्घमसौ चकार ।  
 पुरस्त्रैर्यतेऽस्मिन् प्रतिविम्बमास्त्रान् पश्चन्तु भावान् सुधियः सुखेन  
 ॥ ७ ॥





